नागरिक शास्त्र की विवेचना

OR

GROUND WORK OF CIVICS

—:❀:—

लेखक

गोरख नाथ चौबे एम० ए०

आधुनिक भारतीय शासन, नागरिक शास्त्र प्रवेशिका,
भारतीय नारी, आदि ग्रन्थों के रचयिता।

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण] १९४३ [मूल्य ३)

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

प्रथम संस्करण १९४० ई०
द्वितीय संस्करण १९४३ ई०

प्रथम संस्करण की भूमिका

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी है। अब तक हिन्दी पढ़ने वालों के अभाव के कारण लेखकों की रुचि हिन्दी साहित्य की ओर न थी। केवल थोड़े से लोग, जिनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है, हिन्दी में किस्से कहानियाँ लिखा करते थे। शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें अंग्रेज़ी के अतिरिक्त इस भाषा में न तो लिखी और न पढ़ी जाती थीं। आज भी हिन्दी साहित्य में किस्से कहानियाँ पढ़ने वालों की संख्या सबसे अधिक है। अन्य सामाजिक शास्त्रों को लोग इतनी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं कि अच्छी से अच्छी पुस्तकें उन्हें नीरस जान पड़ती हैं। इसका नतीजा यह है कि हिन्दी पढ़ने वालों को अपना बुद्धिभांडार बढ़ाने का अवसर नहीं मिलता। हिन्दी की ऊँची से ऊँची परीक्षायें पास कर लेने पर मैंने लोगों को ए० बी० सी० डी० पढ़ते हुए देखा है। इसलिए नहीं कि उन्हें विदेशी भाषायें सीखने का शौक है, बल्कि वे साफ़ कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में उन ग्रन्थों का अभाव है जिनको देखे बिना आधुनिक युग का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये विवश होकर उन्हें अन्य भाषाओं की शरण लेनी पड़ती है। दरियाफ़्त करने पर मालूम हुआ है कि हिन्दी में शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ इसलिये नहीं लिखे जाते कि पढ़ने वालों की कमी है। लेकिन दूसरी ओर यह आम शिकायत है कि ग्रन्थों की कमी के कारण विचारे हिन्दी पढ़ने वाले तड़फड़ा रहे हैं। इसी खींचातानी में भारतीय साहित्य की उन्नति रुकी हुई है। कुछ लोग कह सकते हैं कि आजकल हिन्दी में बहुत से ग्रन्थ निकल रहे हैं और इसकी उन्नति रुकी नहीं है, लेकिन यदि वे बुरा न मानें तो मैं यही कहूँगा कि उन्हें अन्य भाषाओं की उन्नति का इतिहास मालूम नहीं है।

शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने के कारण लेखक और पाठक दोनों ही उलझन में पड़े हुए थे। लेकिन यह बन्धन किसी हद तक अब टूट रहा है। प्रान्तीय सरकार के शिक्षा विभाग ने मातृ भाषा

की उपयोगिता स्वीकार करते हुये कालेजों तक में हिन्दी भाषा में सभी विषय पढ़ने पढ़ाने की आज्ञा दे दी है। लेकिन पुस्तकों के अभाव के कारण विद्यार्थियों को अंग्रेजी छोड़ने में भय मालूम पड़ता है। अध्यापक उन्हें अंग्रेजी ग्रन्थों का ही हवाला देते हैं। हिन्दी भाषा में उन विषयों पर जो थोड़ी बहुत पुस्तकें हैं, उनके अन्दर वे सार मौजूद नहीं हैं जिनकी आवश्यकता एक साधारण विद्यार्थी को भी है। यही वजह है कि अध्यापक वा विद्यार्थी दोनों को उन ग्रन्थों का नाम तक मालूम नहीं है।

गत वर्ष मुझे एफ० ए० क्लास को नागरिक शास्त्र पढ़ाने का अवसर मिला। अधिकतर विद्यार्थी हिन्दी में इस विषय को पढ़ना चाहते थे। लेकिन पढ़ाने के पहले उन्हें कुछ ग्रन्थ बतलाना आवश्यक था। जब पुस्तकों की तलाश की तो पता चला कि हिन्दी में नागरिक शास्त्र के ऊपर एक भी उपयुक्त और प्रामाणिक (Standard) ग्रन्थ नहीं है। विबश होकर मुझे अंग्रेजी में ही इस विषय को पढ़ाना पड़ा। उसी समय मेरे दिल में इस बात की तड़प पैदा हुई कि नागरिक शास्त्र के ऊपर एक ऐसा ग्रन्थ लिखना चाहिये जो एफ० ए० के विद्यार्थियों की आवश्यकता को अच्छी तरह पूरा कर दे। हिन्दू महिला विद्यालय इन्टर कालेज के व्यवस्थापक श्री बाबू भगवती प्रसाद जी ने मुझे इस कार्य के लिये और भी उत्साहित किया। इन्हीं की प्रेरणा से एफ० ए० की विवरण पत्रिका मँगवाकर पाठ्यक्रम के अनुसार इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ किया। आदि से अन्त तक इस बात का ध्यान रक्खा कि यह ग्रन्थ हिन्दी में ऐसा होना चाहिये जो अंग्रेजी के किसी भी ग्रन्थ से कम न हो। मुझे इस उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय नागरिक शास्त्र के अध्यापक और विद्यार्थी ही कर सकते हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है। कोई शब्द ऐसा नहीं आने पाया है जिसके लिये कोष या लोगात उठाने की जरूरत हो। भारतवर्ष की हिन्दी पढ़ी लिखी आम जनता जिस भाषा का प्रयोग अपने दैनिक जीवन में करती है उसी भाषा में यह ग्रन्थ लिखा गया है।

पुस्तक लिखने में मेरे प्रोफेसर डाक्टर बेनी प्रसाद जी और

डाक्टर ताराचन्द जी के विचारों से मुझे काफ़ी सहायता मिली है। इनकी पुस्तकों से जो सहायता मैंने ली है इसके लिये हृदय से मैं इनका आभारी हूँ। प्रोफेसर इलियास अहमद के "राजनीति के प्रारम्भिक सिद्धान्त" (First principles of politics) नामक ग्रन्थ से मुझे इतनी सहायता मिली है कि उसके बिना ग्रन्थ का इतनी जल्दी समाप्त होना असम्भव था। इनके अलावे मैंने उन ग्रन्थों से भी मदद ली है जो राजनीति शास्त्र पर प्रमाण समझे जाते हैं। पुस्तक के अन्त में उन ग्रन्थों की एक सूची दे दी गई है जिनसे मुझे इस ग्रन्थ के लिखने में सहायता मिली है। प्रूफ़ देखने में श्री कृष्ण जी द्विवेदी, राम चन्द्र जी मिश्र, विद्यासागर जी 'साहित्य रत्न तथा आचार्य श्रीपति जी शास्त्री से मुझे काफ़ी सहायता मिली है। मैं हृदय से इनका ऋणी हूँ। कुछ अन्य मित्रों ने भी समय समय पर सलाहें देकर पुस्तक के लिखने में मदद पहुँचाई है। उनके इस कष्ट के लिये मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। साथ ही श्री बाबू बेनी प्रसाद जी अग्रवाल के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना मैं इसलिये नहीं रह सकता कि उन्हीं की प्रेरणा से यह ग्रन्थ इतनी सफाई और सुन्दरता के साथ प्रकाशित किया गया है।

विद्यार्थियों के हित का ध्यान रखते हुये पुस्तक के अन्त में उन तमाम प्रश्नों की एक सूची दे दी गई है जो नागरिक शास्त्र पर शुरू से अब तक यू० पी० इन्टरमीजियेटबोर्ड में पूछे गये हैं। जो ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के एक विशेष अंग की पूर्ति के लिये लिखा गया है, और जिसके लिये मैं अनेक लेखकों का ऋणी हूँ उससे यदि पाठकों की ज्ञान पिपासा थोड़ी भी तृप्त हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

प्रयाग
मई १६४० ई०

गोरख नाथ चौबे

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'नागरिक शास्त्र की विवेचना' का दूसरा संस्करण पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है। जिस उद्देश्य से पुस्तक लिखी गई थी, और पाठक गण से मुझे जो जो आशायें थीं, उनकी पूर्ति से मुझे सन्तोष है। राष्ट्र भाषा द्वारा राजनैतिक साहित्य से हिन्दी-भाषा-भाषियों का कितना कल्याण हुआ है इसका अनुमान हमें वर्तमान राष्ट्रीय जागृति से हो सकता है। नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि नागरिकता का स्रोत राष्ट्रभाषा से आरम्भ होता है।

इस दूसरे संस्करण की कुछ विशेषताएँ हैं। पहले संस्करण को ही ज्यों का त्यों मुद्रित नहीं किया गया है। भाषा को धारा वाहिक तथा गम्भीर बनाने के लिये इतनी काट छाँट करनी पड़ी है कि कई स्थलों पर वाक्य तथा पैरेग्राफ़ तक बदल देने पड़े हैं। नवीन उद्धरणों तथा वर्तमान परिस्थिति को सामने रखते हुये पुस्तक को प्रत्येक दृष्टि कोण से सामयिक बनाया गया है। प्रत्येक अध्याय में कुछ न कुछ नई बातें जोड़ दी गई हैं। पहले संस्करण में 'शासनविधान' और 'सरकार की क़िस्में'—ये दोनों अध्याय भूल से छूट गये थे। इस संस्करण में इन्हें भी जोड़ दिया गया है। सन् १९४३ तक के बोर्ड में पूछे गये एफ़० ए० के नागरिक शास्त्र के प्रश्न-पत्र भी पुस्तक के अन्त में शामिल कर दिये गये हैं।

नागरिक शास्त्र और राजनीति के कुछ अध्यापकों ने पत्र द्वारा मेरा ध्यान चन्द बातों की ओर आकर्षित किया था। इस नये संस्करण में उनकी सलाहों का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया है। मेरठ कालेज के प्रोफ़ेसर जे० पी० सूद ने 'प्रजातन्त्रवाद' की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित कराया था। उनकी तथा राजनीति शास्त्र के अन्य विद्वानों की इस कृपा का मैं सर्वथा ऋणी हूँ।

संयुक्त प्रान्त की शिक्षा बोर्ड ने पुस्तक को एफ़० ए० क्लास के विद्यार्थियों के लिये मंजूर किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य परीक्षाओं में भी इसे स्वीकृति प्राप्त हुई है। आशा है इस नवीन संस्करण से अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों को कुछ अधिक लाभ पहुँचेगा।

कमल सागर
१५ मई १९४३ ई०

गोरख नाथ चौबे

विषय-सूची

—:o:—

नागरिक शास्त्र की विवेचना

अध्याय १

नागरिक शास्त्र, विस्तार और अन्य शास्त्रों से इसका सम्बन्ध

शास्त्र—नागरिक शास्त्र की परिभाषा—नागरिक शास्त्र की उपयोगिता—नागरिक शास्त्र का विस्तार—अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र—नागरिक शास्त्र और समाज शास्त्र—नागरिक शास्त्र और इतिहास—नागरिक शास्त्र तथा अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र और भूगोल - नागरिक शास्त्र और धर्मशास्त्र— नागरिक शास्त्र की अध्ययन विधि।

शास्त्र—किसी विषय का क्रमबद्ध ज्ञान शास्त्र कहलाता है। दवा के विषय में कुछ न कुछ सभी लोग जानते हैं परन्तु सबको हम डाक्टर नहीं कह सकते। सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान थोड़ा बहुत सबको रहता है, परन्तु हर एक व्यक्ति समाजशास्त्र का विद्वान् नहीं कहा जा सकता। आर्थिक प्रबन्ध सब को ही करना पड़ता है परन्तु अर्थशास्त्र के ज्ञाता वेही कहे जा सकते हैं जिन्होंने क्रमबद्ध इसका पूर्ण अध्ययन किया है। किसी भी विषय का अधूरा ज्ञान शास्त्र नहीं कहा जा सकता। सभी शास्त्रों का उद्देश्य ज्ञान है। जितने भी शास्त्र हैं, सबका अध्ययन मनुष्य को ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। ज्ञान एक है, इसका विभाजन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार वृक्ष एक होता है परन्तु इसकी शाखायें अनेक होती हैं उसी तरह ज्ञान एक है परन्तु इसकी प्राप्ति के ज़रिये भिन्न भिन्न हैं। ज्ञान का भाण्डार इतना बृहत् है कि वह एक साथ ही मस्तिष्क में नहीं आ सकता। अतएव इसकी प्राप्ति के लिये विभिन्न शास्त्रों की रचना की गई है। अध्ययन की सुविधा के लिये, यह आवश्यक समझा गया है कि ज्ञान या शास्त्र को विभिन्न शाखाओं में बाँट दिया जाय। सभ्यता के विकास के

साथ साथ शास्त्रों की शाखाएँ तथा उपशाखाएँ बढ़ती गईं। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, भूगोल, शरीर विज्ञान, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित तथा विभिन्न रसायन और भौतिक शास्त्रों की रचनाएँ अध्ययन की सुविधा के लिये की गई हैं। अज्ञान से ज्ञान की ओर मनुष्य अग्रसर हो, यही इनके अध्ययन का फल है।

शास्त्रों के विभाजन का कोई निश्चित माप नहीं है। वे एक दूसरे से इतने मिले जुले हैं कि एक का पूर्णज्ञान दूसरे के बिना हो ही नहीं सकता। अतएव दो शास्त्रों के बीच में कोई दीवाल नहीं खड़ी की जा सकती। फिर भी समस्त शास्त्रों को दो भागों में बाँटा गया है, प्रकृति शास्त्र और समाज शास्त्र। यहाँ पर प्रकृति शास्त्र के विषय में हमें कुछ भी नहीं कहना है। हमारे विषय का सम्बन्ध केवल समाज शास्त्र से है। मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी शास्त्र समाज शास्त्र कहलाते हैं। आरम्भ से ही मनुष्य समाज में रहा है और अब भी रह रहा है। उसकी सम्पूर्ण उन्नति समाज में ही हुई है। संसार में जितने भी जीव हैं वे सभी सामाजिक हैं, सबमें संगठन है, सबमें सामाजिक व्यवस्था है और सब में कोई न कोई कला है। जिन्होंने जंगली जानवरों के झुण्ड के झुण्ड देखे हैं उन्हें उनके संगठन का थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। पक्षियों में भी एक प्रकार का संगठन है। वे अपनी ही जाति की गिरोह में उड़तीं, बैठतीं तथा घोंसला बनातीं हैं। बया पक्षी के घोंसले को देख कर उसकी कला का अनुमान किया जा सकता है। मधुमक्खियों का संगठन इन सबमें सराहनीय है। उनमें कोई स्वामी, कोई सेवक और कोई रक्षक होता है। उनके छत्ते में जो कला दिखलाई पड़ती है वह हमारे साधारण घरों में नहीं हो सकती। यदि इन जीवों में अपनी उन्नति अवनति का ज्ञान दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति होती, तो इससे भी कितने ही शास्त्र आज बन जाते। वे भी समाज शास्त्र के अन्तर्गत कहे जाते। परन्तु मनुष्य को छोड़ कर यह शक्ति किसी अन्य जीव में नहीं पाई जाती। इस लिये समाज शास्त्र से हमें मनुष्य के विचार, ज्ञान, संगठन तथा कार्य आदि का ज्ञान होता है। समाज शास्त्र समाज की उन्नति का वर्णन करता है।

नागरिकता का अध्ययन नागरिक शास्त्र कहलाता है*। मनुष्य

---

* Civics is a science of citizenship. It deals with rights and duties of a **man in society.**

जिस समाज में रहता है उसके प्रति उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं। उनका ज्ञान मनुष्य के लिये आवश्यक है। कुटुम्ब के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं, धार्मिक संस्थाओं से उसका क्या सम्बन्ध है, तथा राजनैतिक संगठन में उसे कौन कौन से अधिकार प्राप्त हैं—इन सब के ज्ञान को नागरिक शास्त्र कहते हैं। अर्थात् जिस शास्त्र के अन्दर नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन होता है वह नागरिक शास्त्र कहलाता है। नागरिक शास्त्र और 'नगर' शब्द से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी भाषा में हम नगर शब्द का अर्थ 'शहर' करते हैं परन्तु नागरिक शास्त्र केवल शहरों का शास्त्र नहीं है। भारतवर्ष में लगभग ७ लाख गाँव हैं। इन ग्रामों के अध्ययन को ग्रामशास्त्र कहते हैं। नागरिक शास्त्र और ग्रामशास्त्र दोनों एक ही हैं। जिस शास्त्र से नगर अथवा ग्राम निवासियों की रहन सहन का ज्ञान हमें प्राप्त हो वह नागरिक शास्त्र अथवा ग्रामशास्त्र कहलाता है। अर्थात् जो व्यक्ति ग्राम या नगर में रहते हैं उनकी रहन सहन कैसी है, उनके अन्दर किस प्रकार के कितने संगठन हैं, उनकी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था कैसी है—इन सबकी जानकारी नागरिक शास्त्र के अन्दर मौजूद होती है। साथ ही यह शास्त्र आदर्श जीवन का मार्ग भी समाज के सामने रखता है।* हमारे देश में 'ग्रामशास्त्र' शब्द 'नागरिक शास्त्र' से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि हमारा देश गाँवों का देश है। इस शास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य का ही अध्ययन करते हैं। किन्तु मनुष्य की बनाई हुई संस्थाओं का जब तक हमें ज्ञान न होगा, तब तक हम उसे नहीं समझ सकते। अफ़लातून ऐसे यूनानी दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है कि समाज मनुष्य का एक बृहत् रूप है। इसलिये नागरिक शास्त्र नागरिक के रूप में मनुष्य का ही विश्लेषण करता है।†

नागरिक शास्त्र की परिभाषा

---

* Civics is the science that seeks to discover the conditions of the best possible social life.

* Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which we live in society.

† Civics is the study of man in relation to social organizations.

नागरिक शास्त्र की उपयोगिता

जिस समाज में हम रहते हैं उसका ज्ञान प्राप्त किये बिना हम अपना विकास नहीं कर सकते। उपयुक्त नागरिक बनने के लिये इस शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? जब तक मनुष्य इसकी जानकारी प्राप्त न करेगा, तब तक वह बहुत सी सामाजिक बुराइयों का दास बना रहेगा। मनुष्य की जानकारी अपने ही प्रति समाप्त नहीं हो जाती। कुटुम्ब, ग्राम, ज़िला, प्रान्त तथा समस्त राष्ट्र से उसका सम्बन्ध होता है। जब मनुष्य का इन सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध है तो वह इनसे अनभिज्ञ रह कर सुखमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। नागरिक शास्त्र के ज्ञान के बिना मनुष्य किसी भी सामाजिक शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता। यदि हम किसी संघ के सदस्य हों, परन्तु उसके नियमों से अनभिज्ञ हों, तो हम संघ में पूरा सहयोग नहीं दे सकते। इसी प्रकार जब तक हम नगरों तथा ग्रामों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक हम इनकी उन्नति में थोड़ी भी सहायता नहीं कर सकते।

कोई सिपाही तब तक अच्छी तरह काम नहीं कर सकता जब तक उसे फ़ौजी शिक्षा न दी जाय। प्रत्येक कार्य के लिये किसी न किसी प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक शास्त्र उपयुक्त नागरिक बनाने के लिये एक प्रकार की ट्रेनिंग देता है। वह नागरिक को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कराता है तथा विभिन्न संस्थाओं के प्रति उसके सम्बन्ध को निर्धारित करता है। सामाजिक उन्नति के लिये छोटी से छोटी बातों की जानकारी आवश्यक है। सड़क पर कैसे चलना चाहिये, सफ़ाई कैसे रखनी चाहिये, वोट कैसे देना चाहिये, शिक्षा बोर्ड क्या है, ज़िला तथा म्युनिस्पल बोर्ड क्या करती हैं, ग्राम पंचायतों के क्या क्या कर्त्तव्य हैं—आदि बातों की जानकारी के बिना नगर में रहते हुए भी हम कुशल नागरिक नहीं कहे जा सकते। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से प्रत्येक नागरिक समाज के सुख और शान्ति में पूर्ण सहायक हो सकता है। अपने कार्यों से वह मनुष्य मात्र का कल्याण कर सकता है। शिक्षित समाज में जितनी उपयोगिता इस शास्त्र की है उतनी किसी और सामाजिक शास्त्र की नहीं हो सकती।

नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र का एक प्रधान अंग है। प्रत्येक शास्त्र का क्षेत्र मनुष्य की बौद्धिक उन्नति से सीमित है। समाज

नागरिक शास्त्र का विस्तार शास्त्र सामाजिक उन्नति का प्रतीक है। जब तक मनुष्य जंगली अवस्था में था, उसका कोई विशेष संगठन नहीं था, और न उसकी कोई राजनैतिक व्यवस्था थी, तब तक उसे नागरिक शास्त्र का मूल्य मालूम न था। जंगली अथवा प्राकृतिक नियमों से ही उसका काम चल जाता था। जंगली अवस्था के पश्चात् मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उसे सामाजिक नियम तथा रसम-रवाज़ बनाने पड़े। यहीं से नागरिक शास्त्र का बीजारोपण हुआ। आरम्भ में केवल थोड़े से सामाजिक नियम बने। इनकी जानकारी सामाजिक विद्या के नाम से उद्धृत की गई। जब इस विद्या का भाण्डार कुछ और बृहत् हुआ तो यही नागरिक शास्त्र कहलाने लगा। इस शास्त्र का विस्तार सामाजिक वा नागरिक जीवन की उन्नति पर निर्भर है। हमारे नगर अथवा ग्रामों का जितना ही अधिक विकास होगा, नागरिक का कर्त्तव्य और अधिकार उतना ही बढ़ता जायेगा। इसी के साथ साथ नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी बढ़ेगा। प्रत्येक नागरिक का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में व्यतीत होता है। नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत हमें इन सबका अध्ययन करना पड़ता है।

समाज की उन्नति का सम्पूर्ण ज्ञान वर्तमान काल के ही अध्ययन से नहीं हो सकता। इसके लिये भूतकाल की भी जानकारी आवश्यक है। जहाँ से हमारा सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ था उसे भी हमें जानना पड़ता है। तदुपरान्त हमारा अध्ययन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता, जब तक हम समाज के भविष्य जीवन के लिये कोई आदर्श निश्चित न कर लें। इसे ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र का विस्तार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में फैला हुआ है। भूतकाल में नागरिक के क्या अधिकार थे, वर्तमान काल में उनमें क्या क्या परिवर्तन हुए, भविष्य में उनके परिवर्तन की क्या आशा है—इन सब का ज्ञान नागरिक शास्त्र द्वारा ही होता है। आरम्भ से लेकर अब तक मनुष्य का सामाजिक इतिहास इसी शास्त्र के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश समस्त भूमंडल पर पड़ता है उसी प्रकार नागरिक शास्त्र का प्रभाव मनुष्य के सभी सामाजिक जीवन पर पड़ता है। प्रकाश के बिना मनुष्य अन्धेरे में कुछ भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार नागरिकता के ज्ञान के बिना कोई भी अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन नहीं कर सकता। समस्त संसार आज हमें जिस रूप में

दिखलाई पड़ रहा है वह सामाजिक जीवन का ही फल है। इसमें नागरिक के कर्त्तव्य की गणना नहीं हो सकती। इसका क्षेत्र किसी प्रान्त अथवा देश की सीमा से घेरा नहीं जा सकता। नागरिक शास्त्र इन सबकी विवेचना करता है।

यद्यपि हम नागरिक शास्त्र को विभिन्न सामाजिक शास्त्रों से पृथक् मानते हैं, फिर भी उन सबके साथ इसका एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक जीव के नाते मनुष्य का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, अमुक समाज में उसकी क्या स्थिति है इनका अध्ययन तथा ज्ञान नागरिक शास्त्र का ही एक विषय है। नागरिक के नाते हमें यह भी जानना पड़ता है कि हमारा शासन कैसे होता है। इसके लिये हमें अपनी शासन व्यवस्था का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पर नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध राजनीति शास्त्र से होता है। समाज की आर्थिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है, तथा हमारी वर्तमान आर्थिक परिस्थिति कैसी है इन्हें भी हमें ध्यान में रखना पड़ता है, क्योंकि हमारे दैनिक जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी लिये नागरिक शास्त्र की पूरी जानकारी के लिये अर्थशास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता है। नागरिक के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपने पड़ोसी के सुख दुख का ध्यान रखना पड़ता है। न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि की उसे चिन्ता करनी पड़ती है। इन क्षेत्रों में नागरिक का कर्त्तव्य इतना विस्तृत हो जाता है कि नागरिक शास्त्र की सीमा निहित नहीं की जा सकती। जब मनुष्य के कर्त्तव्य की कोई सीमा नहीं है, तो नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी अपार और अनन्त समझना चाहिये।

आरम्भ में नागरिक वही कहलाता था जो नगर में रहता था। वहीं की स्थानीय बातों का ज्ञान नागरिक शास्त्र कहलाता था। राजनैतिक उत्थान के साथ मनुष्य नगर से भी बड़े संगठन का आज सदस्य है। वह बिखरे हुए सामाजिक वृक्ष की केवल शाखा मात्र नहीं है बल्कि राष्ट्रीय शिविर का एक दृढ़ स्तम्भ है। आधुनिक काल में नागरिकता एक राष्ट्रीय वस्तु है। जो राष्ट्र का सदस्य है वही नागरिक है। उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य समस्त राष्ट्र में तारों की भाँति फैले हुए हैं। यह राष्ट्रीय नागरिकता अब भी बढ़ती जा रही है और नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सदस्य होने जा रहा है। इस सदस्यता के विस्तार में नागरिक के कर्त्तव्य कितने बढ़ जायँगे, भविष्यकाल का नागरिक शास्त्र इसकी विवेचना करेगा। नागरिक

का कर्त्तव्य माता पिता से बढ़ते बढ़ते आज संसार भर में फैल गया है। इसी से हम नागरिक शास्त्र का विस्तार समझ सकते हैं।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसीलिये इसके अन्दर जीवन के हर पहलू पर विचार किया गया है। प्रत्येक शास्त्र का अध्ययन नागरिक के जीवन पर एक विशेष प्रभाव डालता है। अतएव सामाजिक जीवन में एक दृढ़ एकता है। इस एकीकरण को समझने के लिये हम विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। वास्तव में ये शास्त्र एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत् एक ही वस्तु को समझने के लिये विभिन्न दृष्टि कोण के प्रतिनिधि हैं। इतिहास भूतकाल की घटनाओं का वर्णन करते हुये भविष्य के लिये हमें मार्ग प्रदर्शित करता है। इसका प्रभाव सभी सामाजिक शास्त्रों पर बहुत ही गहरा पड़ता है। जब तक हमें अपने देश का सच्चा इतिहास मालूम न होगा तब तक हम अपने प्राचीन गौरव को न तो समझ सकते हैं और न अपना सकते हैं।* साहित्य मनुष्य के विचारों का टार्च है। इसी के प्रकाश से हम विभिन्न शास्त्रों में प्रवेश करते हैं। भूगोल से मनुष्य के स्थानीय जीवन का ज्ञान होता है। विभिन्न प्राकृतिक जीवन में किस प्रकार मनुष्यों की रहन-सहन तथा रसम-रवाज़ में परिवर्तन हो जाया करते हैं इसका ज्ञान हमें भूगोल से ही होता है। अर्थशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग है। प्रत्येक मनुष्य को छोटे या बड़े पैमाने पर आर्थिक प्रबन्ध करना पड़ता है। अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना मनुष्य की उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। कोई भी शास्त्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसीलिये सभी सामाजिक शास्त्रों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम इन्हें एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं कर सकते।

नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र

नागरिक शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र में जितनी घनिष्ठता है उतनी किन्हीं भी दो शास्त्रों में नहीं है। एक प्रकार से नागरिक शास्त्र राजनीति का एक अंग है। जिस प्रकार पौधे और वृक्ष में कोई वस्तु विभेद नहीं है एवं अवस्था का अन्तर है उसी प्रकार राजनीति शास्त्र नागरिक शास्त्र का एक विकसित रूप है। दोनों शास्त्र सामाजिक व्यवस्था

* History is to recapture and to relieve the past.

के साथ ही उत्पन्न होते हैं। दोनों के विकास का क्रम भी एक ही है। नागरिक शास्त्र नागरिक को अपने कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है। राजनीति शास्त्र उन अधिकारों को पालन करने का अवसर देता है। यदि किसी देश में नागरिकता की वृद्धि हो, लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था की उन्नति करें, तो यह स्वाभाविक है कि उस समाज का राजनैतिक वातावरण शान्तिमय रहेगा। दोनों ही शास्त्र यह बतलाते हैं कि मनुष्य का एक दूसरे के प्रति तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है। सुख और शान्ति दोनों के अन्तिम उद्देश्य हैं। दोनों से विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति होती है। यदि किसी देश की सरकार रक्षा का उचित प्रबन्ध न करे तो नागरिक अपने कर्त्तव्य का ठीक ठीक पालन नहीं कर सकता। जब नागरिकता की वृद्धि होगी, तभी कर्त्तव्य-परायण सामाजिक कार्यकर्ताओं का प्रादुर्भाव होगा। उन्हीं से सरकारी मशीन अच्छी तरह चल सकेगी।

इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न है। राजनीति शास्त्र का दारो-मदार राजनैतिक संगठन पर स्थिर है। सरकारी मशीन के बिगड़ते ही यह सम्बन्ध टूट जाता है। इसके विपरीत नागरिकता एक ठोस वस्तु है। यद्यपि मानव शक्ति के कारण इसका क्षेत्र सीमित है, फिर भी उसमें नागरिक के कर्त्तव्य का अन्त नहीं है। राजनीति शास्त्र राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध केवल स्थानीय बातों से रहता है। राजनीति-शास्त्र मनुष्य की राजनैतिक उन्नति का एक इतिहास है। नागरिक शास्त्र सामाजिक कर्त्तव्यों का एक कोष है। राजनीति शास्त्र नागरिक के अधिकारों के प्रयोग के लिये क्षेत्र तैयार करता है। नागरिक शास्त्र उन अधिकारों का केवल ज्ञान प्राप्त कराता है। नागरिक शास्त्र व्यक्तित्व का विकास करता है। राजनीति शास्त्र उस व्यक्तित्व से लाभ उठाता है।

नागरिक शास्त्र और समाज शास्त्र

मनुष्य जिस समाज में रहता है उसमें विभिन्न संस्थाओं से उसका सम्बन्ध होता है। धर्म के नाते वह किसी मठ अथवा मन्दिर का सदस्य होता है। राजनैतिक लाभ के लिये उसे म्युनिस्पल बोर्ड और ज़िला बोर्ड का सदस्य बनना पड़ता है। अपनी जीविका के लिये वह तरह तरह के कार्य करता है। आवश्यकतानुसार वह कई व्यापारिक संघों का सदस्य बन जाता है। उसे इन संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास की

थोड़ी बहुत जानकारी रखनी पड़ती है। यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि कोई नागरिक सभी सामाजिक शास्त्रों को भलीभाँति जान सके, फिर भी उसे इनका साधारण ज्ञान तो रखना ही पड़ता है। नागरिक शास्त्र सामाजिक जीवन के केवल एक अंग का विस्तृत वर्णन करता है। शेष अंगों का हवाला मात्र देकर वह अपने अंग की पुष्टि करता है। प्रत्येक नागरिक को इसका विस्तृत ज्ञान होना आवश्यक है। नागरिकता के पूर्ण ज्ञान के बिना मनुष्य की संस्कृति इतनी उन्नत कदापि नहीं हो सकती कि वह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर सके। समाज शास्त्र सामाजिक बुराई तथा भलाई दोनों अंगो का वर्णन करता है। नागरिक शास्त्र प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिये तैयार करता है कि वह बुराइयों को निकाल कर गुणों का ही समाज में प्रतिपादन करे। समाज शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवहारों से है, परन्तु नागरिक शास्त्र कुटुम्ब, ग्राम तथा पड़ोस से ही सम्बन्ध रखता है। इतना अवश्य है कि मनुष्य के नाते उसका कर्त्तव्य समूचे संसार के प्रति हो जाता है। कौटुम्बिक कर्तव्यों के अतिरिक्त उसे अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है।

नागरिक शास्त्र और इतिहास

इतिहास मनुष्य की सभ्यता का एक कोष है, जिसमें सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा मानसिक उन्नति का विश्लेषण होता है। वास्तव में इतिहास मनुष्य की राजनैतिक स्वतंत्रता का एक युद्ध है। इस युद्ध में नागरिक की वीरता, उसकी विजय तथा पराजय आदि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार जिन विषयों का वर्णन हमें इतिहास में मिलता है उन्हीं के आधार पर नागरिक शास्त्र के विषय बनाये जाते हैं। इतिहास नागरिक के कर्त्तव्यों की एक सूची है। इससे हमें पता चलता है कि कैसे और क्यों हम अपनी वर्त्तमान अवस्था को प्राप्त हुए हैं। हमारी सामाजिक उन्नति में आरम्भ से अब तक कितनी बाधायें उपस्थित हुई हैं। इस प्रगति को समझने के लिये आधुनिक समस्याओं तथा संस्थाओं का ज्ञान रखना आवश्यक है। आधुनिक काल से ही हम भूत तथा भविष्य का अध्ययन कर सकते हैं। हमारी वर्तमान दशा हमारे भूतकाल के कर्त्तव्यों का फल है, और इसी में भविष्य काल का बीज भी छिपा हुआ है। अपने पूर्वजों की कीर्ति को समझने के लिये इतिहास का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। परन्तु यदि हम उनके बतलाये हुए ऊँचे

आदर्शों पर चलना चाहते हैं तो हमें सच्चा नागरिक बनने की आवश्यकता होगी। नागरिक शास्त्र हमारे जीवन की प्रगति को अवनति से उन्नति के मार्ग पर ले जा सकता है। इतिहास को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। उस समय हमें यह लड़ाइयों का अजायब घर दिखलाई पड़ेगा। नागरिक शास्त्र इन घटनाओं का वर्णन नहीं करता। वह पिछली सामाजिक त्रुटियों का उल्लेख न करके हमारी सम्पूर्ण शक्ति को आनन्द और सुख की ही ओर लगाना चाहता है।

कृषि, व्यवसाय, सामाजिक शासन, राष्ट्रीय आय-व्यय तथा रक्षा आदि विषयों का प्रतिपादन इतिहास और नागरिक शास्त्र दोनों में पाया जाता है। व्यावसायिक उन्नति, शिक्षा की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दोनों शास्त्रों के विषय हैं। कौटुम्बिक जीवन, ग्रामोन्नति, शहरों तथा विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण आदि विषय दोनों शास्त्रों के अन्तर्गत आते हैं। यदि इतिहास मूल है तो नागरिक शास्त्र इसकी एक शाखा है। यदि हम भारतवर्ष में प्रतिनिधित्व का इतिहास जानना चाहें तो हमें १८६२ से लेकर अब तक का इतिहास देखना होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का प्रभाव हमारे स्थानीय जीवन पर किसी न किसी प्रकार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में पड़ता रहता है। इतिहास से ही हमारे नागरिक शास्त्र का निर्माण होता है। हम इनके अटूट सम्बन्ध का विच्छेद नहीं कर सकते।

नागरिक शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र

अर्थ शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। वह समाज के उस अंग का वर्णन करता है जिसका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति तथा वितरण से है। धन की उत्पत्ति कैसे होती है, उसकी आवश्यकता समाज को क्यों पड़ती है, और उसका वितरण किस ढंग पर होता है—इत्यादि बातों का समावेश अर्थ शास्त्र में होता है। कोई भी ऐसा नागरिक न होगा, जिसे धन की आवश्यकता न हो। मनुष्यों को एकत्र कर एक समाज में ढालने का बहुत बड़ा श्रेय धन को ही है। यदि मनुष्य को इसकी आवश्यकता न हो तो वह सामाजिक तथा राजनैतिक नियमों को पालन करने से इनकार कर देगा। नागरिक शास्त्र इस बात के लिये नियम बनाता है कि नागरिक पर कौन कौन से टैक्स लगाये जायँ, और उनके वसूल करने की क्या विधि हो। दोनों शास्त्र फूल और सुगन्ध की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। यदि टैक्स न लगे तो समस्त

सरकारी कारोबार बन्द हो जायँ, फिर तो नागरिकता का नाम भी शेष न रहेगा।

धन की उत्पत्ति के साधन तथा इसके व्यय का उचित मार्ग अर्थ शास्त्र के अन्दर पाया जाता है। परन्तु इन दोनों को कार्य रूप में परिणत करने का भार योग्य नागरिक पर ही पड़ता है। जब तक देश में कुशल नागरिक न होंगे तब तक वहाँ धन धान्य की वृद्धि नहीं हो सकती।

नागरिक समाज को सभी दृष्टियों से सम्पन्न देखना चाहता है। इसलिये वह आर्थिक प्रश्नों पर भी विचार करता है। यहाँ पर दोनों शास्त्रों की जानकारी की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक को अपने कर्त्तव्य का पूरा ज्ञान तब तक न होगा जब तक उसे यह अवसर न मिले कि वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो सके। राज्य में उसे समान अधिकार और समान अवसर मिलना चाहिये। स्थायी सामाजिक शान्ति तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक लोगों के पास भोजन का अभाव रहेगा। वह समाज प्रसन्न नहीं रह सकता जिसमें ग़रीब दुखियों की संख्या अधिक होगी। 'ग़रीबी धर्म का नाश है।' धर्म से यहाँ तात्पर्य नागरिक के कर्त्तव्य से है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। धन से समाज को सुखी रखना राजा का पहिला कर्त्तव्य है। भारतवर्ष किसानों का देश है। ग्राम शास्त्र के अन्तर्गत कृषि शास्त्र भी आता है। किसान अपनी सफ़ाई कैसे रक्खे, खेती कैसे करे, सिंचाई की क्या व्यवस्था हो, उत्पन्न अनाज के बेचने की क्या तरकीब हो इत्यादि बातों का सम्बन्ध नागरिक शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र दोनों से है। धन की वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि नागरिकों का जीवन संगठित हो, उनके अन्दर सहयोग का भाव हो और उनकी व्यापार शक्ति उन्नत हो। यदि म्युनिसिपल बोर्ड अच्छी सड़कों का प्रबन्ध न करे तो शहर का व्यापार उन्नति नहीं कर सकता। यही दशा ग्रामों की भी है। जिस समाज में धन की कमी रहती है वह दुर्बल और दयनीय समझा जाता है। इस प्रकार अर्थ शास्त्र और नागरिक शास्त्र पग पग पर मिले हुये हैं। एक दूसरे से अलग करना अध्ययन की दृष्टि से तो कुछ सम्भव भी है, लेकिन ज्ञान की दृष्टि से वे कदापि अलग नहीं किये जा सकते। आर्थिक व्यवस्था तथा नागरिक कर्त्तव्य, इन दोनों का जन्म साथ ही हुआ है।

नागरिक शास्त्र और भूगोल

भूगोल से हमें संसार की प्राकृतिक दशा का ज्ञान होता है। प्रत्येक देश कहाँ स्थित है, उसकी आब-हवा कैसी है, वहाँ लोगों की जीविका का क्या साधन है, वहाँ की भूमि कहाँ तक उपजाऊ है—इन बातों का ज्ञान हमें भूगोल से होता है। प्रश्न यह है कि इनका प्रभाव मानव जीवन पर क्या पड़ता है। हमारे देश में एक आम कहावत है 'जैसा देश वैसा वेश।' जलवायु के अनुकूल ही मनुष्य की रहन-सहन बनती है। प्रत्येक देश की नागरिकता भिन्न भिन्न है। जो अधिकार भारतीय नागरिक को प्राप्त हैं, वे ही अधिकार जर्मन तथा रूसी नागरिक को प्राप्त नहीं हैं। दोनों के अधिकारों में अन्तर है। दोनों का खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल तथा सामाजिक विधान एक ही प्रकार के नहीं है। भौगोलिक परिस्थिति हमारे जीवन को एक विशेष ढाँचे में ढालती है। कुछ तो मनुष्य समाज में बनता है और कुछ प्रकृति बनाती है। यद्यपि नागरिक शास्त्र का निर्माण मनुष्य ने किया है, फिर भी वह प्रकृति के प्रभाव से वंचित नहीं है। यदि हमारी भूमि उपजाऊ है तो हमारी आर्थिक दशा अच्छी होगी। इससे समाज में हमारा जीवन सुखी रहेगा। परन्तु भूमि उपजाऊ होते हुए भी यदि सिचाई की व्यवस्था न हो तो कोई भी सुखी नहीं रह सकता। नागरिक शास्त्र इस बात का प्रतिपादन करता है कि सामाजिक नियम देश की जलवायु के अनुकूल बनाये जाते हैं। नदी, पहाड़ों तथा जंगलों से नागरिक को नाना प्रकार के लाभ होते हैं। परन्तु समाज को इसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है। इस प्रकार दोनों शास्त्र एक दूसरे से बहुत कुछ मिले जुले हैं। भौगोलिक ज्ञान की जितनी ही वृद्धि होगी मनुष्य की सामाजिक दृष्टि उतनी ही विस्तृत होगी। भ्रमण से मनुष्य का ज्ञान क्यों बढ़ता है? इसीलिये कि जब वह विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों से होकर गुज़रता है तो उसे सोचने विचारने की अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। यदि नवीन अनुसन्धानों के पीछे नये नये देशों की खोज न हुई होती तो विज्ञान का इतना अधिक प्रचार कदापि न होता। सामाजिक समस्याओं की अनेक उलझनों के उत्तर भूगोल शास्त्र के अन्दर पाये जाते हैं।

नागरिक शास्त्र और धर्म शास्त्र

धर्म एक व्यापक शास्त्र है। इसका क्षेत्र इसी संसार में समाप्त नहीं हो जाता। लोक परलोक दोनों ही से इसका सम्बन्ध है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति और फिर दोनों का ईश्वर के प्रति क्या सम्बन्ध है इसकी

विवेचना धर्म शास्त्र में की जाती है। यह शास्त्र मनुष्य के चरित्र बल पर सब से अधिक ज़ोर देता है। कोई भी शास्त्र चरित्र को गौण मान कर अपनी स्थिति क़ायम नहीं रख सकता। यदि मनुष्य भले बुरे का ज्ञान न रक्खे तो वह पशु से भिन्न नहीं कहा जा सकता। धर्म ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्य और पशु में अन्तर निहित करता है। कोई भी शास्त्र धर्म शास्त्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता। नागरिक शास्त्र को धर्म शास्त्र का विशेष आश्रय लेना पड़ता है। नियम का पालन वही कर सकता है जिसे आत्म उन्नति का ध्यान है। अपने पड़ोसी की भलाई वही चाहेगा जिसके अन्दर दया और सद्भाव है। अपने सामाजिक महापुरुषों के बतलाये हुए मार्ग पर वही चलेगा जिसके अन्दर सज्जनता का भाव है। मनुष्य के अन्दर शील, दया, आत्म सम्मान, महत्वाकांक्षा आदि गुण धर्म शास्त्र से ही प्राप्त होते हैं। प्रत्येक नागरिक को इनकी आवश्यकता है। उसे स्वार्थी बन कर समाज को कुत्सित नहीं बनाना है। जो अपने प्रति कर्त्तव्यों का ज्ञान रखता है वही अपने पड़ोसी का भी ध्यान रख सकता है और उसी से सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति हो सकती है।

नागरिक शास्त्र को धर्म शास्त्र का एक अंग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। जब तक हमें छोटी छोटी बातों का ज्ञान न होगा तब तक हम धर्म के गूढ़ विषयों में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि हमारी वाह्य शक्तियाँ नियमित रूप से काम न करें तो हमारी मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। धर्म मनुष्य का अन्तिम धेय कहा गया है। इस प्रकार ये दोनों शास्त्र आरम्भ से अन्त तक मिले हुए हैं। एक का उद्देश्य दूसरे की प्राप्ति है। वास्तव में हमें अपने आप को जानने की आवश्यकता है। यह मनुष्य क्या है, इसके जीवन का क्या उद्देश्य है, तथा जन्म-मरण के बन्धन से उसे किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है—आदि बातों के अतिरिक्त हमें कुछ और जानने की आवश्यकता नहीं है। हमारी सारी कोशिशें एक मात्र इसीलिये होनी चाहिये।

यह महान् विश्व मनुष्य की ही अध्ययन शाला है। विभिन्न शास्त्र इसके समझने के साधन हैं। अपनी बुद्धि ही इसमें अध्यापक का काम कर रही है।

एक आदर्श नागरिक बनने के लिये पहिले मनुष्य बनने की आवश्यकता है। यूनान में एक कहावत है "अपने आप को जानो,

और कुछ नहीं।" हिन्दू धर्म शास्त्रों में भी कहा गया है कि "आत्मानं विद्धि" अपने आपको पहचानो। हमारे भीतर के सभी भाव कार्य रूप में बाहर को प्रगट होते रहते हैं। यदि हमारे अन्दर सफ़ाई है और विचार उच्च हैं तो हमारी बाहरी संस्थाएँ चमकती और उन्नतिशील दिखलाई पड़ेंगी। हम हाथ से वही करते हैं जो हमारे मस्तिष्क में है। हमारी सामाजिक व्यवस्था तभी ठीक होगी जब हमारे भीतर के भाव सुलझ जायेंगे। नागरिक शास्त्र अपने क्रियात्मक रूप में छोटे छोटे दायरों में बँटा हुआ है। विभिन्न संस्थाओं का प्रतिपादन विभिन्न दृष्टि कोण से किया गया है। परन्तु धर्म शास्त्र समस्त मानव समाज को एक दृष्टि और एक उद्देश्य से देखता है। धर्म शास्त्र नागरिक शास्त्र का सर्वोन्नत रूप है। इसीलिये दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागरिक शास्त्र में मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है परन्तु धर्म शास्त्र मनुष्य का अध्ययन है।

नागरिक शास्त्र की अध्ययन विधि

किसी निश्चित स्थान पर हम तभी पहुँच सकते हैं जब हमें वहाँ जाने का ठीक मार्ग ज्ञात हो। रास्ता भूल जाने पर हम कहीं और ही चले जायेंगे। एक आदर्श नागरिक बनने के लिये जैसे हमें अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखना पड़ता है, उसी प्रकार नागरिक शास्त्र के अध्ययन में भी हमें चन्द बातों का ध्यान रखना होगा। तभी हम इस शास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से कर सकेंगे। यह शास्त्र केवल विचार करने की चीज़ नहीं है। इससे मनुष्य अपने वास्तविक कर्त्तव्य की ओर झुकता है। अतएव हमारी बुद्धि रचनात्मक होनी चाहिये। कोरी कल्पना से हम इस शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते। जैसे हमारे विचारों में एक क्रम होता है उसी प्रकार हमारे रचनात्मक कार्यों में भी कोई न कोई क्रम और कला दोनों ही होने चाहिये। विचार के साथ साथ हमें अन्वेषण भी करते रहना होगा। जब हम अपने विचारों तथा अन्वेषणों को वैज्ञानिक रूप से स्पष्ट करेंगे तभी हम समाजोपयोगी कोई व्यवस्था निकाल सकेंगे। अपने कुटुम्ब से लेकर अपने पड़ोसी, ग्राम वासी तथा नगरवासियों को हमें क्रम पूर्वक अध्ययन करना होगा और फिर उसी क्रम से उनकी उन्नति पर विचार करके अपने को उसमें लगाना होगा। इसलिये नागरिक शास्त्र के प्रत्येक पाठक को वैज्ञानिक विचार और रचनात्मक बुद्धि का रखना

अत्यन्त आवश्यक है। इसी से उसके अन्दर लोकहित के भाव पैदा होंगे।

नागरिक शास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों का अध्ययन करना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम स्वयं समाज में रह कर इसका अध्ययन करें। हम समाज में तभी रह सकते हैं जब इसकी व्यवस्था ठीक हो। उन्नतिशील जीवन के लिये सामाजिक जीवन अनिवार्य है। परन्तु वह समाज सुसंगठित और सुव्यवस्थित होना चाहिये। उसके अन्दर शिक्षा, कला, व्यवस्था, शान्ति, कर्त्तव्य परायणता आदि गुणों की प्रचुरता होनी चाहिये। साथ ही हम स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। प्रत्येक व्यक्ति के प्रति हमारी सहानुभूति हो। यदि नागरिक के प्रति हम उदासीन हैं, तो समाज में रहते हुये भी हमारा जीवन दुखी रहेगा। इस उदासीन वृत्ति से हम नागरिक शास्त्र का ठीक ठीक अध्ययन नहीं कर सकते। पड़ोसी, ग्राम तथा समस्त राष्ट्र के प्रति जब तक सहानुभूति न होगी तब तक हमारा ज्ञान अधूरा रहेगा। जातीयता अथवा साम्प्रदायिकता का भाव लेकर हमें नागरिक शास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिये। इससे हमारी बुद्धि संकुचित होगी। ऊँच नीच का भाव हमारे अध्ययन में बाधक सिद्ध होगा। सहानुभूति के साथ साथ हममें समभाव और सद्भाव की भी आवश्यकता है। इसका अध्ययन इस दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध न होगा कि सामाजिक बुराइयों और भलाइयों की सूची हमारे मस्तिष्क में आ जाय। अध्ययन के पीछे सुधार की भी भावना होनी चाहिये। हमारे अध्ययन का रचनात्मक उपयोग तभी होगा जब हमारे अन्दर सुधार की सच्ची लगन होगी। दूसरों के दुख में हमें भी दुख प्रकट करना होगा और सुख में खुशी दिखलानी होगी। हम समाज के जितने ही साथ रहेंगे उतनी ही वैज्ञानिकता से नागरिक शास्त्र का अध्ययन कर सकेंगे।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन मात्र से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें इसका स्वाध्याय करना होगा। पुस्तकों के आधार पर ही हम अपना विचार निश्चित न करें। किसी विशेष व्यक्ति की राय को हम अपनी राय न मान लें। समाज हमें जिस रूप में दिखलाई देता है उसी को अनादि काल की रचना न मान बैठें। यदि औरों के ही विचारों में हम बह चलें, तो हमारा अध्ययन तोते का राम राम हो जायगा। समाज में प्रचलित कुरीतियों को यदि हम स्वाभाविक और अमर मान

लें तो ऐसे अध्ययन से कुछ भी लाभ न होगा। पाठकगण स्वतन्त्र विचार से घटनाओं पर विचार करें। उनका ध्यान प्रति क्षण यही होना चाहिए कि उन्हें अपनी बुद्धि की कसौटी पर सब की राय को कसना है। जब सभी बातों को वे अपनी स्वतन्त्र और न्याययुक्त बुद्धि से विचार करेंगे तभी उन्हें नागरिकता का जीवित ज्ञान प्राप्त होगा। इसलिये सहानुभूति और रचनात्मक बुद्धि के साथ स्वतन्त्र विचार भी रखना चाहिये।

यदि हम इस शास्त्र के अध्ययन से कुछ लाभ उठाना चाहते हैं तो हमें समस्याओं की उलझनों में नहीं पड़ना चाहिये। सामाजिक समस्यायें इतनी अधिक और पेचीदा हैं कि एक साथ ही न तो हम इन्हें समझ सकते हैं और न सुलझा ही सकते हैं। स्कूलों, मिलों, कारख़ानों, गाँवों तथा किसानों की कठिनाइयों का रूप भिन्न भिन्न है। क़ाबिल से क़ाबिल आदमी इन सबकी जानकारी हासिल नहीं कर सकता। उसे इतना अवसर जीवन में नहीं मिल सकता कि वह प्रत्येक स्थान पर जाकर वहाँ की अवस्थाओं का खोज निकाले। इसके अतिरिक्त शराब-ख़ोरी, जुआ, व्यभिचार, अनाचार आदि सामाजिक कमज़ोरियों को भी उसे सामने रखना होगा। इतनी उलझनों को साथ लेकर कोई व्यक्ति अपने अध्ययन में सफल नहीं हो सकता। उन्हें दूर करना तो उसे और भी कठिन होगा। इसलिये किसी एक संस्था वा संगठन को चुन लेना चाहिये। उसकी तह में जाकर पाठकगण उसकी कमज़ोरियों को निकालें और सही तरीक़े से लोगों के सामने रक्खें। जहाँ तक वे उन्हें हल कर सकें करें, बाकी औरों पर छोड़ दें। इस प्रकार विभाजन प्रणाली द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होगा वह पक्का और साफ़ होगा। इससे एक एक करके हमारी सामाजिक कमज़ोरियाँ दूर होती जायेंगी। नागरिक शास्त्र के विद्यार्थियों ने यदि इस नीति का आश्रय लिया तो उनसे समाजहित की अधिक सम्भावना है।

अध्याय २

नागरिकता

नागरिक—नागरिक और राज्य—ग्राम और नगर—अनागरिक—नागरिकता—नागरिकता की कसौटी—नागरिकता की प्राप्ति—नागरिकता का लोप—भारतीय नागरिक—आदर्श नागरिक—आदर्श नागरिक बनने में कुछ बाधायें।

नागरिक

नागरिक शास्त्र की परिभाषा से भलीभाँति स्पष्ट है कि हम इसमें नागरिक के अधिकार और उसके कर्त्तव्य का अध्ययन करते हैं। नागरिकता के आधार पर ही इस शास्त्र की रचना हुई है। नागरिक का तात्पर्य है नगर अथवा ग्राम का निवासी, परन्तु यह अर्थ अपूर्ण है। शहर अथवा ग्राम में रहने वाला एक भिखारी नागरिक नहीं होता। विदेशी भी नागरिक नहीं कहलाते। राजनैतिक दृष्टि से हम प्रत्येक देश के निवासियों को दो भागों में बाँट सकते हैं। एक को हम नागरिक कहेंगे और दूसरे को अनागरिक। नागरिक का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से नहीं है। कोई व्यक्ति विदेश में रहते हुए भी अपने को नागरिक कह सकता है। प्राचीन काल में यूनान देश में बहुत से छोटे छोटे नगर थे। प्रत्येक नगर न केवल राजनैतिक दृष्टि से, बल्कि आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वतंत्र और स्वावलम्बी था। उसमें एकता और समानता का जो व्यवहार प्रचलित था उसे अब भी हम आदर्श के रूप में मानते हैं। परन्तु वहाँ भी हमें स्पष्ट दो भेद दिखलाई पड़ते हैं। नगर के कुछ निवासियों को सभी राजनैतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ये व्यक्ति नागरिक कहे जाते थे। इसके विपरीत कुछ ऐसे निवासी थे जिन्हें किसी भी प्रकार का अधिकार प्राप्त न था। इन्हें अनागरिक अथवा दास कहा जाता था। दोनों ही शहर में रहते थे परन्तु उनके अधिकारों में महान् अन्तर था। विभिन्न नामों से इन्हें सूचित किया जाता है। एक को नागरिक तथा दूसरे को अनागरिक, एक को स्वामी और दूसरे को दास, एक

को स्वतंत्र और दूसरे को गुलाम इत्यादि इत्यादि इनके विभिन्न नाम हैं।

अरस्तू ने नागरिक की परिभाषा इस प्रकार की है, "नागरिक वह व्यक्ति है जिसे नगर की सम्पूर्ण राजनैतिक कारवाइयों में भाग लेने का अधिकार है।" इससे स्पष्ट है कि नागरिक को राजनैतिक अधिकारों से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति राजनैतिक अधिकार से वंचित हो तो उसे नागरिक कहना ठीक नहीं है। प्रत्येक नागरिक राजनैतिक संगठन का एक अंग है। उस संगठित समाज के प्रति, जिसमें वह निवास करता है, उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं। साथ ही उसके बहुत से अधिकार भी हैं। अरस्तू की यह परिभाषा बहुत ही संकुचित है। जब कि गुलामी प्रथा का संसार में रवाज था उस समय नागरिक की यह परिभाषा ठीक हो सकती थी, परन्तु आधुनिक काल में इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। यूनान की तरह रोम भी एक छोटा सा नगर था। यहाँ के निवासियों ने जब बहुत से देशों को जीत लिया और रोमन साम्राज्य की स्थापना की तो नागरिक के अर्थ में एक महान् परिवर्तन हुआ। रोमन साम्राज्य में रहने वाले किसी भी व्यक्ति को रोम का नागरिक करार दिया गया। कोई रोम नगर में भले ही न गया हो परन्तु वह रोम का नागरिक कहलाता था। २१२ ईस्वी में सम्राट् केराकेला ने यह घोषित किया कि रोमन साम्राज्य के सभी स्वतंत्र व्यक्ति रोम के नागरिक कहलायेंगे। रोम में रहने वाले नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त थे वे रोमन साम्राज्य में रहने वाले नागरिकों को भी मिल गये। नागरिक का क्षेत्र शहर से बढ़ा कर साम्राज्य तक कर दिया गया।

आधुनिक काल में नागरिक शब्द का प्रयोग और भी बड़े दायरे में किया जाता है। वह नगर का निवासी मात्र नहीं है बल्कि एक राष्ट्रीय सदस्य समझा जाता है। उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की सीमा नगर से बढ़ा कर सम्पूर्ण राष्ट्र में फैला दी गई है। राजनैतिक सत्ता की वृद्धि के साथ नागरिक के अधिकारों का बढ़ना स्वाभाविक है। कर्त्तव्यों का क्षेत्र जितना ही बढ़ेगा, हमारे अधिकार भी उसी मात्रा में बढ़ते जायेंगे। वर्तमान राज्यों की सीमा इतनी बढ़ गई है कि उनमें नगरों तथा ग्रामों की गणना नहीं हो सकती। फिर भी उनके निवासियों के अधिकारों में समानता का भाव रखना पड़ता

है। भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीयता की वृद्धि के आभास अभी से मिल रहे हैं। यदि ऐतिहासिक प्रगति ऐसी ही रही तो स्वदेशी और विदेशी का अन्तर भी दूर हो जायेगा। बृटिश साम्राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति प्रजा कहलाते हैं। अँग्रेजी कानून में नागरिक शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है। हम सभी अँग्रेज़ी राज्य में प्रजा हैं, नागरिक नहीं। अमेरिका, फ्रांस तथा जर्मनी में प्रजा के स्थान पर लोग नागरिक कहे जाते हैं।

नागरिक और राज्य

'नागरिक' शब्द के ठीक ठीक अर्थ को समझने के लिये राज्य से उसके सभी सम्बन्धों को जानना होगा। यदि हमें राज्य के उद्देश्य मालूम हो जायँ तो नागरिक का भी धेय अपने आप ज्ञात हो जायगा। आरम्भ काल से अब तक दो विरोधी दल चले आ रहे हैं। एक तो इस बात पर ज़ोर देता है कि नागरिक सब कुछ है और राज्य स्वयं कोई वस्तु नहीं है। दूसरा दल राज्य को ही सब कुछ मानता है और नागरिक को कोई अधिकार प्रदान नहीं करना चाहता। परन्तु ठीक रास्ता इन दोनों के बीच में है। नागरिक के बिना राज्य की और राज्य के बिना नागरिक की कोई हस्ती नहीं है। दोनों एक दूसरे से बीज और फल की तरह मिले हुये हैं। जिस राज्य में नागरिक सुखी, प्रसन्न और चरित्रवान है, वह सभी दृष्टियों से उन्नतिशील गिना जाता है। राष्ट्रीय उन्नति नागरिक के संगठन का परिणाम है। शासन की बागडोर नागरिक के हाथ में रहती है। राज्य नागरिक की उन्नति के लिये जीवित है। उसकी शारीरिक अथवा मानसिक उन्नति का उत्तरदायित्व राज्य पर निर्भर है। राज्य इस बात का अवसर तथा सुविधायें प्रदान करे, कि नागरिक अपनी पूरी उन्नति कर सके।

ग्राम और नगर

भारतवर्ष में ग्राम और नगर दोनों ही हैं। ग्राम के रहने वाले ग्रामीण और शहर के रहने वाले नागरिक कहलाते हैं। परन्तु यह अर्थ केवल शाब्दिक है। शास्त्रीय विधि के अनुसार दोनों ही स्थानों में रहने वाले नागरिक कहलाते हैं। जो अधिकार किसी नागरिक को नगर में प्राप्त है वही एक गाँव में भी उसे है। इनमें जो थोड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका कारण यह है कि दोनों जगहों की रहन-सहन में अन्तर है। राज्य में ग्राम अथवा नगर दोनों का नागरिक एक है। दोनों

के अधिकार समान हैं। शासन विधान में दोनों को समान अवसर दिये जाते हैं। शिक्षा आदि की सुविधायें दोनों के लिये एक सी दी जाती हैं। चूँकि ग्राम का जीवन संगठित नहीं है आवागमन के साधन वहाँ उचित नहीं हैं, शिक्षा की वहाँ कमी है, इसलिये ग्रामीण नागरिक अपने अधिकारों का उतना उपयोग नहीं कर पाता जितना शहर का नागरिक। ग्रामों का संगठन हो रहा है। भविष्य में ग्रामीण नागरिक का जीवन अत्यन्त उन्नत दिखलाई पड़ रहा है। ९० प्रतिशत भारतीय जनता ग्रामों में रहती है। यदि ग्रामीण नागरिकों को राष्ट्रीयता की पूरी शिक्षा दे दी गई तो हमारे देश की विशेष उन्नति हो सकेगी। ग्राम हमारे राष्ट्रीय जीवन की जड़ हैं। संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ नगर और ग्राम में राजनैतिक दृष्टि से कोई भेद दिखलाई पड़े। यह प्रगति हमारे देश में भी है। परन्तु सामाजिक रहन-सहन की कमी के कारण आज ग्रामीण नागरिक हमें भिन्न दिखलाई पड़ रहा है।

अनागरिक

जो नागरिक नहीं हैं वे अनागरिक कहलाते हैं। अनागरिक संख्या में नागरिकों से कम होते हैं। किसी जाति विशेष से नागरिकता निश्चित नहीं की जाती। किसी भी जाति का मनुष्य नागरिक हो सकता है। एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य में अनागरिक कहलाता है। नागरिक को राजनैतिक और सामाजिक दोनों अधिकार प्राप्त होते हैं, परन्तु अनागरिक को राजनैतिक अधिकार नहीं दिये जाते। वह किसी राज्य में वोट नहीं दे सकता और न किसी ऊँचे सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता है। सामाजिक अधिकारों में नागरिक और अनागरिक में कोई भेद नहीं है। दोनों किसी सभा-सम्मेलन में व्याख्यान दे सकते हैं। दोनों स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों की रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर समान है। सभी सामाजिक सुविधायें अनागरिक को भी प्राप्त रहती हैं। उसकी इच्छा पर है कि वह उनसे लाभ उठाये। आधुनिक अनागरिक में और यूनान के प्राचीन अनागरिक में ज़मीन आसमान का अन्तर है। वर्तमान समय में अनागरिक गुलाम नहीं है। यूनान में अनागरिक गुलाम समझे जाते थे। वे नागरिकों की एक प्रकार की सम्पत्ति थे। जिसके घर में जितने अधिक अनागरिक थे वह उतना ही धनी समझा जाता था। इसी लिये वहाँ अनागरिकों की

संख्या नागरिकों से दूनी तथा चौगुनी तक हुआ करती थी। लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। अनागरिक उसी प्रकार स्वतन्त्र है जैसे नागरिक। अनागरिकों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। स्वदेशी और विदेशी। सभी विदेशी अनागरिक समझे जाते हैं। इसी प्रकार अपने ही देश में बहुत से स्वदेशी अनागरिक होते हैं। थोड़े दिन पहिले लगभग सभी देशों में स्त्रियाँ अनागरिक समझी जाती थीं। उन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अब भी कुछ देश हैं जहाँ स्त्रियाँ अनागरिक हैं। लम्बी जेल की सजायें काटने वाले अक्सर अनागरिक करार दिये जाते हैं। शारीरिक त्रुटियों तथा पागलपन के कारण भी नागरिक अनागरिक करार दिये जाते हैं। सम्पत्ति हीन व्यक्ति अनागरिक होता है। कोई भी नागरिक अपने आप को अनागरिक बना सकता है।

नागरिकता

नागरिकता एक क़ानूनी पद (Legal Status) है जो केवल नागरिक को दिया जाता है। राज्य की ओर से यह पद उसे प्रदान किया जाता है। इसके अन्तर्गत कुछ राजनैतिक अधिकार उसे नागरिकता के प्रमाण-स्वरूप दे दिये जाते हैं। समय समय पर सरकार इस बात की जाँच करती है कि वह इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं करता। जो कोई इस अधिकार का अनुचित प्रयोग करता है उसे दंड दिया जाता है और कभी कभी वह नागरिकता से वंचित भी कर दिया जाता है। इसी पद के अन्तर्गत नागरिक के सम्पूर्ण कर्तव्यों और अधिकारों का समावेश होता है। नागरिक का सम्बन्ध कुटुम्ब, ग्राम, ज़िला, प्रान्त तथा विभिन्न संस्थाओं से रहता है। प्रत्येक के प्रति उसका कुछ न कुछ कर्त्तव्य है, क्योंकि उन सबसे उसे लाभ पहुँचता है। नागरिकता इस सम्बन्ध को निश्चित करती है। यही सामाजिक जीवन में एकता प्रदान करती है। इसे प्राप्त करना राज्य में प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। नागरिकता से वंचित व्यक्ति पूरी उन्नति नहीं कर सकता। व्यक्तिगत जीवन में इसकी उपयोगिता न हो परन्तु आधुनिक युग सामाजिक एकता का युग है। जब तक मनुष्य किसी संगठन का सदस्य न होगा, तब तक उसका जीवन उपयोगी नहीं हो सकता। राज्य सबसे बड़ा संगठन है। इसलिये इसका सदस्य बन कर व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। इसकी सदस्यता की शर्त ही नागरिकता है। जिसे यह प्राप्त नहीं है वह राज्य का सदस्य नहीं है। जो जिस राज्य का नागरिक

है वह उसका सदस्य भी है। एक ही व्यक्ति दो राज्यों की नागरिकता प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ वह एक राज्य की नागरिकता को छोड़ कर, कुछ शर्तों को पूरा करके दूसरे राज्य में इसे प्राप्त कर सकता है।

सच्ची नागरिकता के अन्दर एक प्रकार की सेवा की प्रेरणा होती है। जो व्यक्ति अपने कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र की सेवा को अपना कर्तव्य समझता है वही सच्चा नागरिक है। माता, पिता, पुत्र, भाई आदि अपने अपने कर्तव्य का ध्यान रक्खें, तथा एक दूसरे के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन करते रहें यही सच्ची नागरिकता का प्रमाण है। राष्ट्र का सदस्य होते हुये भी कोई व्यक्ति कुटुम्ब अथवा छोटे छोटे अन्य समूहों के प्रति कर्तव्यहीन हो सकता है। वह सच्चा नागरिक नहीं कहा जा सकता। कर्तव्यशील वही है जो छोटे बड़े सभी कामों का ध्यान रखता है। नागरिकता कोई दिखलावटी चीज़ नहीं है। इसका उपयोग और दुरुपयोग नागरिक की इच्छा पर निर्भर है। सच्ची नागरिकता अपने आप पैदा होती है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के आदर्श से जुड़ा हुआ है। आदर्शवादी अक्सर सच्चे नागरिक हुआ करते हैं। चरित्रवान व्यक्ति भी नागरिकता का सच्चा पुजारी होता है। अधिकार के साथ नागरिकता एक प्रकार की तड़प है जो मनुष्य को समाज सेवा की ओर अग्रसर करती है।

नागरिकता की कसौटी

जब राज्य में सभी नागरिक नहीं हैं तो यह कैसे जाना जाय कि कौन नागरिक और कौन अनागरिक है। सरकार को अपने राज्य में इसके लिये कोई नियम बनाना पड़ता है। लगभग सभी देशों में दो नियम पाये जाते हैं। इन्हीं से नागरिक और अनागरिक का भेद जाना जाता है। कुछ देशों में नागरिकता जन्म से मानी जाती है। प्रत्येक नागरिक माता-पिता का पुत्र अपने राज्य में नागरिक कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। यूनान तथा रोम में प्राचीन काल में जन्म से ही नागरिकता का निर्णय किया जाता था। यदि किसी लड़के का जन्म रोमन माता पिता से रोम साम्राज्य के बाहर भी होता तो वह रोम का नागरिक समझा जाता था। आज भी इटली तथा फ्रांस में यही नियम प्रचलित है। यूरप के बहुत से देश इसी नियम को मानते हैं। यदि इटैलियन स्त्री पुरुष से भारतवर्ष में कोई लड़का पैदा हो तो वह इटली का नागरिक समझा जायगा। परन्तु यदि स्त्री इटैलियन हो

और पुरुष विदेशी तो उससे उत्पन्न बालक इटली का नागरिक नहीं कहा जा सकता। या यदि किसी विदेशी स्त्री पुरुष से इटली में कोई लड़का पैदा हो तो उसे इटली की नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। प्रत्येक देश में एक निश्चित आयु हुआ करती है, जिसके नीचे किसी को नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। हिन्दुस्तान में १८ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति को नागरिकता नहीं मिल सकती। यूरप के देशों में यह आयु बीस या इक्कीस वर्ष रक्खी गई है।

जन्म के अतिरिक्त नागरिकता की एक दूसरी भी कसौटी है। वह है राज्य में निवास स्थान। यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह स्वदेशी हो वा विदेशी, एक निश्चित अवधि तक किसी राज्य में रहे तो वह वहाँ का नागरिक क़रार दिया जाता है। एक लड़का, चाहे वह विदेशी ही स्त्री पुरुष से क्यों न हो, किसी राज्य में पैदा हो तो वह एक निश्चित आयु के बाद वहाँ का नागरिक हो जाता है। अर्जेन्टाइन में यही नियम प्रचलित है। यदि किसी भारतीय स्त्री पुरुष से वहाँ लड़का उत्पन्न हो तो वह अर्जेन्टाइन का नागरिक समझा जायगा। अर्जेन्टाइन राज्य की सीमा के अन्दर जिसका भी जन्म होगा वह वहाँ का नागरिक समझा जायगा। परन्तु वहीं के माता पिता से विदेशी भूमि में उत्पन्न सन्तान वहाँ की नागरिक नहीं कहला सकती। पहले में नागरिकता जन्म से मानी जाती है और दूसरे में स्थान से।

इन दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त नागरिकता की एक तीसरी भी कसौटी है। अमेरिका में नागरिकता स्थान और जन्म दोनों से मानी जाती है। यह कसौटी कोई नहीं है बल्कि उन्हीं दोनों के मेल से बनाई गई है। संसार में कहीं भी यदि अमेरिकन स्त्री पुरुष से कोई सन्तान होगी तो वह अमेरिका की नागरिक कहलायेगी। इसके अलावे यदि विदेशी स्त्री पुरुष से कोई सन्तान अमेरिका के अन्दर होगी तो वह भी अमेरिका की नागरिक कहलायेगी। नागरिकता का यह सिद्धान्त बहुत ही व्यापक है। इङ्गलैंड में नागरिकता इसी सिद्धान्त के अनुसार निश्चित की जाती है। किसी किसी राज्य में नागरिकता पुरुष से ही मानी जाती है। अर्थात् लड़का उस राज्य का नागरिक माना जाता है जहाँ का उसका पिता नागरिक हो। कुछ राज्यों में नागरिकता का विचार स्त्री के वंश से किया जाता है। अर्थात् लड़का उस राज्य का नागरिक समझा जाता है जहाँ की उसकी माता नागरिक होती है।

नागरिकता का ठीक ठीक निर्णय करना एक जटिल विषय है। कभी कभी तो एक ही व्यक्ति दो राज्यों की नागरिकता का अधिकारी हो जाता है। किसी अंग्रेज़ स्त्री पुरुष से फ्रांस में कोई सन्तान हो तो वह इङ्गलैंड तथा फ्रांस दोनों की नागरिक कहलायेगी। ऐसी दशा में उस व्यक्ति के लिये यह कठिनाई होती है कि वह किसकी नागरिकता को स्वीकार करे और किसका परित्याग। साधारणतया पाठकगण यह समझते होंगे कि उसे दोनों राज्यों का नागरिक रहकर दोनों से लाभ उठाना चाहिए। लेकिन यह बात असम्भव है। एक ही व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक नहीं रह सकता। ऐसा इसलिये किया गया है कि व्यक्ति का उत्तरदायित्व एक ही राज्य पर पूर्णतया रह सके। मान लीजिये इङ्गलैंड और फ्रांस में लड़ाई छिड़ गई। या इनमें से किसी एक से एक तीसरे राज्य से लड़ाई आरम्भ हुई। दोनों राज्य अपने अपने नागरिक को लड़ाई के लिये तैयार होने का हुक्म देंगे। ऐसी दशा में एक ही नागरिक दोनों जगह काम नहीं कर सकता। या तो वह इंगलैंड का नागरिक बन कर लड़े या फ्रांस का। इस कठिनाई को दूर करने के लिये २० या २१ वर्ष की आयु तक सन्तान को यह निश्चित कर लेना पड़ता है कि वह इंगलैंड का नागरिक बन कर रहना चाहता है अथवा फ्रांस का। उसे एक राष्ट्र की नागरिकता का परित्याग करना पड़ता है। कभी कभी इन्हीं उलझनों में पड़कर व्यक्ति को दोनों की नागरिकता से हाथ धोना पड़ता है।

नागरिकता की विभिन्न कसौटियों में कौन सबसे अच्छी है, यह कहना कठिन है। जन्म अथवा स्थान दोनों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। कठिनाई यह आती है कि किस व्यक्ति को हम किस राष्ट्र का नागरिक कहें। जन्म से नागरिकता मानने में यह कठिनाई दूर हो जाती है। जो व्यक्ति जिस राष्ट्र के माता-पिता से उत्पन्न हो वह उसी का नागरिक समझा जाय। या जिस भूमि में उत्पन्न हो उसका नागरिक माना जाय। कभी कभी विदेश यात्रा में यदि किसी स्त्री को सन्तान उत्पन्न हो जाती है, और उसकी नागरिकता स्थान पर निर्भर करती है, तो बच्चा सदैव के लिये विदेशी नागरिक बन जाता है। माता की इच्छा रहते हुए भी वह अपने राष्ट्र का नागरिक नहीं कहला सकता। मान लीजिये हिन्दुस्तान में एक लड़का विदेशी माता-पिता से पैदा होता है। माता

अमेरिकन है और पिता अफ्रीका का निवासी। अब हम बच्चे को किस राष्ट्र का नागरिक कहें। इस प्रकार की कठिनाई प्रत्येक राज्य में प्रतिवर्ष कुछ न कुछ उत्पन्न होती रहती है। अब भी नागरिकता का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। अच्छा तो यह हो कि जो जिस राज्य में रहना चाहे वह उसका नागरिक समझा जाय। स्त्री, पुरुष, जाति, रंग, नीच, ऊँच के आधार पर नागरिकता का निर्णय ठीक नहीं है।

नागरिकता की प्राप्ति

प्रत्येक राज्य में इस बात का विधान रहता है कि किसी विदेशी को नागरिक बनाना हो तो क्या करना चाहिये। या किसी की नागरिकता विलुप्त हो चुकी हो तो वह पुनः कैसे प्राप्त हो। यदि ऐसा न हो तो राष्ट्र के राष्ट्र अनागरिकों से भर जायँ। विदेशियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वे जो सदैव के लिए अपनी मातृ भूमि छोड़ कर विदेशों में जाकर बस जाते हैं। वहीं कृषि या व्यापार करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं। विदेश ही उनकी मातृ भूमि हो जाती है। दूसरे प्रकार के विदेशी वे हैं जो थोड़े दिनों के लिये केवल यात्रा के उद्देश्य से या किसी आवश्यक कार्य से विदेशों में चले जाते हैं। चूँकि वे अपने राज्य के नागरिक हैं इसलिये उन्हें किसी अन्य देश की नागरिकता से कोई प्रयोजन नहीं है। वे साल छः महीने में घूम कर अपने देश को वापिस आ जायेंगे। परन्तु पहले प्रकार के विदेशी, जो अपनी जन्म भूमि को सदैव के लिए छोड़ चुके हैं, अपनी नागरिकता को खो बैठते हैं। उनके लिये किसी अन्य राज्य में नागरिकता प्राप्त होनी चाहिये। सभी राज्यों में यह नियम पाया जाता है कि विदेशी को सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। इसके लिये नागरिक और अनागरिक में कोई भेद नहीं किया जाता। राजनैतिक अधिकार विदेशी या अनागरिक को नहीं दिये जाते।

अनागरिक को नागरिक बनाने के कई विधान बनाये गये हैं। विदेशियों की सुविधा के लिये ऐसा किया गया है। ये विधान विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के हैं। एक नियम लगभग सब में पाया जाता है। वह है देशीयकरण (Naturalisation). इसके लिये विदेशी को किसी सरकारी अफ़सर के पास दरख़ास्त देनी पड़ती है कि वह अमुक राज्य का नागरिक बनना चाहता है। कुछ शर्तों की पूर्ति भी उसे करनी पड़ती है। जब यह दरख़ास्त मंज़ूर हो जाती है तो वह उसका

नागरिक हो जाता है। फिर उसे समस्त राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। राज्य की ओर से उसे एक सनद दे दी जाती है कि वह नागरिक बना लिया गया। देशीयकरण के लिये दो शर्तें आमतौर से पाई जाती हैं। एक है किसी निश्चित अवधि तक उस देश में निवास करना। इंगलैंड में देशीय करण के लिये विदेशी को कम से कम ५ वर्ष ज़रूर रहना चाहिये। पाँच वर्ष के पहिले उसे नागरिकता की सनद नहीं मिल सकती। अमेरिका में भी यही अवधि निश्चित की गई है। विभिन्न राज्यों में यह अवधि विभिन्न प्रकार की है। कहीं ७ वर्ष की कहीं पर १० वर्ष की। देशीयकरण के लिये दूसरी प्रचलित शर्त है राज-भक्ति की शपथ लेना। जो जिस राज्य का नागरिक बनना चाहता है उसे राष्ट्र भक्ति की शपथ लेनी पड़ती है। इन दो शर्तों के अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें हैं जो सब राज्यों में समान नहीं हैं। जैसे राष्ट्र भाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन पद्धति में विश्वास, अपना भरण पोषण कर सकना, ज़मीन या जायदाद ख़रीदना इत्यादि। अमेरिका में देशीयकरण के नियम बहुत ही सख़्त हैं। काले रंग के मनुष्य वहाँ नागरिकता नहीं प्राप्त कर सकते। एशिया महाद्वीप के निवासियों को बहुत कम नागरिकता प्रदान की जाती है। प्रत्येक नागरिक को अमेरिका की शासन पद्धति और वहाँ का इतिहास जानना पड़ता है।

देशीयकरण के अतिरिक्त विवाह से भी नागरिकता प्राप्त की जाती है। यदि कोई स्त्री किसी देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो वह वहाँ के किसी नागरिक से विवाह कर ले। इसके पश्चात् वह अपने पति की तरह वहाँ की नागरिक बन जाती है। यदि एक राज्य किसी दूसरे राज्य पर अपना अधिकार कर ले तो हारे हुये राज्य के समस्त नागरिक विजयी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं। कुछ देशों में यदि विदेशी कोई सरकारी पद प्राप्त कर ले तो वह वहाँ का नागरिक क़रार दिया जाता है। जब एक राज्य किसी दूसरे राज्य का कुछ भाग ख़रीद लेता है तो ख़रीदे हुये भाग के समस्त नागरिक नये राज्य की नागरिकता के अधिकारी हो सकते हैं। अलास्का को अमेरिका ने १८६७ ई० में रूस से ख़रीद लिया। परन्तु वहाँ के निवासी अमेरिका के नागरिक नहीं बन सके। इंगलैंड में यह नियम है कि अंग्रेज़ी जहाज़ पर जन्म लेने वाला, चाहे उसके माता-पिता अंग्रेज़ न भी हो, बृटिश नागरिक माना जाता है।

बनावटी और स्वाभाविक नागरिकों में कोई भेद नहीं किया जाता। दोनों को वहाँ की सरकार एक दृष्टि से देखती है। राजनैतिक कार्रवाइयों में दोनों समान रूप से भाग ले सकते हैं। स्वाभाविक और देशीयकरण द्वारा बनाये गये नागरिकों में कोई लिखित भेद न होते हुये भी कुछ परिपाटियाँ भेद को नहीं मिटा सकतीं। इंगलैंड की नागरिकता प्राप्त करने पर भी कोई भारतीय हाउस आफ़ लार्डस का सभापति नहीं बन सकता। बनावटी नागरिक अमेरिका का सभापति तथा उपसभापति नहीं हो सकता। १६२४ के पहले इंगलैंड में बहुत सी नौकरियाँ वहाँ के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १६२४ के एक नये क़ानून से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

जब कि नागरिकता प्राप्त की जा सकती है तो उसका लोप भी हो सकता है। स्वाभाविक नागरिक की भी नागरिकता छीन ली जाती है। जो बनावटी नागरिक हैं, उन्हें भी इस अधिकार से कभी कभी वंचित होना पड़ता है।

नागरिकता का लोप

यदि कोई स्त्री किसी दूसरे देश के नागरिक से विवाह कर ले तो वह अपनी नागरिकता खो बैठती है। भारतीय स्त्री किसी विदेशी से विवाह करे तो वह भारतीय नागरिक नहीं रह सकती। नागरिकता इसलिये भी छीन ली जाती है कि नागरिक किसी विदेशी राज्य में सरकारी नौकरी कर लेता है। नागरिक जब चाहे नागरिकता से इस्तीफ़ा दे सकता है। अपने देश में अनागरिक बन कर उसे रहने का पूर्ण अधिकार है। जब नागरिक बहुत दिनों तक अपनी मातृभूमि से अनुपस्थित रहता है तो वह अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं समझा जाता। एक जर्मन निवासी लगातार ४ वर्ष तक जर्मनी से बाहर रहे तो वह जर्मनी का नागरिक नहीं रह जाता। फ़ौज से भगा हुआ सिपाही अनागरिक क़रार दिया जाता है। कुछ और भी अपराध हैं जिनमें पकड़ा गया नागरिक अपनी नागरिकता खो बैठता है। सरकारी नौकरी से वहिष्कृत अथवा विदेशी राज्य की आज्ञा को मानने वाला अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं रह जाता। दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिक अपने कतिपय अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं। ऊपर के सभी नियम किसी एक ही राज्य में नहीं पाये जाते, बल्कि सभी राज्यों में नागरिकता के लोप होने का विधान अलग अलग है। यदि कोई नागरिक भिखारी का पेशा करने लगे तो वह

अपनी नागरिकता से हाथ धो बैठता है। पागल होने पर कोई व्यक्ति नागरिक नहीं रह सकता।

नागरिक अपने अधिकारों को किसी दूसरे नागरिक को नहीं दे सकता। नागरिकता बदली नहीं जा सकती। अपनी नागरिकता को कोई बेंच नहीं सकता। साधु, सन्यासी, फ़क़ीर आदि को नागरिकता नहीं दी जाती।

भारतीय नागरिक

हम सभी भारतीय-नागरिक हैं। स्त्री पुरुष दोनों को हमारे देश में समान नागरिकता प्राप्त है। ऊँच, नीच, जाति-पाँत का कोई भेद नहीं किया गया है। किसी पेशे के करने का निषेध भी नहीं है। कोई भी पेशा करे पर वह भारतीय नागरिक है। विदेशी हमारे देश में नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। इतनी सुविधा होते हुए भी भारतीय नागरिकों को वह स्वतन्त्रता नहीं है जो स्वतन्त्र देश वाले नागरिकों को प्राप्त है। हमारे देश में सरकार व्यक्ति को जब चाहे गिरफ़्तार कर सकती है और वर्षों उसे जेल में रख सकती है। नागरिक को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अपना मुक़दमा कचहरी में पेश कर सके। नागरिकों की राय के विरुद्ध गवर्नर जेनरल फरमान जारी कर सकते हैं। यद्यपि भारतवर्ष बृटिश साम्राज्य का एक प्रधान अंग है परन्तु भारतीय नागरिक को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह बृटिश साम्राज्य में जहाँ चाहे रह सके और उसकी नागरिकता प्राप्त कर सके। फ़ौजी महकमें में बहुत सी नौकरियाँ भारतीय नागरिक को नहीं मिल सकतीं। भारतीय प्रेस भी स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी समय उसकी तलाशी ली जा सकती है। भारतीय नागरिक अपने विचारों को प्रकट करने में स्वतन्त्र नहीं है। इसका पत्र पढ़ा जा सकता है और सरकार उसे ज़ब्त कर सकती है। सभा-सुसाइटी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। कांग्रेस की अनेक सभाओं पर रुकावटें लगाई गई हैं। और देशों में नागरिक को मुफ़्त और अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाती है, परन्तु भारतीय नागरिक इन दोनों से वंचित रक्खा गया है। सरकार की ओर से नागरिक के काम काज की कोई व्यवस्था नहीं है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय नागरिकता पूर्ण नहीं है। इसके विकास के लिये साधनों की कमी है। कांग्रेस पिछले ५० वर्षों से इस बात की माँग पेश कर रही है कि राष्ट्रीयता की सभी सुविधायें भारतीय नागरिकों को मिलनी चाहिए। विदेशों में अभी तक इनका स्थान

ऊँचा नहीं है। जब स्वयं बृटिश साम्राज्य उन्हें अछूत समझता है तो और राज्यों की बात ही क्या है। आशा है हम भारतीय नागरिकों की माँगें पूरी होंगी।

आदर्श नागरिक

राज्य इस बात का प्रयत्न करता है कि अच्छे नागरिक पैदा हों। इसके लिये उसे तरह तरह की सुविधायें देनी पड़ती हैं। शिक्षा का प्रचार तथा कलाओं को प्रदान करना पड़ता है। न्याय और एकता का ध्यान रखना पड़ता है। देश में शान्ति रखनी होती है। लोगों में तरह तरह के व्यवसाय को लाकर उनके भोजन की व्यवस्था सुधारना पड़ता है। यदि ये सुविधायें सरकार की ओर से प्राप्त न हों तो अच्छे नागरिक पैदा नहीं हो सकते। लार्ड ब्राइस का कहना है कि आदर्श नागरिक में तीन गुणों का होना आवश्यक है। बुद्धि चमत्कार, आत्मसंयम और सहानुभूति। नागरिक को राजनैतिक तथा सामाजिक प्रबन्ध में भाग लेना पड़ता है। उसमें इतनी बुद्धि अवश्य होनी चाहिए कि वह भले बुरों को पहचान सके। वह उन्हीं को वोट दे जिन्हें वह योग्य समझता है। धारा सभाओं में कभी कभी अयोग्य व्यक्ति आ जाते हैं। यदि जनता अपनी नागरिकता का मूल्य समझती और बुद्धि से काम लेती तो अयोग्य व्यक्ति को कोई ज़िम्मेवार काम न देती।

आत्मसंयम के बिना नागरिक अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता। यह भाव मनुष्य में तभी आ सकता है जब उसमें आज्ञापालन की शक्ति हो। नागरिक को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ के सामने समाज हित को बड़ा समझे। स्वार्थी मनुष्य आदर्श नागरिक नहीं बन सकता। राष्ट्र की सच्ची सेवा वही कर सकता है जो अपने स्वार्थ के साथ अपने पड़ोसी की सुविधाओं का ध्यान रखता है। परन्तु इस आज्ञापालन के अन्दर भय तथा कमज़ोरी का भाव नहीं होना चाहिए। इससे आत्मसंयम के बदले आत्मसंकोच का भाव पैदा होगा। आदर्श नागरिक में भय तथा कमज़ोरी नहीं होनी चाहिए। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की लिखता है "सरकारी आज्ञा का वहीं तक पालन करना चाहिए जहाँ तक उसमें आत्म उन्नति का समावेश हो।"

आदर्श नागरिक का तीसरा लक्षण सहानुभूति है। प्रेम के बिना आत्मसंयम और शान्ति असम्भव है। जब तक हमारा हृदय इतना कोमल न हो कि हम औरों पर अपने गुणों का प्रभाव डाल सकें तब तक हमारे

सभी प्रयत्न समाज हित के लिये निष्फल सिद्ध होंगे। सहानुभूति से नागरिक ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि बुराइयों का शिकार नहीं बनता।

ह्वाइट नामक एक राजनीतिज्ञ ने आदर्श नागरिक के दूसरे तीन गुण बतलाये हैं। वे हैं बुद्धि, ज्ञान और लगन। बुद्धि का तात्पर्य है अपने सभी कामों को अच्छी तरह समझना। ज्ञान का अर्थ है सम्पूर्ण राष्ट्र की आवश्यकताओं को सोचकर मनुष्यमात्र की उन्नति की व्यवस्था करना। लगन का अर्थ है कार्य कुशलता। मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये सदैव तत्पर रहे। नागरिक का कर्तव्य यही नहीं है कि वह सरकारी हुक्मों की तामील करता रहे उसके ऊपर कुछ और भी ज़िम्मेवारियाँ हैं। उसे राज्य की उन्नति करनी है और समाज को आगे बढ़ाना है। "नागरिक कर्तव्य" एक व्यापक शब्द है जिसकी व्याख्या आदर्श नागरिक ही कर सकता है।

नागरिक के कर्तव्यों का कोई विभाजन नहीं हो सकता। उसके गुणों को भी हम टुकड़ों में नहीं बाँट सकते। आदर्श व्यक्ति ही आदर्श नागरिक है। जिसे मनुष्यत्व का ज्ञान है उसे नागरिकता का भी ध्यान ज़रूर होगा। आदर्श नागरिक में चरित्र, स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता, सहयोग, न्याय, स्फूर्ति, सेवा-भाव आदि गुण होने चाहिए। इन्हीं गुणों से समाज की भलाई होती है। यदि नागरिक के अन्दर पक्षपात और साम्प्रदायिकता का भाव आया तो उसका और समाज दोनों का पतन होगा। हमारे देश में आदर्श नागरिकों का अभाव है। इसका मूल कारण सरकार की उदासीनता है। देश में बेकारी और ग़रीबी इतनी बढ़ रही है कि अधिकतर लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही संलग्न रहते हैं। यदि सरकार इसकी व्यवस्था करे तो लोगों का ध्यान कुछ ऊँची बातों की ओर लगे। इन्हीं कारणों से अच्छी सरकार बीमा, बैंक, पेंशन, फ़ंड आदि की व्यवस्था करती है। बीमारी के लिये दवाख़ानों का प्रबन्ध करती है। आदर्श नागरिक बनने के लिये नागरिक को सेवा कार्यों की ओर अधिक झुकना होगा। दीन दुखियों का उसे ध्यान रखना होगा। सरकार भी इस बात का ध्यान रक्खे कि राज्य में गुंडे, निपढ़, चोर, डाकू पैदा न हों। शासन की व्यवस्था इतनी ठीक हो कि नागरिक की आत्म उन्नति में बाधा न पड़े।

हमारे शास्त्रों में आदर्श नागरिक के तीन लक्षण माने गये हैं।

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्। आदर्श नागरिक को देश और काल का विचार करके आगे चलना होगा। क़ानूनों का पालन नागरिक के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श नागरिक सम्पूर्ण राष्ट्र को इसके पालन की ओर झुकाता है। सच्ची नागरिकता विश्व एकता का प्रधान लक्षण है और आदर्श नागरिक विश्व में आदर्श व्यक्ति माना जाता है। उसे अपने और विदेशी में कोई अन्तर नहीं रह जाता। उसकी दृष्टि मानव-समाज को एक समान देखती है। ऊँच-नीच तथा छोटे-बड़े का ध्यान उसके दिल से निकल जाता है। उसके जीवन से समाज में सहयोग का प्रचार होता है। कवियों ने उसका नाम 'सज्जन' रक्खा है। तुलसीदास के निम्नलिखित पदों से उसके कुछ गुणों का आभास होता है।

पर उपकार वचन मन काया।
संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत उदय संतत सुखकारी।
विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥

आदर्श नागरिक बनने में कुछ बाधायें

जब सच्ची नागरिकता इतनी ऊँची चीज़ है और सरकार को आदर्श नागरिकों से लाभ पहुँचता है तो वे पैदा क्यों नहीं होते? अच्छे कामों में बड़ी बड़ी रुकावटें होती हैं। यहाँ भी हमें इन्हीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

१—पहिली कठिनाई अज्ञानता की है। भारतीय जनता शिक्षित नहीं है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि सामाजिक जीवन का क्या महत्व है। सेवा को आम जनता बेकार समझती है। उसे अपने ही कामों से मतलब है। सभा-सम्मेलन में भाग लेना उसके काम में बाधा मालूम पड़ती है। उसे अपने कामों का महत्व दिखलाई पड़ता है औरों का नहीं। यदि उसकी अज्ञानता दूर हो जाय तो वह एक आदर्श नागरिक बन सकती है। जब तक राष्ट्रीय शिक्षा न मिलेगी तब तक आदर्श नागरिक पैदा नहीं हो सकते।

२—दूसरी कठिनाई स्वार्थ की है। मनुष्य स्वभाव से अपने स्वार्थ को पहिले देखता है। अपना बच्चा सब को प्रिय है। कोई भी ऐसा नहीं मिल सकता जो अपने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दे। यदि ऐसा कोई है तो वह महापुरुष है। स्वार्थ इतनी बड़ी रुकावट है कि बड़े से बड़े सामाजिक काम नष्ट हो जाते हैं और सहयोग का अभाव

हो जाता है। स्वार्थ से वशीभूत मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान नहीं रखता। अकसर देखा जाता है कि स्वार्थ हित के लिये लोग वोट ख़रीदते हैं, जनता में झूठी बातों का प्रचार करते हैं, लोगों को धोखा देते हैं और एक दूसरे का प्राण तक ले लेते हैं। अमानुषिक भावों का प्रादुर्भाव स्वार्थ से होता है। स्वार्थ के लिये जनता की रक़म का दुरुपयोग किया जाता है और उस पर तरह तरह के टैक्स लगाये जाते हैं। जब तक स्वार्थ हमारे जीवन का एक अंग है तब तक हमारे कामों में सचाई का अभाव रहेगा। इस भावना से प्रेरित व्यक्ति आदर्श नागरिक नहीं बन सकता।

३—आदर्श नागरिक बनने में तीसरी कठिनाई गिरोहबन्दी की है। प्रजातन्त्र राज्य में गिरोहबन्दी कोई बुरी चीज़ नहीं है लेकिन यह किसी सिद्धान्त पर होनी चाहिये। स्वार्थ-साधन के लिये पार्टी बनाना प्रजा-तन्त्रवाद की हँसी उड़ाना है। गिरोहबन्दी में जब स्वार्थ साधन का भाव रहता है तो तरह तरह के गन्दे विचारों का प्रादुर्भाव होता है। एक गिरोह का नागरिक दूसरे गिरोह को अपना शत्रु समझता है। वह प्रति क्षण उसकी बुराई में ही तल्लीन रहता है। समाज हित एक गौण विषय रह जाता है। कभी कभी गिरोहें आर्थिक लाभ की दृष्टि से बनती हैं। सदस्यों के अन्दर राजनैतिक अथवा सामाजिक सेवा का भाव कम होता है। इसका प्रभाव आम जनता पर बुरा पड़ता है। वह शासकों की हरकतों को देखकर समाज-हित की ओर से उदासीन हो जाती है। जिस समाज में इस प्रकार की गिरोहें बनती रहेंगी उसमें आदर्श नागरिक पैदा नहीं हो सकते।

४—भारतवर्ष में आदर्श नागरिकों के अभाव के कुछ और भी कारण हैं। वर्ण व्यवस्था के कारण हमारा समाज टुकड़े टुकड़े में विभाजित है। कार्य की दृष्टि से यह विभाजन कोई बुरी चीज़ नहीं है, लेकिन इनमें आपस में सहानुभूति का अभाव है। छुआ-छूत तथा ऊँच-नीच के कारण लोगों में सहयोग नहीं हो सकता। जाति पाँति की बीमारी इतनी भयंकर है कि हमें आगे नहीं बढ़ने देती। इसके अतिरिक्त हमारे देश में साम्प्रदायिकता का जाल सा फैला हुआ है। हिन्दू मुसलमान का प्रश्न इतना जटिल है कि दोनों एक साथ मिल कर उन्नति नहीं कर सकते। आदर्श नागरिक इनमें तब तक पैदा नहीं हो सकते जब तक ये कमज़ोरियाँ दूर न हो जायँ। थोड़े से लोग इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम है।

हमारे देश में राजनैतिक गिरोह भी जातीयता के आधार पर बनते हैं। इससे राष्ट्र हित में बाधा पड़ती है। जब हम सभी मनुष्य हैं, सभी एक देश में रहते हैं तो नीच-ऊँच का सवाल कहाँ पैदा होता है। जब तक हमें धोती और पाजामें में अन्तर दिखलाई देगा तब तक हम सच्चे नागरिक नहीं बन सकते। हमारे विचार तभी ऊँचे होंगे जब हम मनुष्य को मनुष्य समझें, उसे हिन्दू, मुसलमान, अछूत, इसाई आदि न समझें। ऊँची नागरिकता अन्तर को नहीं देखती वरन् उसकी दृष्टि सहयोग की ओर रहती है।

५—सबसे बड़ी कठिनाई उदासीनता की है। बहुत से लोग सार्वजनिक कामों से सदैव उदासीन रहते हैं। वे यह समझते हैं कि दूसरे लोग जब कर ही रहे हैं तो उनकी क्या आवश्यकता है। उनका यह विचार है कि सामाजिक कार्यों की जिन पर ज़िम्मेवारी है वे करें। उन्हें यह मालूम नहीं है कि यदि सब लोग इसी प्रकार सोचने लगें तो क्या यह समाज एक दिन भी चल सकता है! ये जितने स्कूल, कालेज, क्लब, लाइब्रेरी आदि दिखलाई पड़ते हैं ये सब किसी न किसी के बनवाये हुए हैं। जिन वृक्षों के नीचे हम धूप से बँचने के लिये विश्राम करते हैं और जिन कुओं से पानी पीते हैं वे किसी न किसी के परिश्रम के ही फल हैं। जब हम दूसरों की मिहनत से लाभ उठाते हैं तो क्या हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है? सार्वजनिक काम का कोई एक मनुष्य ज़िम्मेवार नहीं है। किसी को भी इससे उदासीन होने की आवश्यकता नहीं है। इसी उदासीनता के कारण आदर्श नागरिक बनने का भाव लोगों के अन्दर पैदा नहीं हो पाता। लोग सामाजिक बुराई को देखते हुए भी आँखें बन्द रखते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज में तरह तरह की गन्दगी पैदा होती है और सभी लोग उसके शिकार बनते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं पड़ता कि उनकी उदासीनता ही इन बुराइयों की जड़ है।

यदि सच्ची नागरिकता लानी है तो इन बुराइयों को निकालना होगा। इनके स्थान पर अच्छे अच्छे गुणों को रखना होगा। यह सब तभी होगा जब राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार किया जाय। सामाजिक विचार तभी बन सकते हैं जब सामाजिक शिक्षा दी जाय। नागरिक शिक्षा नागरिकता की जड़ है। प्रजातन्त्रवाद की सफलता के लिये यह शिक्षा अनिवार्य है। शारीरिक उन्नति के साथ लोगों में चरित्र बल की भी वृद्धि करना होगा। चरित्रहीन मनुष्य अपना और पराये किसी का भी हित नहीं कर

सकता। जब लोगों का आचरण ठीक होगा तभी उनके अन्दर सेवा के भाव पैदा होंगे। तभी उन्हें आदर्श का महत्व जान पड़ेगा। जब तक बुद्धि संकुचित रहती है तब तक मनुष्य पग पग पर डरता रहता है। उसे किसी काम में दिलचस्पी नहीं होती। नागरिकता में उत्साह की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसीलिये आदर्श नागरिक बनने के लिये विद्ध्वंसात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार के कामों की आवश्यकता है।

—:०:—

अध्याय ३

अधिकार और कर्तव्य

"अधिकारों और कर्तव्यों के सम्यक् ज्ञान से ही सत्कर्म की प्रेरणा होती है।"

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध—अधिकार—अधिकार और शक्ति—अधिकार की आवश्यकता—अधिकारों के भेद—राजनैतिक अधिकार—सरकारी नौकरी सम्बन्धी अधिकार—निर्वाचन का अधिकार—आवेदन का अधिकार—सामाजिक अधिकार—जान की रक्षा—क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है?—क्या मनुष्य दूसरे का प्राण ले सकता है?—क्या समाज किसी व्यक्ति का प्राण ले सकता है?—सम्पत्ति अधिकार—धार्मिक अधिकार—भाषण और लेखन का अधिकार—समानता का अधिकार—साधारण अधिकार—कौटुम्बिक अधिकार—प्राकृतिक अधिकार—शिक्षा का अधिकार—अधिकार और चरित्र—कर्तव्य—कर्तव्य और धर्म—नागरिक के कर्तव्य—देश भक्ति—आज्ञा पालन—करों को चुकाना—नागरिकता का सदुपयोग—श्रम—नागरिक के अन्य कर्तव्य।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र के अन्दर नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य का वर्णन किया जाता है। अधिकार और कर्तव्य दोनों सम्मिलित शब्द हैं। नागरिक को राज्य की ओर से कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। इन्हीं के बदले में उसे राज्य के प्रति बहुत से कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। जिस प्रकार लेन देन दोनों शब्द साथ साथ चलते हैं, और यह सम्भव नहीं है कि लेने वाला तो हो पर देने वाला न हो, उसी प्रकार यह भी सम्भव नहीं है कि अधिकार रहे परन्तु कर्तव्य न हो; जिसे थोड़ा भी अधिकार प्राप्त है उसे कर्तव्य का पालन करना होगा। पिता का पुत्र तथा स्त्री पर पूर्ण अधिकार होता है। वह पुत्र को जहाँ चाहे भेजे और जैसी चाहे शिक्षा दे। परन्तु उसके प्रति पिता के कर्तव्य भी बहुत हैं। पिता का यह धर्म है कि वह

बच्चे को शिक्षा तथा भोजन-वस्त्र दे और कुमार्ग पर जाने से बचावे। राज्य में सरकार का व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है। लेकिन सरकार का कर्तव्य भी उससे कम नहीं है। उसे प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करनी पड़ती है। नागरिक की शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। जनता में नैतिक उन्नति का ध्यान रखना पड़ता है। जिस प्रकार नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का कहीं अन्त नहीं है उसी प्रकार सरकार के भी अधिकार और कर्तव्य अनन्त हैं। जो अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता उसके अधिकार भी छीन लिये जाते हैं। कर्तव्य हीन नागरिक अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

अधिकार और कर्तव्य तभी तक नागरिक के साथी हैं जब तक वह समाज में रहता है। एकान्त में रहने वाले व्यक्ति को न किसी अधिकार की आवश्यकता है और न कर्तव्य की। जब तक मनुष्य सामाजिक जीव के नाते समाज का एक अंग नहीं बनता तब तक उसे कोई अधिकार नहीं मिलते। जब उसका सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनों से होता है तब उसे अपना कर्तव्य दिखाई पड़ता है। जब कर्तव्य के पालन का प्रश्न उठता है तो उसे अधिकार की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार दिन और रात का सम्बन्ध है उसी तरह अधिकार और कर्तव्य का। केवल एक से मनुष्य का काम नहीं चल सकता। जिसके अधिकार छीन लिये जाते हैं वह कर्तव्यहीन हो जाता है। क़ैदी की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। उसे यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह जेल की दीवारों के बाहर निकल सके। परिणाम यह होता है कि वह अपने कुटुम्ब आदि के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है। एक का अधिकार दूसरे का कर्तव्य है और अपना कर्तव्य ही दूसरों का अधिकार है। चीज़ एक है। दो दृष्टियों से हम उसे देखते हैं। दोनों ही एक साथ चलते हैं। केवल एक से मनुष्य अपने कामों को पूरा नहीं कर सकता। अधिकार और कर्तव्य दोनों के रहते हुये भी राज्य को कुछ सुविधायें देनी पड़ती हैं जिससे मनुष्य इनका उपयोग कर सके। यदि राज्य की ओर से शान्ति, एकता, समानता आदि प्राप्त न हों तो अधिकार रखते हुये भी लोग अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर पायेंगे। इन्हें पूरा करने के लिये नागरिक को किसी अंश तक स्वतन्त्रता भी चाहिये।

नागरिक का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि उसे इस बात

अधिकार

का अवसर दिया जाय कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। यदि उसे यह अधिकार नहीं मिला तो बाक़ी अधिकारों से उसे कोई लाभ नहीं है। अधिकार एक प्रकार की शक्ति है जिससे मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। 'हमारा' और 'तुम्हारा' शब्द बहुत ही प्राचीन हैं। इनसे अधिकारों की सीमा का ज्ञान होता है। अधिकार इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य औरों से अपना सम्बन्ध रखता है।

अधिकार और शक्ति

ऊपर कहा गया है कि अधिकार एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो हमें अधिकार और शक्ति में भेद मालूम पड़ता है। अधिकार मनुष्य को बाहर से मिलता है. लेकिन शक्ति अपने आप पैदा होती है। अधिकार से किसी कर्त्तव्य का ज्ञान होता है परन्तु शक्ति का कर्त्तव्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अधिकार का अपहरण किया जा सकता है, लेकिन शक्ति को कोई नहीं छीन सकता। वोट देने का नागरिक को एक अधिकार दिया गया है, परन्तु उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपना वोट किसी को दे या न दे। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह ज़बरदस्ती किसी से वोट दिलवाये। मनुष्य अपने प्रत्येक काम को अपनी शक्ति द्वारा करता है, परन्तु उसे थोड़े ही काम ऐसे करने पड़ते हैं जिनमें अधिकार का ध्यान रखना पड़े। शक्ति और अधिकार का सम्बन्ध इतना ही है कि राज्य अथवा समाज की ओर से जिन शक्तियों की स्वीकृति मिल जाती है वे अधिकार बन जाया करती हैं। एक मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति को नहीं ले सकता। लेकिन पुत्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह पिता की सम्पत्ति का मालिक हो सके। 'शक्ति' शब्द व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है परन्तु अधिकार का सम्बन्ध राज्य और व्यक्ति दोनों से है।

अधिकार की आवश्यकता

अधिकार के बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। जब नागरिक को यह ज्ञान नहीं है कि उसे क्या क्या अधिकार प्राप्त हैं तो बहुतों को वह हानि पहुँचा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सीमा के अन्दर रहे, और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले यही अधिकार का मूल सिद्धान्त है। व्यक्ति को उतने ही अधिकार दिये जाते हैं जहाँ तक उन्हें निबाहने की उसमें शक्ति है। राजनीतिज्ञों

का मत है कि एक समय ऐसा था जब कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। मनुष्य जंगली अवस्था में था। उस समय किसी का कोई अधिकार सीमित न था। प्रत्येक की जो शक्ति थी वही उसका अधिकार था। परिणाम यह होता था कि मारपीट, कलह, द्वेष आदि का प्रचार था। अधिकार की सीमा ने समाज की रचना की। अधिकार से ही समाज की जड़ रोपी गई है। जब तक मनुष्य को समाज में रहकर एक दूसरे के प्रति कुछ करना है तब तक अधिकारों की उसे आवश्यकता है। यदि लोग अपने अपने अधिकारों को भली भाँति समझ लें और उन पर आचरण करें तो सभी लड़ाई झगड़े तथा वैर-विरोध अपने आप नष्ट हो जायँ। अधिकारों के उलंघन से ही सामाजिक बुराइयाँ पैदा होती हैं। कुत्ते को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह जिसे चाहे काट सकता है। परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह किसी को दुख देता है तो अपने अधिकार की सीमा को तोड़ता है। इसलिये सरकार उसे उचित दंड देगी। सरकार का कर्तव्य है नागरिक के अधिकार की रक्षा करना। यदि हमें सरकार की आवश्यकता है तो अधिकार भी हमें चाहिये। मनुष्य बन्धन को तभी स्वीकार कर सकता है जब उसे इससे कुछ लाभ हो। अधिकारों की आवश्यकता हमें इसीलिये है कि हम अपने कर्तव्यों को पहचान सकें।

अधिकार एक प्रकार की ताक़त है जिसे समाज ने व्यक्ति के लिये बनाया है। इसका उद्देश्य है व्यक्तित्व का विकास।

अधिकारों के भेद अधिकारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। राजनैतिक और सामाजिक अधिकार। इन्हीं दोनों के अन्दर नागरिक के समस्त अधिकार आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ अधिकार हैं जिन्हें थोड़े से लोग मानते हैं। अधिकारों की गणना नहीं हो सकती। जीवन के विकास के साथ अधिकारों की वृद्धि होती रहती है। इसलिये अधिकार घटते बढ़ते रहते हैं। इनकी वृद्धि से मनुष्य के विकास का आभास होता है। पर राष्ट्र की उन्नति का लक्षण है कि नागरिक को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हों।

राजनैतिक अधिकार राजनैतिक अधिकार वे हैं जो नागरिक को राज्य की ओर से दिये जाते हैं। जब तक किसी व्यक्ति को ये अधिकार नहीं दिये जाते तब तक वह नागरिक नहीं कहा जा सकता। ये अधिकार नागरिक को अपनी उन्नति

करने का अवसर देते हैं। राजनैतिक अधिकारों में ऐसी विशेषतायें हैं जो सामाजिक अथवा अन्य अधिकारों में नहीं पाई जातीं। राजनैतिक अधिकार समानता पर निर्भर हैं। राज्य की नज़रों में धनी ग़रीब, छोटे बड़े सभी बराबर हैं। नागरिकता के नियम के अन्दर सभी एक हैं। धनी, ग़रीब जो भी अपने अधिकारों का दुरुपयोग करेगा और समाज को हानि पहुँचायेगा वह उचित दंड का भागी होगा। यदि ऐसा न हो तो न्याय का पालन नहीं हो सकता। राजनीति का अर्थ है न्याययुक्त शासन। इसलिए अधिकार भी न्यायसंगत होने चाहिये। राजनैतिक अधिकारों की दूसरी विशेषता है स्पष्टता। समस्त राजनैतिक अधिकार लिखे हुए होते हैं। अन्य अधिकारों में यह विशेषता नहीं है। ये सभी राज्यों में समान नहीं होते हैं। जो अधिकार नागरिक को इङ्गलैंड में प्राप्त हैं वे जर्मन नागरिक को जर्मनी में नहीं। विभिन्न शासन पद्धति में भी एक ही देश में नागरिक के अधिकार बदलते रहते हैं। किसी समय प्रत्येक नागरिक कोई हथियार रख सकता था लेकिन आज ऐसा नहीं है। राजनैतिक अधिकार मुख्य ३ हैं :—

सरकारी नौकरी सम्बन्धी अधिकार

१— इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हर एक आदमी को सभी नौकरियाँ मिल सकती हैं। कोई पद नागरिक को तभी मिल सकता है जब उसकी सभी शर्तों को वह पूरा करे। प्रत्येक नौकरी के लिये किसी ख़ास हद तक शिक्षा की आवश्यकता होती है। सब में थोड़ा अनुभव और ज्ञान भी रखना पड़ता है। राज्य की ओर से प्रत्येक स्थान की शर्तें नागरिक को सूचित कर दी जाती हैं। जो उन्हें पूरा करें वे उसके अधिकारी हो सकते हैं। एक ग़रीब से ग़रीब आदमी को भी इस बात की स्वतंत्रता रहती है कि वह बड़े से बड़े पद को प्राप्त कर सके। जाति, कुल, रूप, रंग अथवा धर्म के कारण कोई नागरिक किसी पद से वंचित नहीं रक्खा जाता। सभी प्रजातंत्र राज्यों में यह नियम बर्ता जाता है। शिक्षा और चरित्र का ध्यान सब में दिया जाता है। किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता। हर एक सरकारी विभाग सभी योग्य व्यक्तियों के लिये एक समान खुला होता है। नागरिक के अतिरिक्त और किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। इस नीति का फल यह होता है कि राज्य के अच्छे से अच्छे नागरिक चाहे धनी हों अथवा गरीब, सरकारी नौकरियों में आते रहते हैं। नागरिक को सरकार की टीका टिप्पणी करने का अवसर कम मिलता है।

निर्वाचन का अधिकार

२—दूसरा राजनैतिक अधिकार निर्वाचन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड तथा व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों के चुनाव में नागरिक को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। निर्वाचन दो प्रकार से प्राप्त किये जाते हैं। एक में सम्पूर्ण नागरिक प्रत्यक्ष अपनी अनुमति दे सकते हैं। दूसरे में अप्रत्यक्ष रूप से अनुमति प्राप्त की जाती है। इस मताधिकार के लिये कुछ ऐसे बंधन हैं जो सभी नागरिकों पर एक समान लागू होते हैं। पहिला प्रतिबंध आयु का है। हमारे देश में १८ वर्ष से कम उम्र वालों को किसी प्रकार का निर्वाचन अधिकार प्राप्त नहीं है। किसी किसी देश में स्त्री पुरुष में भी भेद किया गया है। किसी हद तक साम्पत्तिक योग्यता की भी आवश्यकता पड़ती है। ख़ास ख़ास अपराधियों को भी अपनी अनुमति देने का अधिकार नहीं दिया जाता। कहा जाता है कि शिक्षा और मत दोनों के अधिकार साथ साथ चलते हैं। इस अधिकार को प्रदान करने में सरकार की यह नियत रहती है कि नागरिक अपने हित और अहित दोनों का ध्यान रक्खे। शिक्षा का प्रतिबंध इस दृष्टि से न्याय संगत है। परन्तु शेष रुकावटें नागरिकता की निर्बलता प्रगट करती हैं। धनाभाव के कारण किसी को मताधिकार से वंचित करना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारों में यह सबसे आवश्यक अधिकार है। प्रजातंत्रवाद का स्रोत यहीं से आरम्भ होता है। पूर्ण प्रजातंत्रवाद उसी को कहना चाहिये जिसमें प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेद भाव के अपना मत देने का अधिकार हो।

विदेशी, नाबालिग़, विशेष अपराधी तथा सर्वथा अयोग्य व्यक्तियों को छोड़कर सभी नागरिकों को यह अधिकार मिलना चाहिये। आधुनिक युग, जो प्रजातंत्रवाद का युग कहलाता है, मताधिकार पर विशेष ज़ोर देता है। सभी लोग इस बात पर विचार कर रहे हैं कि यह अधिकार धनी, ग़रीब, पढ़े तथा अनपढ़ सबको प्राप्त होना चाहिये। इसके प्रतिपक्षी यह दलील पेश करते हैं कि जो किसी प्रकार का टैक्स दे उसी को मताधिकार मिलना चाहिये। टैक्स से वंचित मनुष्य को मताधिकार से वंचित किया जा सकता है। जनता के राज्य का यही अर्थ है कि शासन में सभी समान रूप से भाग ले सकें। अच्छे क़ानूनों के निर्माण में सब को स्वतंत्रता होनी चाहिये और बुरे क़ानून के बहिष्कार का भी उन्हें उतना ही अधिकार मिलना चाहिये। इस अधिकार को लेकर नागरिक एक बहुत बड़े कर्त्तव्य

का आभारी हो जाता है। फिर उसे यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक नियम बुरा है। नागरिक के कर्त्तव्य की सबसे बड़ी कसौटी निर्वाचन क्षेत्र में होती है। वहीं उसके न्याय, दृढ़ता और ज़िम्मेवारी इन तीनों की परीक्षा होती है। निर्वाचन में अल्प संख्यकों की रक्षा का भी ध्यान रक्खा जाता है। साम्प्रदायिक निर्वाचन या पृथक् प्रतिनिधित्व सभी दृष्टियों से हानिकर है। किसी समाज को राजनैतिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों में बाँटना राष्ट्रीयता का विनाश करना है। किसी सम्प्रदाय विशेष की रक्षा कई प्रकार से की जा सकती है।

आवेदन का अधिकार

३—नागरिक को जब शासन में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं तो उसे यह भी अधिकार मिलना चाहिये कि शासन की कमज़ोरियों को वह प्रगट कर सके। सरकारी अफ़सरों के पास लिखित आवेदन पत्र देने का अधिकार उसे होना चाहिये। चाहे यह अधिकार व्यक्तिगत रूप में दिये जायँ अथवा सामूहिक रूप से। परन्तु शासन की शुद्धि के लिये सभी दृष्टियों से यह अधिकार न्याय-संगत है। जब विचार ही चीज़ों को अच्छा और बुरा सिद्ध करते रहते हैं तो नागरिक को अपनी बनाई हुई शासन व्यवस्था में उलट फेर करने का अधिकार अनुचित न होगा। आवेदन सम्बन्धी अधिकार विचारों की स्वतंत्रता में ही आ जाते हैं। यदि नागरिक को अपने विचार प्रगट करने का अधिकार है तो वह शासन व्यवस्था की कमज़ोरियों को भी जनता और सरकार दोनों के सामने रख सकता है। अनुचित टीका टिप्पणी किसी भी क्षेत्र में व्यावहारिक नहीं है। किन्तु कार्य-कुशलता की कसौटी का ध्यान रखते हुये नागरिक अपने शासकों को इस बात की चेतावनी दे सकता है कि वह व्यावधानिक नीति से अपने को अलग न रक्खे। इससे भी बढ़कर नागरिक-समूह को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वे प्रचलित शासन व्यवस्था को हटाकर उससे अच्छी कोई दूसरी शासन पद्धति ला सकें। यदि नागरिक को ऐसा अधिकार नहीं है तो शास्त्रीय दृष्टि से इसे राजनैतिक आत्महत्या कहना कोई अनुचित न होगा।

सामाजिक अधिकार

राजनैतिक और सामाजिक दोनों अधिकार समाज में ही प्राप्त होते हैं। दोनों की स्वीकृति प्रजा को राज्य की ओर से मिलती है। अन्तर केवल इतना है कि राजनैतिक अधिकार शासन की मशीन से जुड़ा होता है, परन्तु सामाजिक

अधिकार राज्य के किसी एक अंग से मिला नहीं रहता। इसके अतिरिक्त राजनैतिक अधिकार केवल नागरिक को दिये जाते हैं, परन्तु सामाजिक अधिकार राज्य में सबको प्राप्त रहते हैं। सामाजिक अधिकार स्त्री, पुरुष, विदेशी, नागरिक, बालक, वृद्ध सभी को एक समान दिये जाते हैं। राजनैतिक अधिकार का क्षेत्र संकुचित है। सामाजिक अधिकार बहुत ही विस्तृत है। इस अधिकार का कहीं अन्त नहीं है। मोटे तौर से कुछ सामाजिक अधिकारों पर हम विचार करेंगे।

१—राज्य में प्रत्येक प्राणी की रक्षा करना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है।

जान की रक्षा

राज्य की ओर से यह आश्वासन सब को प्राप्त रहता है कि शरीर सुरक्षित है। किसी भी प्रकार से कोई एक दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाने का अधिकारी नहीं है। प्रत्येक को राज्य में यह अधिकार है कि वह अपनी रक्षा के लिये सब कुछ कर सके। प्राण रक्षा का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अधिकार है कि वह जैसे चाहे रहे, परन्तु अपनी ही तरह औरों की रक्षा में बाधक न हो। यदि जीवन की ही रक्षा न हो तो अन्य अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। सती आदि प्रथायें इसी आधार पर बुरी और न्याय विरुद्ध ठहराई गई हैं। जान की रक्षा का भार व्यक्ति और समाज दोनों पर है। सरकार भी इसके लिये बाध्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी को शारीरिक हानि पहुँचाता है तो सरकार उसे उचित दंड देती है। यदि कोई गिरोह, चाहे वह बड़ा से बड़ा क्यों न हो, किसी व्यक्ति को शारीरिक दंड देती है तो सरकार समूचे गिरोह को अपराधी समझ कर दंड देती है। कोई भी किसी की जान नहीं ले सकता। इसकी सज़ा, फाँसी अथवा आजन्म कारावास है। किसी की हत्या करना पाप ही नहीं बल्कि सबसे बड़ा अपराध है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है? जब व्यक्ति स्वतन्त्र है तो क्या उसे अपनी जान देने का अधिकार है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक बात का और विचार करना होगा।

संसार में जितने जीव हैं सब में कुछ ऐसे प्राकृतिक गुण हैं जिनसे वे अपनी रक्षा करते हैं। बन्दर को मारिये तो वह तुरन्त पेड़ पर चढ़ जायगा। चूहे को थोड़ी भी आहट मिली कि वह बिल में घुस जायगा। यही हाल चिड़ियों की भी है। जंगली जानवर तो मनुष्य की शकल देखते ही कोसों दूर भग जाते हैं। जब सभी जीवों को आत्मरक्षा का अधिकार है तो

मनुष्य भी इसका अधिकारी है। उसकी रक्षा के लिये राज्य की ओर से सेना और पुलीस रक्खी जाती है। परन्तु प्रत्येक अवसर पर यह सम्भव नहीं है कि उसे पुलीस आदि की सहायता प्राप्त हो सके। इसी लिये नागरिक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह हथियार आदि रख सके। यद्यपि बाहरी तथा भीतरी आक्रमणों से सरकार बचाने का प्रयत्न करती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रक्षा का पूर्ण अधिकारी है। यदि कोई शत्रु उस पर आक्रमण करे तो वह चाहे जिस प्रकार हो अपनी रक्षा कर सकता है। इस रक्षा में शत्रु का प्राण भी चला जाय तब भी नागरिक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। इतना अधिकार प्राप्त करके भी नागरिक का जीवन सुरक्षित नहीं है। जब कोई लड़ाई छिड़ती है तो सरकार जिसे चाहे फ़ौज में भरती कर सकती है। उस समय नागरिक की रक्षा का प्रश्न उठता ही नहीं। राष्ट्रहित के निमित्त व्यक्ति के हित का त्याग करना पड़ता है।*

क्या मनुष्य आत्म-हत्या कर सकता है?

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि क्या मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार है? व्यक्ति की रक्षा का प्रबन्ध समाज हित की दृष्टि से किया जाता है। आत्महत्या किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में अपने आपको निरर्थक समझ बैठता है। क्रोध या अज्ञानता के कारण उसकी विचार शक्ति स्थिर नहीं रहती। ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य आत्महत्या करता है। यद्यपि उसकी समझ में उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं है किन्तु राष्ट्र के लिये उसका जीवन निरर्थक नहीं है। अपने कुटुम्ब और सम्बन्धियों के हित में भी वह बाधक होता है। इसीलिये आत्महत्या एक बहुत बड़ा अपराध माना जाता है। २० सितम्बर सन् १९३२ ई० को महात्मा गाँधी ने मृत्यु तक का उपवास व्रत लिया। किसी भी दृष्टि से यह न्यायसंगत नहीं था। किसी विशेष परिस्थिति में आत्महत्या को अपराध नहीं कहा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, उसके ऊपर किसी का भार नहीं है, ऐसी दशा में वह आत्महत्या कर सकता है। ऐसा करने से वह समाज के भार को हलका कर देता है। किन्तु

* **त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।**
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीन्त्यजेत्॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वह पाप का भागी है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लाक, ग्रीन, रिची तथा लास्की ने भी एक स्वर से आत्महत्या को घृणित ठहराया है। भारतीय दार्शनिक भी इस मत से सहमत हैं।

क्या मनुष्य दूसरे का प्राण ले सकता है?

आत्मरक्षा का अधिकार सबको एक समान दिया गया है। यह एक स्वाभाविक अधिकार है। जिस प्रकार मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है इसी प्रकार दूसरे के जीवन पर वह आघात नहीं कर सकता। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट लिखता है "मनुष्य का अन्त मनुष्य में ही है। वह किसी दूसरे का साधन नहीं बनाया जा सकता।" मनुष्य की कितनी भी आवश्यकता क्यों न पड़े वह किसी व्यक्ति का प्राण लेकर उसे पूरा नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम किसी भी प्रकार की हत्या को पाप ठहराता है किन्तु एक विशेष परिस्थिति में कोई व्यक्ति एक दूसरे का प्राण ले सकता है। यदि किसी व्यक्ति पर कोई आक्रमण करे और व्यक्ति को अपनी आत्मरक्षा में आक्रमणकारी का प्राण तक लेना पड़े तो वह अपराध का भागी नहीं हो सकता। समाज उस व्यक्ति को दोषी नहीं ठहरा सकता। समाज की भलाई के लिये भी कोई मनुष्य औरों का प्राण ले सकता है। मान लीजिये किसी देश पर बहुत से दुश्मन चढ़ाई करते हैं। राजा का यह धर्म है कि सेना सहित उनका सामना करे। इस संग्राम में यदि सैकड़ों के प्राण चले जायँ तो राजा किसी की हत्या का भागी नहीं ठहराया जा सकता।

क्या समाज किसी व्यक्ति का प्राण ले सकता है?

समाज व्यक्ति से बढ़ कर है। सामाजिक भलाई के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को तरजीह नहीं दी जा सकती। समाज समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। समाज-हित की दृष्टि से ही वह ऐसा करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज को हानि पहुँचाता है तो सामाजिक भलाई की दृष्टि से वह प्राणदण्ड का भागी है। समाज हित के लिये कितने ही सिपाही लड़ाइयों में अपना प्राण खो बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति सिपाही के काम से मुँह मोड़ता है तो समाज उसे प्राणदण्ड दे सकता है। लड़ाई से तात्पर्य यह निकाला जाता है कि सत्य की रक्षा के लिये असत्य का बहिष्कार करना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति लड़ाई को पाप समझता है और सिपाही

बनने से इन्कार करता है तो क्या राज्य उसे प्राणदण्ड दे सकता है? आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्राणदण्ड का भागी नहीं है।

सम्पत्ति अधिकार

२—जिस प्रकार नागरिक को अपनी प्राण-रक्षा का अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति का भी पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जीवन यात्रा के लिये किसी न किसी प्रकार की जीविका की आवश्यकता होती है। उसे इसका पूर्ण अधिकार है कि राज्य उसकी कोई व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त नागरिक अपनी सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी है। राज्य प्रति वर्ष टैक्स के रूप में उससे कुछ वसूल करता है इस टैक्स के दो उद्देश्य होते हैं:—

१ – आर्थिक दृष्टि से समाज में विषमता न होने पाये।

२—नागरिक की सम्पत्ति आदि की राज्य की ओर से रक्षा हो सके।

नागरिक की इच्छा के विरुद्ध कोई उसकी सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। उसकी आर्थिक उन्नति में किसी को बाधा डालने का अधिकार नहीं है। अँग्रेज़ी में एक कहावत है कि अँग्रेज़ की टूटी फूटी झोपड़ी भी उसका महल है*। प्रत्येक देश में कुटुम्ब अथवा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एक मात्र अधिकारी है। व्यक्ति अपनी कमाई का स्वामी है। वह अपने घर में जैसे चाहे रह सकता है और अपनी सम्पत्ति का किसी भी प्रकार से उपभोग कर सकता है। राज्य का यह धर्म है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दे। समाज के आर्थिक संगठन की व्यवस्था भी ठीक रक्खे। इसीलिये कहा गया है कि सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राज्य का ही है।

सभी दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है कि जिसने परिश्रम किया है वही इसका उपभोग करे। जिस प्रकार नागरिक का समस्त जीवन समाज से अलग नहीं है उसी प्रकार उसकी सम्पत्ति भी सामाजिक भलाई का एक साधन है। यदि कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति कुएँ वा तालाब में फेंकना चाहे तो वह नहीं फेंक सकता। राज्य की ओर से वह दण्ड का भागी ठहराया जायेगा। यदि कोई अपनी सम्पत्ति किसी ऐसे कारोबार में लगाना चाहे जिससे समाज को हानि की सम्भावना हो तो सरकार इसे रोक

---

* An Englishman's cottage is his own palace.

सकती है। यदि सम्पत्ति समाज की है तो समाज को उससे लाभ पहुँचना चाहिये। व्यक्ति उसके उपभोग के लिये वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह समाज को हानि नहीं पहुँचाता। वह अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करने का अधिकारी नहीं है। लड़ाई के समय सरकार किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति छीन सकती है और बड़ा से बड़ा टैक्स उससे वसूल कर सकती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता के एक विशेष युग का प्रवर्तक है। अपनी सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिक से अधिक अधिकार हो यही वर्तमान युग की मनोवृत्ति है। सरकार का कम से कम हस्तक्षेप होना चाहिये।

धार्मिक अधिकार

३—राज्य की ओर से नागरिक को यह पूर्ण आश्वासन प्राप्त है कि वह जिस धर्म को चाहे माने। मध्यकालीन योरप में लोगों को धर्म की स्वतंत्रता नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि बहुत सी लड़ाइयाँ होती रहीं। मुसलमानी ज़माने में भी धर्म के नाम पर बहुत सी लड़ाइयाँ हुई हैं। आधुनिक काल के आरम्भ से ही धर्म एक गौण विषय रह गया। विज्ञान की उन्नति ने धर्म के महत्व को कम कर दिया। आज लगभग सभी देशों में धार्मिक स्वतंत्रता सबको प्राप्त है। जर्मनी में यहूदी मज़हब वालों के प्रति राज्य की ओर से तरह तरह के अत्याचार हो रहे हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इस अत्याचार का कारण धार्मिक नहीं बल्कि राजनैतिक है। प्रत्येक प्रजातन्त्र देश में नागरिक जिस शकल में चाहे धर्म को मान सकता है। एक ही देश में विभिन्न मत वाले अपनी इच्छानुसार विभिन्न धर्मों को मान सकते हैं।

भाषण और लेखन का अधिकार

४—विचार स्वतंत्र है। मनुष्य की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे विचारने का पूरा अवसर न दिया जाय। समाज की स्थापना विचारों के मेल से हुई है। प्रत्येक नागरिक को यह स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वाणी तथा लेखन द्वारा वह अपने विचारों को स्पष्ट कर सके। पत्र आदि लिखने तथा पुस्तकें प्रकाशित करने का उसे पूर्ण अधिकार होना चाहिये। स्वतंत्र विचारों से सत्य की खोज होती है। सार्वजनिक जीवन तभी सुखी और शान्तमय रह सकता है जब सबको अपने सुख दुख पर विचार करने तथा उनके स्पष्टीकरण में पूर्ण स्वतंत्रता हो। जिस राज्य में लोगों को बोलने की

स्वतंत्रता नहीं रहती वहाँ किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। वाणी की स्वतंत्रता मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि जनता निष्पक्ष और उचित रीति से सभा सोसायटी तथा सरकार के कामों में टीका टिप्पणी कर सके। प्रेस को भी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। अख़बारों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। इससे समाज में एक प्रकार की जागृति रहती है। किसी को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि अमुक विषय में उसकी कोई सुनाई नहीं है।

अधिकार को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना उसका उचित उपयोग करना। अपने नित्य के व्यवहार में हम कितने ही व्यक्तियों के लिये अनुचित शब्दों का प्रयोग करते हैं। लेखन में भी हमारी कलम सत्य की सीमा को कभी कभी पार कर जाती है। बहुत से लोग अनायास ही औरों की टीकाटिप्पणी करने लगते हैं। इससे व्यक्तिगत वैमनस्य की वृद्धि होती है। तरह तरह की पार्टियाँ उठ खड़ी होती हैं। इनमें आपस में मुठभेड़ होने लगता है। परिणाम यह होता है कि राज्य की शान्ति में बाधा पड़ती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण साम्प्रदायिक झगड़े के अवसरों पर देखने में आता है। साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्तेजित करने के लिये अख़बारों में झूठी झूठी बातें निकाली जाती हैं। यदि ऐसे अवसरों पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध न हो तो शान्ति स्थापित नहीं रह सकती। व्यक्तिगत विरोध के कारण सभाओं में बहुत सी अनुचित बातें कही जाती हैं। इन्हें भी सरकार को रोकना पड़ता है। इस प्रतिबन्ध का अर्थ यह नहीं है कि राज्य किसी को बोलने और लिखने से रोकता है। वह केवल इनके दुरुपयोग से बचाता है। इसीलिये नागरिक बोलने और लिखने में वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह इनका दुरुपयोग नहीं करता। जब वह इन्हें लड़ाई और झगड़े का साधन बना लेता है और ये दोनों तलवार और बन्दूक की तरह काम करने लगते हैं तो सरकार इनमें दख़ल देती है। भाषण और लेखन में नागरिक को अपने कर्त्तव्य का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

समानता का अधिकार

५—जो सरकार अपनी समस्त प्रजा को एक दृष्टि से नहीं देखती वह जनता का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकती। समाज में छोटे बड़े, कमज़ोर, बलवान, स्वस्थ, रोगी तथा धनी ग़रीब सभी होते हैं। राज्य का यह धर्म है कि

वह सबको एक समान समझे। कहा जाता है कि राज्य में क़ानून का प्रभाव होना चाहिये मनुष्यों का नहीं*। किसी भी राज्य में दो तरह के क़ानून नहीं बनाये जा सकते। सबको अपनी उन्नति के लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। एक दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इससे असमानता के भाव तथा कारण पैदा होते रहते हैं। सरकार का यह धर्म है कि वह ऐसे नियम बनाये जिससे सामाजिक व्यवस्था अधिक से अधिक समानता के निकट हो। उसे चाहिये कि रूप रंग तथा जाति के कारण सरकारी नौकरियों या पदों में किसी प्रकार का भेद भाव न करे। प्रत्येक नागरिक को जिसमें कोई विशेष त्रुटि न हो वोट देने का समान अधिकार होना चाहिये। शासन प्रबन्ध में सभी नागरिकों को अपनी योग्यतानुसार समान अवसर मिलना चाहिये।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत न्याय का एक प्रमुख स्थान है। जिस राज्य में उचित न्याय नहीं होता वहाँ समानता नहीं बर्ती जा सकती। कचहरियों में धनी और ग़रीब में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। दोनों का मुक़दमा एक ही कचहरी में जाना चाहिये; एक ही क़ानून से दोनों का फैसला होना चाहिये और दोनों को एक समान दण्ड मिलना चाहिये। कचहरियों में फ़ीस आदि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे धनी ग़रीब दोनों ही न्याय से वंचित न रह सकें। राज्य की ओर से किसी प्रकार का अपने अफसरों के प्रति पक्षपात नहीं होना चाहिये। क़ानून में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह छोटे से छोटे चपरासी से लेकर बड़े से बड़े अफ़सर तक को एक समान अपराधी ठहरा सके और दण्ड दे सके। प्रोफ़ेसर डाइसी ने लिखा है कि 'इङ्गलैंड में प्रधान मंत्री से लेकर साधारण नागरिक तक के लिये एक ही क़ानून है।" इङ्गलैंड के बादशाह को छोड़ कर कोई भी क़ानून से ऊपर नहीं है। केवल बादशाह क़ानून का मुहताज नहीं है। उसे कोई न्यायालय अपराधी नहीं ठहरा सकता। इसका कारण यह है कि प्रधान मंत्री की अनुमति के बिना वह कुछ नहीं कर सकता। हमारे देश में क़ानून का राज्य नहीं है। काले और सफ़ेद में फ़रक किया गया है। बड़े बड़े सरकारी अफ़सरों का

* There should be the rule of law, not the rule of men.

मुक़दमा साधारण कचहरियों में नहीं किया जा सकता। बिना गवर्नर जेनरल के हुक्म के किसी सरकारी अफ़सर पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि समस्त नागरिकों में न्याय की समानता नहीं है। डायसी के कथनानुसार कानून में तीन गुण अवश्य होने चाहिये।

अ—कानून सर्व प्रधान होना चाहिए।

ब—कानून सब पर एक समान बर्ता जाना चाहिए।

स—कानून को किसी का पक्षपात नहीं करना चाहिए।

साधारण अधिकार

६—नागरिक के दैनिक जीवन में कुछ ऐसी बातें आती रहती हैं जिन्हें करने के लिये उसे स्वतंत्रता की आवश्यकता पड़ती है। उसे यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह जहाँ चाहे जा सके। इङ्गलैंड में यह नियम है कि यदि सरकार किसी को कहीं जाने से रोकती है तो वह उसकी हानि का पूरा पूरा बदला चुकाती है। नागरिक को उचित कारण के बिना गिरफ़्तार नहीं करना चाहिए। विदेश यात्रा की उसे स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। रोज़ के कारोबार में अनेक व्यक्तियों तथा पार्टियों से उसे इक़रारनामें आदि लेने पड़ते हैं। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इन इक़रारनामों को जायज़ समझे और नागरिक को इसका पूरा अधिकार प्रदान करे। इसके अतिरिक्त खाने और पहिनने में भी नागरिक को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। जो जैसा चाहे भोजन करे और कपड़ा पहिने। किन्तु नागरिक को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह विदेशी वस्तुओं के ख़रीदने में अपना धन नष्ट करे। पोशाक से समाज को ठगने का अधिकार नागरिक को नहीं है। नशीली वस्तुओं का प्रयोग भी वह अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता। विवाह-शादी, रस्म-रिवाज़ तथा खेल कूद में उसे पूरा अधिकार मिलना चाहिए। यदि उसे ये स्वतन्त्रतायें प्राप्त नहीं हैं तो वह अपने जीवन को सार्थक नहीं बना सकता।

कौटुम्बिक अधिकार

७—इस अधिकार से मेरा तात्पर्य यह है कि कुटुम्ब में एक दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य हैं। जैसे पति का स्त्री के प्रति क्या कर्त्तव्य है। यदि स्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह पुरुष की आज्ञानुसार चले तो उसे यह अधिकार भी दिया गया है कि वह अपने पति से जीविका ग्रहण करे। पुत्र का यह

अधिकार है कि पिता उसकी शिक्षा तथा भरण-पोषण का प्रबन्ध करे। भारतीय कुटुम्ब में जो सब से बड़ा होता है उसे यह अधिकार है कि वह सबकी देखभाल करे, जिसे चाहे उचित दण्ड दे तथा कुटुम्ब के आय-व्यय का हिसाब रक्खे। कौटुम्बिक जीवन में अधिकार से बढ़कर कर्त्तव्य पर ज़ोर दिया जाता है। कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना चाहिये। प्रत्येक को अपनी उन्नति तथा मनोरंजन का अवसर मिलना चाहिये। इसके बिना कौटुम्बिक जीवन में सरसता नहीं आ सकती। इस जीवन का यही तात्पर्य है कि कुटुम्ब का भार वहन करते हुए व्यक्ति स्वतन्त्र और प्रसन्न रहे। कुटुम्ब में किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह एक दूसरे को प्राणदण्ड दे सके। प्राचीन काल में कुटुम्ब के स्वामी को यह अधिकार प्राप्त था किन्तु अब ऐसा नहीं है। कुटुम्ब में व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह एक दूसरे की रक्षा करे। उसे यह भी अधिकार है कि वह जब चाहे कुटुम्ब से अलग हो जाय। कुटुम्ब में व्यक्तियों का वही स्थान है जो राष्ट्र में नागरिकों का। कौटुम्बिक अधिकारों का सिद्धान्त वही है जो राजकीय अधिकारों का है। दोनों का आधार न्याय और समानता है।

प्राकृतिक अधिकार (Natural rights)

८—प्राकृतिक अधिकार के विषय में विद्वानों का मतभेत है। इसके अर्थ के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृतिक अधिकार विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार से माना गया है। ये अधिकार समाज में उत्पन्न होते हैं। इन में व्यक्तिगत अधिकारों का कोई सामञ्जस्य नहीं है। इस अधिकार को समझने से पहिले प्रकृति का अर्थ समझना चाहिये। एक जर्मन विद्वान ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है। "प्रकृति सम्पूर्ण जगत का आधार है। वह पूर्ण स्वतन्त्र और मनुष्य से भिन्न है।" प्रकृति का अर्थ कहीं कहीं नवीन भी किया गया है। एक तीसरा अर्थ यह लगाया जाता है कि प्रकृति वह आदर्श उपस्थित करती है जो मनुष्य को बरतना चाहिये। इन्हीं अर्थों के अधार पर प्राकृतिक अधिकार अभिभूत हैं। इसके अन्तर्गत किसी विशेष अधिकार से तात्पर्य नहीं है। अपने समस्त अधिकारों तथा कर्तव्यों को नागरिक उचित रीति से पालन करे यही उसका प्राकृतिक अधिकार है। समाज के अतिरिक्त उसे प्रकृति की ओर से कोई नवीन अधिकार प्राप्त नहीं होता। मनुष्य को जिन जिन अधिकारों की

आवश्यकता है उन सब को मिलाकर प्राकृतिक अधिकार कह सकते हैं। इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादक समाज-शास्त्र वेत्ताओं ने प्राकृतिक अधिकार का भिन्न भिन्न अर्थ ठहराया है जिनका वर्णन किसी भी दृष्टि से यहाँ उपयुक्त नहीं है। राज्य की उत्पत्ति के अवसर पर इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा। अपने अधिकार और कर्तव्यों का पूर्ण ज्ञान ही नागरिक का प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कर्तव्य कहा गया है।

शिक्षा का अधिकार

नागरिक को जितनी आवश्यकता भोजन और वस्त्र की है उतनी ही शिक्षा की है। सच्ची नागरिकता उचित शिक्षा पर निर्भर है। जब तक सम्पूर्ण समाज को किसी प्रकार की ट्रेनिंग न दी जायेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था का पालन नहीं हो सकता। व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह सरकार से शिक्षा की माँग पेश करे। अशिक्षित मनुष्य को अपने कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। वह राजनैतिक तथा सामाजिक नियमों का तब तक उलंघन करता रहेगा जब तक उसे इनका महत्व मालूम नहीं है। शिक्षा के बिना यह सम्भव नहीं है। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि प्रारम्भिक शिक्षा सब के लिये अनिवार्य करे। ग़रीबी तथा अन्य सामाजिक बन्धनों के कारण कोई शिक्षा से वंचित न रहे। इसलिये प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। सामाजिक संगठन व्यक्ति की सुविधा का एक साधन है। अतएव सम्पूर्ण समाज शिक्षा का पूर्ण अधिकारी है। शिक्षा का तात्पर्य केवल मस्तिष्क की उन्नति से नहीं है इसका रूप क्रियात्मक होना चाहिये। इसलिये विभिन्न कलाओं की भी शिक्षा मिलनी चाहिये। शासन पद्धति को समझने तथा क़ानूनों का उचित पालन करने के लिये नागरिक-शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। शिक्षा से मनुष्य को वर्तमान परिस्थिति का ज्ञान होता है। इसका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये। विदेशी भाषा का ज्ञान बुरा नहीं है परन्तु राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा के लिये मातृ-भाषा का ज्ञान अनिवार्य है। प्रारम्भिक शिक्षा से ही ज्ञान का अन्त नहीं हो जाता। समाज में कलाओं की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब बड़े बड़े विद्वान पैदा हों। इसलिये ऊँची शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। लम्बी फ़ीस का प्रतिबन्ध लगाकर ऊँची शिक्षा को रोकना समाज को ज्ञान से विमुख करना है। जब तक शिक्षा का रूप सार्वभौम न होगा तब तक कोई राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।

अधिकार और चरित्र

व्यक्ति को समाज में जो अधिकार प्राप्त हैं वे उसकी उन्नति के साधन हैं। प्रश्न यह है कि उसके स्वभाव पर इन अधिकारों का क्या प्रभाव पड़ता है। सभी अधिकार समाज में प्राप्त होते हैं। चरित्र एक सामाजिक गुण है। मनुष्य अपने आपको चरित्रवान और गुणी नहीं कहता। यदि कहे भी तो उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। चरित्रवान और गुणी वही है जिसे समाज ऐसा मानता है। अधिकारों से मनुष्य कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होता है। हम कोई काम इसी दृष्टि से करते हैं कि उससे हमारी आत्मोन्नति हो, और हम चरित्रवान बनें। इस प्रकार अधिकार और चरित्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने अधिकारों का प्रयोग जब हम समाज में करते हैं तो उसमें हमारी दृढ़ता, कार्यकुशलता, तथा उत्साह आदि गुणों की परीक्षा होती है। वहीं हमें अपनी बुद्धि के विकास करने का अवसर मिलता है। अधिकारों का दुरुपयोग होने पर हमारी आत्मा अपने आपको कोसती है। आरम्भ में अनुचित कार्य के लिये हमारी आत्मा हमें गवाही नहीं देती है। अधिकार का दुरुपयोग मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। हमारे अच्छे विचार बुरे मार्ग पर जाने से हमें रोकते हैं। स्वयं एक प्रकार का संकोच मालूम पड़ता है। अधिकारों का उलंघन कर अपनी स्वतंत्रता को हम खो बैठते हैं। हमारी स्वतंत्रता वहीं तक सुरक्षित है जहाँ तक हम अधिकारों के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। अधिकार के भीतर ही हमारी उन्नति और प्रसन्नता निहित है। यदि हमें अपने चरित्र की रक्षा करनी है तो अधिकारों का उलंघन किसी भी दृष्टि से हितकर न होगा। पूर्ण विकास नियम पालन से ही हो सकता है। अनियमित और असीमित जीवन विकास में बाधक है। अधिकारों के पालन से चरित्र की वृद्धि होती है और चरित्रवान ही उन्हें पालन भी करता है।

कर्त्तव्य

अधिकार का अन्तिम उद्देश्य कर्त्तव्य की पूर्ति है। कोई अधिकार ऐसा नहीं है जिसको प्राप्त कर नागरिक उत्तरदायी न हो सके। अधिकार इसीलिये प्राप्त होते हैं कि कर्त्तव्य को पूरा करने का अवसर मिले। यदि स्वतन्त्रता हमारा अधिकार है तो इसे प्राप्त कर हमें बहुत से कर्त्तव्य करने होंगे। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है। नागरिक का यह अधिकार है कि वह राज्य से शिक्षा की माँग पेश करे। इसका यह भी

अर्थ है कि राज्य का यह कर्त्तव्य हैं कि वह नागरिक को शिक्षित करे। जिस प्रकार अधिकार समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं, उसी तरह कर्त्तव्य का पालन समाज में ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज में रहता है, कर्त्तव्य की मूर्ति है। कर्त्तव्यहीन मनुष्य पशु तुल्य है, और संसार में निन्दा का पात्र समझा जाता है। पुरुष वही है जो कर्त्तव्य परायण हैं। बिना कर्त्तव्य के लोक और परलोक दोनों में मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता। प्रत्येक प्राणी सुख की आशा करता है। सुख की प्राप्ति के लिये उसे बुद्धि और शरीर दोनों से काम लेना पड़ता है। कर्त्तव्य को पूरा करके मनुष्य सुख का अधिकारी होता है। जीवन का श्रेय कर्त्तव्य से समझा जाता है। महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे कर्त्तव्य शील होते हैं। इतिहास कर्त्तव्य-परायण पुरुषों की कहानी है। यह सारा विश्व कर्त्तव्य के बल पर टिका हुआ है। सब लोग अपने अपने काम बन्द कर दें तो समाज की रचना तितर बितर हो जायगी। जिधर दृष्टि डालिये कर्त्तव्य का ही राज्य दिखलाई पड़ेगा। जो लोग कर्त्तव्य नहीं करते वे दूसरों के किये हुये कर्त्तव्यों का उपभोग करते हैं। ऐसे लोग समाज के शोषक कहलाते हैं।

कर्त्तव्य और धर्म

हमारे देश में धर्म' शब्द कर्त्तव्य का द्योतक हैं। धर्म का अर्थ केवल पूजा पाठ नहीं है। जो इसका इतना संकुचित अर्थ लगाते हैं वे धर्म को नहीं समझते। धर्म मनुष्य के समस्त अधिकार और कर्त्तव्यों का मूल हैं। धर्म से हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य से है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का यह धर्म नहीं है तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिये। अथवा उसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। हमारा समस्त जीवन धर्म के साथ जोड़ दिया गया था। इसका कारण यह था कि पग पग पर हमें अपने कर्त्तव्य पालन की चेतावनी दी गई थी। सभी देशों में धर्म कर्त्तव्य पालन में सहायक होता है। भारतवर्ष में कर्त्तव्य को ही धर्म ठहराया गया था। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करे वही धर्मात्मा है और जो उसका उलंघन करे वह अधर्मी तथा पापी है।

भारतवर्ष में कर्त्तव्य एक शास्त्र समझा जाता था। वैदिक काल में इस शास्त्र की विशेष उन्नति हुई थी। अधिकार पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता था। लोग इसकी प्राप्ति की चेष्टा कम करते थे। परन्तु

कर्त्तव्य पालन का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। इसीलिये जन्म से मृत्यु तक धर्म मनुष्य के साथ जोड़ दिया जाता था ताकि उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हो और वह अकर्मण्य वा कर्त्तव्य-विमुख न हो। कर्त्तव्य के न पालन करने वाले को समाज में स्थान नहीं दिया जाता था। वह सर्वथा अछूत समझा जाता था। हमारे धार्मिक ग्रन्थ कर्त्तव्य पालन पर विशेष ज़ोर देते हैं। कर्त्तव्य शब्द काफ़ी व्यापक है। शरीर से ही कर्त्तव्य का पालन नहीं होता, भीतरी शक्तियाँ भी इसमें विशेष सहायक होती हैं। जब तक मन शुद्ध न होगा तब तक कर्त्तव्य का पालन नहीं हो सकता। धर्म यही सिखलाता है कि मन, वचन और शरीर से शुद्ध रहो। इसी से कोई अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकेगा। इस प्रकार धर्म और कर्त्तव्य में कोई विरोध नहीं है। दोनों का उद्देश्य मनुष्य को चरित्रवान तथा उन्नतिशील बनाना है।

नागरिक के कर्त्तव्य

जिस प्रकार अधिकार का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कर्त्तव्य का भी विभाजन नहीं हो सकता। अध्ययन की सुविधा के लिये तथा कर्त्तव्य को ठीक ठीक समझने के लिये हम कुछ कर्त्तव्यों का विश्लेषण कर सकते हैं। राज्य में कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिन्हें पालन किये बिना कोई व्यक्ति नागरिक नहीं रह सकता। या तो वह राज्य से बहिष्कृत कर दिया जाता है अथवा उसे दंड दिया जाता है। इनके अतिरिक्त उसके और भी कर्त्तव्य हैं परन्तु उनका पालन उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह उनका पालन करता है तो उसकी उन्नति होगी, यदि नहीं तो उसके जीवन का विकास नहीं हो सकता। नागरिक के कर्त्तव्य कुछ तो उसके कुटुम्ब के प्रति हैं, कुछ देश के प्रति और कुछ सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति। परिवार के प्रति उसका कर्त्तव्य है कि वह इसका पालन पोषण करे; अपने बच्चों को शिक्षा दे; इन्हें बुराई से बचावे; कुटुम्ब में शान्ति रक्खे, सबकी उन्नति की व्यवस्था करे तथा सब को कर्त्तव्य पालन की ओर अग्रसर करे। मनुष्य मात्र के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। मनुष्य प्राणी मात्र के कल्याण के लिये पैदा हुआ है। भारतवर्ष में जन्म लेने वाला मनुष्य वही है जो इंगलैंड और अमेरिका में पैदा हुआ है। रूप और रंग के अन्तर के कारण मनुष्य जाति में कोई भेद नहीं है। सब की बनावट लगभग एक सी है। सबकी आवश्यकतायें समान हैं। सभी सुख और शान्ति चाहते हैं। महापुरुष वही है जो अपने

कर्त्तव्य को एक देश में ही सीमित नहीं रखता। मसीह ने अपने उपदेश मनुष्य जाति के लिये दिया। उससे एक भारतवासी उतना ही लाभ उठा सकता है जितना एक अमेरिकन अथवा रूसी। बुद्ध का भी यही हाल है। उसके उपदेश संसार के लिये समान हैं। रूप, रंग, जाति के कारण उससे कोई वंचित नहीं किया जा सकता।

देशभक्ति (Allegiance)

१—ऊपर कहा गया है कि राज्य में कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका पालन करना नागरिक के लिये आवश्यक है। अनागरिक को भी उन्हें पालन करना पड़ता है, परन्तु कुछ अंश में वह इनसे वंचित किया जा सकता है। नागरिक के आवश्यक कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम स्थान देशभक्ति का है। वह तभी तक स्वतन्त्र और सुरक्षित है जब तक देश में शान्ति है। शान्ति के समय में भी उसे देश सेवा आदि कार्यों में हाथ बँटाना पड़ता है और समय समय पर सरकार की सहायता करनी पड़ती है। परन्तु जब कोई लड़ाई छिड़ती है या हमला होता है तो राज्य की सहायता करना उसका पहिला कर्त्तव्य है। उसे इस कर्त्तव्य से वंचित नहीं किया जा सकता। नागरिक को तन और धन दोनों से सरकार की सहायता करनी पड़ती है। इसके लिये पहले से ही उसे फ़ौज़ी शिक्षा दी जाती है। ऐसे अवसर पर उसका कर्त्तव्य है कि देश रक्षा के निमित्त वह अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा दे। देश को सुरक्षित कर वह अपनी रक्षा कर सकता है। इस कर्त्तव्य पालन से नागरिक मुँह नहीं मोड़ सकता। यदि मोड़ता है तो देश द्रोही और दंड का भागी होता है।

आज्ञा पालन (Obedience)

२—नागरिक सरकारी नियमों का पालन करने के लिये बाध्य है। उसका कर्त्तव्य है कि वह क़ानून को माने। क़ानून केवल राज्य की आज्ञा नहीं बल्कि प्रजा की आवश्यकता है। इसीसे प्रजा की रक्षा होती है और देश में शान्ति रहती है। प्रजा के प्रतिनिधि क़ानूनों को बनाते हैं। वे प्रजा की भलाई के लिये ऐसा करते हैं। सरकार तो केवल इन क़ानूनों के पालन कराने के लिये ज़िम्मेवार है। नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपनी बनाई हुई चीज की रक्षा करे। क़ानूनों का उलंघन कर वह अपनी आवश्यकता का बहिष्कार करता है तथा औरों के सामने अराजकता का उदाहरण रखता है। ऐसी दशा में वह राज्य की ओर से दंड का भागी है। कुछ ऐसे भी क़ानून बनाये जाते हैं जो प्रजा के हित

में बाधक होते हैं। प्रजा उन्हें बहिष्कार कर सकती है। यहाँ पर उनका बहिष्कार ही उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

करों को चुकाना

३—कर राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर निर्जीव है उसी प्रकार कर के बिना राज्य नहीं रह सकता। सरकार को चलाने के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह करों के रूप में यह धन दे। यदि सरकार की आवश्यकता उसे है तो धन भी उसे देना होगा। नागरिक इसे इनकार नहीं कर सकता। कर प्रजा की आर्थिक दशा के अनुसार लगाये जाते हैं। सरकार प्रजा से अनुचित धन नहीं ले सकती। यदि वह ऐसा करती है तो प्रजा उसका बहिष्कार करेगी। उसी की भलाई के लिये ये कर खर्च किये जाते हैं। इसलिये उसे प्रसन्नता पूर्वक इन करों को देना चाहिये। विशेष अवसरों पर ये कर बढ़ाये भी जाते हैं। यद्यपि प्रजा को इनसे कष्ट होता है परन्तु परिस्थिति के कारण इनका लगाना ज़रूरी होता है। नागरिक को इस कर्त्तव्य के बदले एक बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त है। कर देकर वह शासन में भाग लेने का अधिकारी हो जाता है। जिस राज्य में प्रजा को शासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है वह कर देने से इनकार कर सकती है। इंगलैंड के इतिहास में स्टुअर्ट राजाओं के समय में प्रजा ने धन देने से इनकार कर दिया था। उसका ऐसा करना सर्वथा उचित था, क्योंकि स्टुअर्ट राजा स्वेच्छाचारी शासन करना चाहते थे। अमेरिका की स्वतन्त्रता की लड़ाई में जनता ने टैक्स देने से साफ़ इनकार कर दिया था*।

नागरिकता का सदुपयोग

४—अधिकार की प्राप्ति कर्त्तव्य पालन के लिये होती है। नागरिक अपने अधिकारों से बहुतों को हानि पहुँचा सकता है। मान लीजिये किसी देश में हथियार रखने की स्वतंत्रता है। यह इसलिये किया गया है कि आपत्ति के समय नागरिक अपनी रक्षा कर सके। परन्तु वह इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग भी कर सकता है। वह अपने पड़ोसी अथवा किसी बेगुनाह व्यक्ति पर हाथ साफ़ कर सकता है। ऐसी दशा में राज्य इस स्वतंत्रता का अपहरण करेगा। सभी अधिकारों का दुरुपयोग किया जा सकता है। इसलिये नागरिक का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है

* No taxation without representation.

अधिकारों का सदुपयोग। वह अपने अधिकारों को समझे और उसका उचित प्रयोग करे। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की तरह अधिकार का उलंघन हानिकर होता है। किसी की स्वतन्त्रता में बाधा डालकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना नितान्त अनुचित है। इससे मनुष्य का पतन होता है। इसी को रोकने के लिये दंड की व्यवस्था बनाई गई है। शारीरिक दंड ठीक है बशर्ते कि मनुष्य सुमार्ग पर आ जाय। जो नागरिक अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रखता और अधिकार का दुरुपयोग करता है उसकी भलाई के लिये राज्य उसे दंड देता है ताकि इस चेतावनी से उसका सुधार हो जाय। साथ ही औरों को भी शिक्षा मिलती है।

केवल अधिकार प्राप्त करने से नागरिक की उन्नति नहीं हो सकती। उन्नति तो तभी संभव है जब उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान होगा। धन कमाना सरल है परन्तु उसका उचित उपभोग कठिन है। थोड़े ही धन से कुछ लोग आदर्शमय जीवन व्यतीत कर लेते हैं। इसके विपरीत लाखों की सम्पत्ति रखने वाला चिन्ता के जाल में फँसा रहता है और दूसरों को कष्ट देता है। केवल अधिकारों के वृद्धि की आवश्यकता नहीं है। ज़रूरत है थोड़े ही अधिकारों के उचित प्रयोग की। मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होनी चाहिये। किन्तु अनुचित ढंग से इसकी प्राप्ति ठीक नहीं है। आत्म-विकास उसी का नाम है जो अहिंसा द्वारा हो। सदुपयोग में ही शान्ति और सुख है। आदर्श नागरिक ही इसे समझ और कर सकते हैं।

श्रम

५—श्रम से मेरा तात्पर्य शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से है। एक से पूरी उन्नति नहीं हो सकती। केवल कसरत करके शरीर को मोटा ताज़ा करना ठीक नहीं है। मनुष्य का जन्म न तो केवल खाने के लिये है और न केवल दिमाग़ी शक्ति को बढ़ाने के लिये। शरीर का ध्यान छोड़ कर मस्तिष्क की उन्नति करना हानिकर है। रोगी मनुष्य गुणी होते हुये भी क्या कर सकता है? मध्यम मार्ग सबसे उत्तम है। शरीर का ध्यान रखते हुये मनुष्य अपनी मानसिक उन्नति करे। दोनों के मेल से उसकी उन्नति होगी। नागरिक का कर्तव्य है कि वह दोनों प्रकार का श्रम करे। इससे राज्य की शक्ति बढ़ेगी। इसीलिये भीख माँगना कई देशों में जुर्म ठहराया गया है। क्योंकि इससे काहिल लोगों की संख्या बढ़ती है और राज्य की आमदनी कम होती है। यही नहीं, समाज में इससे आध्यात्मिक अवनति होती है।

किसी देश में काहिलों की संख्या बढ़ जाय तो इसका परिणाम भयंकर होगा। इसी भय से सरकार तरह तरह के कारोबार की सुविधायें लोगों को देती है। नैतिक दृष्टि से परिश्रम के बिना भोजन करना पाप है। जब हम परिश्रम नहीं करते हैं तो हमें रोटी कहाँ से मिलती है। भोजन के बिना एक दिन भी सुख से नहीं बीत सकता। परिश्रम हीन मनुष्य दूसरों की कमाई खाता है। हर मनुष्य को हाथ और बुद्धि है। वह अपनी शक्ति के अनुसार उनसे पैदा करे। स्वयं खावे और दूसरों को भी दे। इसी से देश में शान्ति और सबकी उन्नति होगी। सरकार का कर्तव्य है कि वह सबको समान अवसर दे। एक दूसरे के परिश्रम का बेजा लाभ उठाना घोर पाप है। इससे उसकी विवेक शक्ति नष्ट होती है और समाज में आर्थिक विषमता का रोग फैलता है। पुरुषार्थ से ही आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव प्राप्त होता है। इसी से भीतरी शक्तियों का विकास होता है। श्रम मनुष्य को बहुत सी बुराइयों से बँचाता है। बेकार मस्तिष्क भूतों का घर है। कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। संसार में कार्य की कमी नहीं है। कमी है करने वालों की। नागरिक अपने आप सोचकर कार्य निकाले और उन्हें करे। सरकार उसकी सहायता मात्र कर सकती है।

नागरिक के अन्य कर्तव्य

सभी देशों में हर समय कोई न कोई समस्या उपस्थित रहती है। जन साधारण उन्हें सुलझाने में असमर्थ होते हैं। उच्च नागरिकों का कर्तव्य है कि उन्हें सुलझावें और जनता का उद्धार करें। सामाजिक सुधारों की आवश्यकता इसीलिये पड़ती है। इनकी सहायता करना नागरिक का धर्म है। अपनी ही चिन्ता में व्यस्त रहना स्वार्थ का शिकार बनना है। समाज में कितने ही लँगड़े लूले, अपाहिज, अन्धे आदि रहते हैं। समाज का कर्तव्य है कि उनकी जीविका का प्रबन्ध करे, विधवाओं को शरण दे और तरह तरह की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करे। अनाथालय, धर्मशालायें, शिक्षा गृह, व्यायाम शाला आदि खोलने की व्यवस्था करना नागरिकों का कर्तव्य है। केवल सरकार पर सभी भार देना उचित नहीं है। सामाजिक सुधार उतने ही आवश्यक हैं जितने राजनैतिक प्रबन्ध। दोनों की ज़िम्मेवारी नागरिकों पर ही है।

कर्तव्य पालन का आरम्भ उन छोटी छोटी बातों से होता है जिनकी

आवश्यकता हमें दिन में पग पग पर पड़ती है। सभ्यता पूर्वक उठना, बैठना, चलना, बातें करना तथा आत्मीय जनों के साथ व्यवहार करना कम आवश्यक नहीं हैं। अपरिचित अथवा विदेशी लोगों के साथ सद्भाव रखना राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाना है। दीन दुखियों की सेवा, दुर्बलों को सहायता तथा चिन्तित व्यक्तियों को सान्त्वना प्रदान करना हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य है। हमें याद रखना चाहिये कि कर्तव्य को छोड़कर लोक परलोक दोनों जगह कोई दूसरा साथी नहीं होता।

अध्याय ४

स्वतन्त्रता और समानता

स्वतंत्रता, स्वाभाविक स्वतंत्रता—सामाजिक स्वतंत्रता—राजनैतिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता—स्वतन्त्रता को आवश्यकता—राज्य और स्वतंत्रता—कानून और स्वतंत्रता—क्या मनुष्य स्वतंत्र है?—समानता—समानता सम्बन्धी कुछ भ्रम—शारीरिक समानता—आर्थिक समानता—सांस्कृतिक समानता—राजनैतिक समानता—सामाजिक समानता—नैतिक समानता—समानता और समाजवाद—समानता और अध्यात्मवाद।

राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इसीलिये है कि मनुष्य का विकास हो। प्रजातन्त्रवाद इस विकास के लिये सबसे उपयुक्त माना गया है। समानता और स्वतन्त्रता इसकी पहली आवश्यकतायें हैं। शुद्ध प्रजातन्त्रवाद वही है जिसमें व्यक्ति को अपनी उन्नति करने की पूरी स्वतन्त्रता है और जिसका सिद्धान्त समानता पर निर्भर है। यदि विश्वबन्धुत्व की स्थापना करनी है तो संसार का राजनैतिक संगठन चार सिद्धान्तों पर बनना चाहिये :—न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व। स्वतंत्रता और समानता के बिना मनुष्य की उन्नति सम्भव नहीं है। इन दोनों शब्दों के तात्पर्य और वर्तमान राजनैतिक संगठन में इनके पालन पर विचार करना चाहिये।

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता गुलामी का विपरीत शब्द है। जो गुलाम नहीं है वह स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को इस बात का पूरा अवसर मिले कि वह आत्मोन्नति कर सके। जिस हद तक उसे इसकी स्वतंत्रता दी गई है वहाँ तक वह स्वतंत्र है। प्राचीन काल में स्वतंत्रता से तात्पर्य यह था कि अत्याचारी राजाओं से रक्षा हो। राजा प्रजा पर इतना अत्याचार करते थे कि उन्हें रोकने का अधिकार ही एक बहुत बड़ी स्वतंत्रता समझी जाती थी। किन्तु आधुनिक युग में, जिसे प्रजातंत्रवाद का युग कहते हैं, इस प्रकार के अत्याचारी राजा नहीं रहे। आज स्वतंत्रता का एक दूसरा अर्थ लगाया जाता है। प्रजातंत्रवाद और स्वतंत्रता

दोनों एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। नागरिकों को इस बात की स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वे भाषण दे सकें, मीटिंगें कर सकें, सामाजिक संगठन बनावें, वादविवाद करें तथा शासन प्रबन्ध में टीका टिप्पणी कर सकें। प्रेस को भी स्वतंत्रता होनी चाहिये। व्यक्तित्व का विकास इन्हीं स्वतंत्रताओं द्वारा होता है। टीका टिप्पणी सत्य की खोज का सबसे बड़ा साधन है। जब तक सत्य की खोज न होगी तब तक मनुष्य का उद्देश्य पूरा न होगा। उन्नति का तात्पर्य स्वतंत्र विकास से है। स्वतंत्र विकास स्वाभाविक विकास को कहते हैं। इसीलिये स्वतंत्रता एक स्वाभाविक अधिकार है। मनुष्य को इससे वंचित करना उसके स्वाभाविक विकास को रोकना है। स्वतंत्रता के कई प्रकार हैं। स्वाभाविक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, राजनैतिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता। इन पर अलग अलग विचार किया जायगा।

स्वाभाविक स्वतंत्रता

१—फ्रांस का प्रसिद्ध विद्वान रूसो लिखता है "मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है, और सब जगह परतंत्रता के जाल में जकड़ा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य अपने को एक दूसरे का स्वामी समझता है, परन्तु उसकी ग़ुलामी उसके नौकरों से भी बढ़ कर है।"* जब मनुष्य का जन्म स्वतंत्र होता है तो वह स्वतंत्र रहने का अधिकारी है। यह मनुष्य की कमज़ोरी है जो सामाजिक बन्धनों में अपने आपको बाँध देता है। शरीर और विचार दोनों स्वतंत्र हैं। शरीर को बाँधा जा सकता है परन्तु विचारों की ग़ुलामी सम्भव नहीं है। एक विद्वान का कहना है "विचार पूर्ण स्वतंत्र है"। राज्य में नागरिक अपनी उन्नति के लिये सब कुछ कर सकता है। विचारों को दबाने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती है। जिन जिन चीज़ों से नागरिक की उन्नति हो सकती है वे सभी स्वाभाविक हैं और उन्हें प्राप्त करने का अधिकार स्वाभाविक कहलाता है। खाने, पीने, पहनने, बोलने, चलने फिरने, सोचने, आदि क्रियाओं के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अतएव इनकी प्राप्ति में जिन जिन अधिकारों की ज़रूरत हो वे सब स्वाभाविक हैं।

---

* Man is born free and he is everywhere in chains...............

सामाजिक स्वतंत्रता

२ — जब तक समाज की रचना नहीं हुई थी तब तक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार खाता, पीता, घूमता तथा विचारता था। उसके ऊपर किसी प्रकार के बन्धन नहीं थे। यदि कोई उसे कष्ट पहुँचाता तो अपनी शारीरिक शक्ति से वह उसका मुक़ाबिला करता था। ऐसी दशा में कमज़ोर व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता था। इसीलिये समाज की रचना हुई कि प्रत्येक मनुष्य समान रूप से स्वतंत्रता से लाभ उठावे। बहुत से सामाजिक नियम बना कर मनुष्य को चेतावनी दी गई कि वह एक दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा न डाले। यदि समाज में रहना है तो सब की भलाई का ध्यान रखना होगा। समाज में मनुष्य वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह औरों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं पहुँचाता। उसे बहुत से सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक स्वतंत्रता का तात्पर्य है कि मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता समाज में मिलती है। सभ्यता और स्वतंत्रता दोनों मिली हुई हैं। यदि मनुष्य सभ्य बनना चाहता है तो वह समाज में स्वतंत्रता को स्थान दे। समाज से अलग कोई स्वतंत्रता है तो वह जंगली और असभ्य हैं। इसमें थोड़े गुण भी हों तब भी समाज को उनसे कोई लाभ नहीं है।

राजनैतिक स्वतंत्रता

३ — स्वतंत्रता का तीसरा क्षेत्र राजनीति है। इसका तात्पर्य 'स्वतंत्र देश' अथवा 'स्वतंत्र सरकार' से है। जिस राज्य में प्रजा को यह अधिकार है कि वह शासन में हाथ बटावे वहाँ राजनैतिक स्वतंत्रता है। जनता स्वयं यह निश्चित करती है कि उसका शासन प्रबन्ध कैसे हो। साम्राज्यवाद राजनैतिक स्वतन्त्रता का शत्रु है। एक देश को कोई अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे देश को ग़ुलाम बनावे। इसी तरह राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। शक्ति के आधार पर निर्माण किया हुआ राज्य चिरस्थायी नहीं होता। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। अब्रहम लिंकन ने प्रजातन्त्रवाद की जो परिभाषा की है कि "सरकार प्रजा की वस्तु है प्रजा उसे अपनी भलाई के लिये चलावे", सबको मान्य है। सरकार और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का युद्ध इतिहास का सबसे बड़ा अध्याय है। प्राचीन तथा मध्य काल तक यह युद्ध चलता रहा कि राजसत्ता का क्या तात्पर्य है और राजा के क्या क्या अधिकार हैं। आज भी प्रजा की सम्पूर्ण माँगें पूरी नहीं

हो सकीं। अभी यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है कि राजसत्ता प्रजा की शक्ति है और वह उसे घटाने बढ़ाने में स्वतन्त्र है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता

४—जो देश स्वतन्त्र नहीं है वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। भारतवर्ष राष्ट्र नहीं है। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता एक दूसरे के विरोधी सिद्धान्त हैं। जैसे व्यक्ति को राज्य में स्वतन्त्रता चाहिये उसी प्रकार देश को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अधिक आवश्यक है। कोई देश ग़ुलाम रहकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता। जो देश परतन्त्र हैं वे ग़रीब और असन्तुष्ट रहते हैं। उनके अन्दर जीवन का अभाव होता है। इसीलिये राज्य के निवासियों का कर्तव्य है कि न वे किसी को ग़ुलाम बनावें और न स्वयं ग़ुलाम रहें। नैतिक दृष्टि से दोनों ही बुरे हैं। इतिहास में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की कहानियाँ भरी पड़ी हैं। इसके लिये देशवासियों ने अपना तन और धन दोनों अर्पण किया है। जिस राष्ट्र को इस स्वतन्त्रता का मूल्य मालूम है वह ऊँची से ऊँची क़ौम का शासन पसन्द नहीं कर सकता। स्वतन्त्र राष्ट्र में भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। इसीलिये शासन विधान बहुत ही सोच विचार कर बनना चाहिये।

स्वतन्त्रता की आवश्यकता

स्वतन्त्रता मानव जीवन का तत्व है, जिसे खोकर वह मनुष्य नहीं रह जाता। जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी जीभ में कोई कुंजी नहीं लगी रहती और न उसके हाथ पैर बँधे होते हैं। यह बात मनुष्यत्व के विरुद्ध है कि उसकी जीभ में ताला लगा दिया जाय और उसकी गति रोक दी जाय। ऐसा करने से मनुष्य पशु और पक्षियों से भी नीचे गिर जाता है। मछली पानी में अपनी इच्छानुसार घूमती है, पक्षी जहाँ चाहे उड़ सकता है, फिर मनुष्य को आने जाने में रुकावट क्यों हो? स्वतन्त्र मनुष्य अपने सम्मान की रक्षा करता है; वही सत्य बोलता है; और उसी को मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। पूर्ण स्वतन्त्रता वह भूमि है जिसमें व्यक्तित्व का बीज अपने आप उगता है और बढ़कर ज्ञान, आनन्द, प्रेम और सच्चरित्रता आदि फल लाता है। उसी के मुख से यह वाक्य निकल सकता है कि "मैं विचार करता हूँ; मैं महसूस करता हूँ; और मेरी यह इच्छा है।" स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य मशीन की तरह है जो दूसरों के हाथों की कठपुतली है।

मनुष्य की आत्मा में यह ध्वनि है कि "स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है। मैं क़ानून का वहीं तक आदर करता हूँ जहाँ तक वह मेरी उन्नति करती है।" स्वतन्त्रता का यह ऊँचा आदर्श समानता के बिना पूरा नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है। कूइस का निवासी निकोलस लिखता है, "मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्र और समान है। किसी सत्ता अथवा नियम का श्रोत जनता से आरम्भ होता है।"

जान स्टुअर्ट मिल अपनी "स्वतन्त्रता" नामक पुस्तक में लिखता है "मनुष्य अपनी राय क़ायम करने के लिये स्वतन्त्र है। उसे अपनी राय ज़ाहिर करने का पूरा अधिकार है।" प्रश्न यह है कि क्या वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है? यदि कार्य करने का अधिकार नहीं है तो केवल विचार से क्या लाभ। मिल का यह कहना है कि "कार्य करने में मनुष्य को वहीं रुकावट डाली जाती है जहाँ वह उससे दूसरों को हानि पहुँचाता है।" कोई अपने कामों से औरों को हानि न पहुँचाये तो वह कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है। यह बात न्यायसंगत है कि दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है। राज्य की ओर से मनुष्य के कामों पर प्रतिबन्ध इसीलिये है कि एक के काम से औरों को हानि न पहुँचे। मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुँचाता। जो वृक्ष अपनी इच्छानुसार बढ़ता है उसका विस्तार अधिक होता है और उसकी नीव दृढ़ होती है। यही हालत मनुष्य की भी है। दूसरों की इच्छा पर चलने वाला अपने व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। उसकी शक्तियाँ तभी विकसित होती हैं जब वह स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करता है और उसी के अनुसार चलता है। पग पग पर रोकने से मनुष्य की तीव्र बुद्धि कुंठित हो जाती है। स्वतन्त्र विचारों से चरित्र बल की नीव पड़ती है। पशु की तरह मनुष्य बाँधा नहीं जा सकता। उसका मूल्य तभी तक है जब तक वह स्वतन्त्र है।

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी है। स्वतन्त्रता में अपनी आवश्यकताओं को हम समझ सकते हैं। हमारी आवश्यकतायें भिन्न भिन्न हैं। बाहरी नियम इसे निश्चित नहीं कर सकते। अपनी इच्छानुसार आवश्यकता की पूर्ति कर मनुष्य सन्तोष का अधिक अनुभव करता है। जितने भी आविष्कार दिखलाई पड़ते हैं सभी स्वतन्त्र विचारों के फल हैं। संसार में जितनी नवीनता हमें दिखलाई पड़ती है वह सब स्वतन्त्र मस्तिष्क की उत्पत्ति है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो नये नये

सिद्धान्त हमें मिलते हैं वे स्वतन्त्र बुद्धि के परिणाम हैं। यदि स्वतन्त्रता न हो तो नवीनता नहीं रह सकती। यदि राज्य की ओर से यह क़ानून बना दिया जाय कि सब लोग अपना घर एक प्रकार का बनावें तो इसका परिणाम क्या होगा? वास्तु-कला विशारद नये नये नकशे बनाना बन्द कर देंगे और कुछ दिनों में गृह-निर्माण कला का विनाश हो जायगा।

राज्य और स्वतंत्रता

'राज्य नागरिक की स्वतन्त्रता में बाधक है।' जो ऐसा कहते हैं वे न राज्य को समझते हैं और न स्वतन्त्रता को। उनकी समझ में स्वतंत्रता का तात्पर्य जंगली स्वतंत्रता से है। परन्तु समाज में ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। जो जिसे चाहे मार दे और जिसका धन चाहे छीन ले तो हम उसे स्वतन्त्र तो ज़रूर कहेंगे, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता की सराहना नहीं करेंगे। यदि ऐसी स्वतंत्रता सब को दे दी जाय तो दुनियाँ में आततायियों का बोल बाला होगा और कार्य करना असम्भव हो जायगा। लूट मार और अत्याचार होने लगेंगे। सभ्यता और नियम का नामो निशान दुनियाँ से मिट जायगा। इसी को रोकने और शान्ति की स्थापना कर न्याय की रक्षा के लिये राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक नहीं है। राजकीय नियम उसकी जंगली स्वतंत्रता को बुरा ठहराते हैं। वे मनुष्य की शक्ति को संगठित कर अच्छे कामों की ओर अग्रसर करते हैं। क़ानून उसे बन्धन मालूम पड़ते हैं परन्तु वे उसकी रक्षा के लिये हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। कहा जाता है कि "क़ानूनों की इतनी भरमार है कि व्यक्ति को वे भार मालूम पड़ते हैं। विभिन्न संगठनों का ज़ोर इतना बढ़ रहा है कि व्यक्ति की उसमें कोई हस्ती नहीं है। सामाजिक संगठन में वह मशीन बन गया है।" मैं इससे सहमत नहीं हूँ। क़ानूनों की अधिकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। क़ानून हमारी कठिनाइयों को दूर करने के लिये बनाये जाते हैं। हमें उनकी आवश्यकता है। स्वार्थ की दृष्टि से वे भले ही बुरे लगें लेकिन आवश्यकता पड़ने पर हम उसका प्रयोग करते हैं।

सामाजिक संगठन हमारी विभिन्न माँगों की पूर्ति करते हैं। जो संस्थाओं का बिखरा हुआ जाल दिखलाई पड़ रहा है उसको हमी बैठ कर बुनते हैं। स्कूल में पढ़ने के लिये जब कोई बच्चा भेजा जाता है तो

शिक्षा उसे भार मालूम पड़ती है। स्कूल को वह जेल समझता है। फिर भी शिक्षा को कोई बन्धन नहीं कह सकता। इसी प्रकार और भी संस्थायें बन्धन नहीं हैं। उनमें रह कर हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं। वे हमारी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है। राज्य और समाज हमारी उन्नति के साधन हैं बाधक नहीं। वे बाधक तभी सिद्ध होते हैं जब हम अपनी उन्नति का मार्ग छोड़ कर अवनतिपथ पर चलने लगते हैं। राज्य में चोरी, व्यभिचार, अन्याय, अपहरण, प्रतिकार आदि की स्वतन्त्रता किसी को नहीं है। किन्तु इससे समाज को हानि नहीं होती है। यह सभी मानेंगे कि ऐसी स्वतंत्रता की आवश्यकता नहीं है।

कभी कभी राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक होता है। भय और स्वार्थ वश उस समय कोई बुरा नहीं ठहराता किन्तु न्याय की दृष्टि से हम उसे बुरा कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस रुकावट के कारण राज्य बुरी चीज़ है। चन्द अवगुणों के कारण हम सैकड़ों गुणों का बहिष्कार नहीं कर सकते। राज्य जहाँ बाधक सिद्ध हुआ है वहाँ हमारे लिये आवश्यक भी है।* हमें देखना चाहिये कि किस प्रकार राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक होता है और उससे क्या हानि होती है। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण फाँसी पर चढ़ा दिया गया। बहुत सम्भव है कि आज उसके विचारों से दुनियाँ को लाभ पहुँचता। उसे मृत्यु दंड देकर सरकार ने बुरा किया। प्रत्येक युग में कितने ही मनुष्य अपने विचारों को स्पष्ट करने से वंचित कर दिये जाते हैं। उस समय उन विचारों से लाभ भले ही न हो परन्तु भविष्य के लोग उससे लाभ उठा सकते हैं। इटली का महापुरुष गैलिलियो यही कहने पर कि "ज़मीन गोल है" अपने प्राण से हाथ धो बैठा। उस समय उसके कथन में सचाई भले ही न मालूम पड़ी हो परन्तु बात बिलकुल ठीक थी। सरकार कभी कभी अख़बारों पर प्रतिबन्ध लगाकर लेखन की स्वतन्त्रता को छीन लेती है। इससे कितनी ही सच्ची बातें छिपी रह जाती हैं। बहुत सी राय को सरकार ग़लत ठहरा देती है और उसे ज़ाहिर करने से व्यक्ति को रोक देती है। यदि सब नहीं तो उसका अंश ठीक हो सकता है।

---

* State is a necessary evil.

पैस्कल का कहना है "पूर्ण स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये घातक है।" इसी लिये क़ानून का प्रतिबन्ध लगा कर उसे रोका गया है। प्रश्न यह है कि स्वतन्त्रता और रोक ये दोनों कैसे रह सकते हैं। या तो मनुष्य को रोका ही जाय या उसे स्वतन्त्र ही किया जाय।

क़ानून और स्वतन्त्रता

इसी प्रकार के विचारक क़ानून को एक बन्धन समझते हैं। उनका कहना है कि "क़ानून का थोड़ा भी बन्धन स्वतन्त्रता का उसी प्रकार अपहरण करता है जिस प्रकार थोड़ा सा ज़हर मनुष्य का प्राण ले लेता है। क़ानून और स्वतन्त्रता दोनों साथ साथ नहीं चल सकते। क़ानून एक दबाव है और स्वतंत्रता का सम्बन्ध विनय और प्रार्थना से है। क़ानून ने आज तक एक भी महापुरुष पैदा नहीं किया, परन्तु स्वतन्त्रता ने अनेक महा-पुरुषों को उत्पन्न किया है। रोशनी और हवा की तरह स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाया जा सकता।" व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी इस विचार से सहमत नहीं हो सकता। हीगल का कहना है, 'क़ानून के पालन में ही स्वतन्त्रता है।' रोम का विद्वान सिसरो लिखता है "स्वतन्त्रता कार्य करने की वह शक्ति है जो क़ानून द्वारा प्राप्त होती है।" वास्तव में क़ानून की यह व्याख्या ठीक है और तभी हम उसमें स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकते हैं। उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो सार्वभौम नहीं बनाई जा सकती। क़ानून हमारे विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। वे हमारे गुणों का समर्थन और बुराइयों का विरोध करते हैं। रैम्ज़े म्योर ने लिखा है "क़ानून और स्वतन्त्रता पाश्चात्य सभ्यता के आधार हैं।" * दोनों का सिद्धान्त मिला हुआ है। क़ानून से स्वतन्त्रता की रक्षा होती है और स्वतन्त्र मनुष्य ही क़ानून का पालन कर सकता है।

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने कर्तव्यों से बँधा हुआ है। जहाँ अधिकार उसे स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं वहाँ कर्तव्य बन्धन में जकड़ देते हैं। अधिकार और कर्तव्य के चक्कर में मनुष्य पड़ा रहता है। पूर्ण स्वतन्त्रता, जो जंगली स्वतन्त्रता से भिन्न है, एक स्वप्न है जो इस संसार में पूरा नहीं हो

क्या मनुष्य स्वतन्त्र है ?

---

* Law and liberty are the basis of western civili-zation.

सकता। राजनैतिक तथा सामाजिक बन्धन मनुष्य के मस्तिष्क को एक विशेष मार्ग पर ले चलते हैं। सारा वायुमंडल ऐसा बना दिया जाता है कि एक विशेष दृष्टि कोण से मनुष्य चीज़ों को देखने लगता है। जो अपना दृष्टि कोण बदलकर कोई नई बात कहता है उसे सरकार और समाज रोकते हैं। वह अपराधी और पागल कहा जाता है। महात्मा गांधी, जो संसार में सबसे बड़े जीवित महापुरुष हैं, अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करने में आज असमर्थ हैं। इसके दो कारण हैं। सरकार उन्हें इसकी पूरी स्वतन्त्रता नहीं देती और समाज भी उनके आदर्शों को नहीं समझ पाता। फिर कैसे कहा जाय कि मनुष्य स्वतन्त्र है। सामाजिक परिपाटियाँ, राजनैतिक वातावरण और धार्मिक कठिनाइयाँ उसकी स्वतन्त्र विचार धारा में चट्टान की तरह बाधक होते हैं। आज से दस बीस वर्ष पहले कोई ब्राह्मण यह नहीं कह सकता था कि हरिजनों का छुआ भोजन करना चाहिये। ब्राह्मण जाति उसे इसकी स्वतन्त्रता नहीं दे सकती थी।

मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह परिपाटियों का गुलाम नहीं है। सरकारी क़ानून उसकी स्वतन्त्रता में उतनी बाधा नहीं डालते जितने कि सामाजिक बन्धन। मनुष्य अपने आप को जितना इनसे ऊपर उठा पाता है वह उसी दर्जे तक स्वतन्त्र है। रेल किसी को यात्रा करने से नहीं रोकती परन्तु आर्थिक कठिनाई और धार्मिक रूढ़ि अनेक व्यक्तियों को इससे वंचित कर देती हैं। मनुष्य की परिस्थिति भी उसकी स्वतन्त्रता में बाधक होती है। रोटी की चिन्ता में पड़ा हुआ मनुष्य बड़ी बड़ी बातों को नहीं सोच सकता। मानसिक कमजोरियाँ सबसे बड़ी बाधायें हैं। जो शराबी है वह शराब की बुराइयों को नहीं सुन सकता। उसकी कमजोरी इस बात की स्वतन्त्रता नहीं देती कि वह आत्म-उन्नति कर सके। शराब की दूकान उसके पास रहनी चाहिये। शारीरिक त्रुटियों के कारण मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं से वंचित हो जाता है। जिसकी टांग टूट गई हैं वह बद्रीनाथ की यात्रा नहीं कर सकता चाहे उसकी इच्छा कितनी ही प्रबल क्यों न हो। अशिक्षित मनुष्य इच्छा रखते हुए भी कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ सकता। उसकी स्वतन्त्रता चारों ओर से घिरी हुई है। परन्तु उसकी शक्ति अनन्त है। अपनी परिस्थिति से ऊपर उठकर यदि वह अपने आप को पहचान ले तो काफ़ी अंश तक वह स्वतन्त्र हो सकता है।

समानता

समानता के बिना स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। स्वतन्त्रता पाकर यदि देश में थोड़े से लोग सुखपूर्वक रहने लगें और बाक़ी ग़रीबी में तड़पते रहें तो वह देश उन्नति नहीं कर सकता। उन्नति तब होगी जब कुछ चीज़ों में काफ़ी अंश तक समानता का राज्य होगा। अमेरिका के 'स्वतन्त्रतापत्र' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया था। आदर्श नागरिकता के लिये समानता आवश्यक है। वर्तमान सरकारें अपने नागरिकों को एक दृष्टि से देखती हैं। यदि इस प्रकार की समानता न हो तो लोग स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर सकते। जो राज्य सबको समान अवसर नहीं देता और जिसका न्याय समानता पर निर्भर नहीं है वह स्थिर नहीं रह सकता। समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि सबके पास बराबर सम्पत्ति हो और सभी समान शिक्षित हों। यह बात स्वभाव के विरुद्ध है कि सबके विचार समान हों। सभी लोग बुद्धिमान और पराक्रमी नहीं हो सकते। विषमता होते हुये भी प्रकृति में एक समानता है। प्राकृतिक वस्तु सुन्दर होती है, सबका उपयोग है, सबको समान रोशनी और हवा मिलती है। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सबके लिये खुली हुई है। सूर्य की किरणें सबको गर्मी पहुँचाती हैं। अरस्तू के कथनानुसार "सच्ची समानता मित्रता में निहित है।" समानता का तात्पर्य है कि राज्य सबको एक समान समझे। सबको अपनी उन्नति का समान अवसर दे। एक ही अपराध के लिये वह धनी और ग़रीब के लिये अलग अलग दंड का विधान न बनावे। जाति, रूप रंग के कारण किसी का पक्षपात न करे। सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखे। व्यक्तित्व का समान आदर करे। किसी वर्ग अथवा सम्प्रदाय को विशेष अधिकार न दे। शासन विधान में यह बात स्पष्ट कर दीजाय कि क़ानून की दृष्टि में प्रजा समान है।

समानता सम्बन्धी कुछ भ्रम

जिस वस्तु का जितना मूल्य है वह उतने पर बिकेगी। मिट्टी और सोना एक भाव नहीं बिक सकते। समाज में सभी मनुष्य बराबर उपार्जन नहीं कर सकते। जो मज़दूरी एक घास काटने वाले को मिले वही एक प्रोफ़ेसर को दी जाय—यह न्याय संगत नहीं है। मनुष्य की योग्यता और उसकी उपयोगिता का ध्यान रखना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो कुछ लोग परिश्रम करके विद्याभ्यास क्यों करेंगे। यदि किसी राज्य में काने अधिक हों तो सबको समान करने के लिये सरकार

सबकी एक आँख तो नहीं फोड़ सकती। राज्य अथवा समाज यह नियम नहीं बना सकते कि सब लोग बराबर भोजन करें और एक सी पोशाक पहनें। शिक्षा में भी यह नहीं चल सकता कि सबको इन्ट्रेंस पास करना होगा। कोई बीस बार इन्ट्रेंस में फेल हो तो क्या सरकार उसे राज्य से बाहर निकाल देगी? इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि समानता का तात्पर्य समान अवसर को छोड़ कर दूसरा नहीं है।

समानता के मुख्य ६ भेद किये गये हैं:—

शारीरिक समानता, आर्थिक समानता, राजनैतिक समानता, सामाजिक समानता, सांस्कृतिक समानता और नैतिक समानता। इनका तात्पर्य क्या है और व्यक्ति अथवा राज्य की उन्नति पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर अलग अलग विचार किया गया है।

शारीरिक समानता

१—राज्य प्रजा की शारीरिक उन्नति का इतना ध्यान रक्खे कि उनमें शक्ति, स्वास्थ्य और सौन्दर्य में अधिक से अधिक समानता हो। राज्य में रोगियों की संख्या अधिक है तो इससे स्पष्ट है कि प्रजा की शारीरिक उन्नति पर ध्यान कम दिया जाता है। अंधे, लूले, लंगड़े, बहरे—इनका समाज में तिरस्कार किया जाता है। राज्य इनकी उचित व्यवस्था करे। इनकी आवश्यकतानुसार व्यवसाय निकाल कर इन्हें उन्नति का अवसर दे। प्रजा के शारीरिक बल में अधिक विषमता होने से निर्जीव और निरुत्साही व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगती है। हमारे देश में स्वास्थ्य बनाने का अवसर सबको समान नहीं मिलता। आर्थिक विषमता के कारण बहुत से लोग भरपेट भोजन तक नहीं कर पाते। उनका शरीर दुबला पतला होता है और वे एक प्रकार का छोटापन महसूस करते हैं। यदि समाज में थोड़े से लोग मोटे ताज़े बने रहें तो उनके विलासी जीवन का प्रभाव समाज पर बुरा पड़ेगा। जिस प्रकार शासन व्यवस्था में प्रजातन्त्रवाद सबसे उपयुक्त माना गया है उसी प्रकार शारीरिक उन्नति में प्रजातन्त्रवाद होना चाहिये ताकि हम राज्य में किसी को कुरूप और कमज़ोर न देखें। यूनान के स्पार्टा नगर में स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

आर्थिक समानता

२—आर्थिक समानता का तात्पर्य यह है कि लोगों की आमदनी और सम्पत्ति समान कर दी जाय। यह सिद्धान्त समाजवादियों का है। इंगलैंड के राजनीतिज्ञ

लास्की का कहना है कि आर्थिक समानता का तात्पर्य राज्य में सबको समान सुविधायें और अवसर से है। लार्ड ब्राइस, जो प्रजातन्त्रवाद के पूरे पक्षपाती हैं, लिखते हैं "प्रजातन्त्रवाद का आदर्श आर्थिक समानता नहीं है। वह एक प्रकार की शासन व्यवस्था है जिसका मक़सद यह नहीं है कि सम्पूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को बदल दिया जाय।"* राज्य का कर्तव्य है कि वह सबकी रोज़ी की व्यवस्था करे। सबको कम से कम इतनी मज़दूरी ज़रूर दी जाय जिससे वह अच्छी तरह अपने कुटुम्ब का भरण पोषण कर सके। आधुनिक पूँजीवाद आर्थिक समानता में बाधक है। एक ओर तो लोग बड़े बड़े महलों में रह कर विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरी ओर कुछ लोगों को परिश्रम करने पर भी भरपेट भोजन नहीं मिलता।

अत्यन्त ग़रीबी नैतिक पतन का कारण है। सरकार को चाहिये कि आर्थिक विषमता को अधिक से अधिक दूर करे। पूँजीवाद राज्य को धनी ग़रीब दो वर्गों में विभाजित कर देता है। डिज़रेली ने इन्हें दो राष्ट्र कहा है। धन एक शक्ति है। जिसके पास यह मौजूद है वह सम्पूर्ण शक्तियों को धीरे धीरे हासिल कर लेता है। आधुनिक भौतिकवाद युग में धन का स्थान और भी बढ़ गया है। जिसके पास धन है वह राजनीति और समाज दोनों पर अधिकार किये हुये है। बेकारी और ग़रीबी की भयंकरता पूँजीवाद को कलंकित कर रही है। इसे दूर करने का एक ही उपाय है। वह यह कि धनिक वर्ग से अधिक से अधिक कर लेकर तरह तरह के कारोबार बढ़ाये जायँ ताकि बेकारी और ग़रीबी का प्रश्न दूर हो। इससे आर्थिक समानता के साथ राज्य की उत्पादन शक्ति भी बढ़ेगी। जिनकी रहन सहन गिर गई है वे भी ऊपर को उठेंगे।

सांस्कृतिक समानता

३—प्रत्येक देश की अलग अलग संस्कृति है। उसकी रक्षा के लिये शिक्षा आदि का प्रचार किया जाता है। शिक्षा से ही नागरिकता की उत्पत्ति होती है। नागरिक अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान शिक्षालयों में प्राप्त करता है। इसी से चरित्रबल बढ़ता है। शिक्षा प्राप्ति का अवसर सबको समान मिलना चाहिये। जिस प्रकार हवा और पानी सबको मिलते हैं और लोग अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य ठीक कर

* Modern Democracies—Bryce.

सकते हैं उसी प्रकार शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिये। सभ्यता की सबको ज़रूरत है। जब तक कुछ लोगों को संस्थाओं से वंचित रक्खा जायगा तब तक वे अपनी संस्कृति के पुजारी नहीं बन सकते। कुछ लोग दूसरे धर्मों को इसी लिये ग्रहण कर लेते हैं कि उन्हें अपने धर्म का ज्ञान नहीं होता। यदि होता तो उन्हें धर्म बदलने की कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि धर्म सभी अच्छे हैं। ऊँची शिक्षा सभी लोग नहीं प्राप्त कर सकते परन्तु किसी ख़ास हद तक सबको शिक्षित किया जा सकता है।

शिक्षा के अतिरिक्त नागरिकों को इस बात की ट्रेनिंग मिलनी चाहिये कि वे दिमाग़ तथा हाथ दोनों से काम करें। शिक्षित वर्ग आज शारीरिक परिश्रम को पाप समझता है। सभी देशों में शिक्षित और अशिक्षित दो वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। इससे उस देश की संस्कृति का ह्रास होता है। दिमाग़ से काम करने वाले मजदूरों के मूल्य को नहीं समझते। उनकी समझ में शारीरिक परिश्रम का कोई मूल्य नहीं है। इससे समाज में एक दूसरे के प्रति घृणा उत्पन्न होती है? बड़े बड़े दिमाग़ियों को तो 'विद्या का मास्टर' और "विद्या का डाक्टर" आदि उपाधियाँ दी जाती हैं परन्तु बिचारे मज़दूरों के लिये, चाहे वे कितने भी परिश्रमी क्यों न हों, कोई उपाधि नहीं है। कुछ विद्वानों में दिमाग़ी शक्ति और शारीरिक परिश्रम दोनों पाया जाता है। उनसे देश को सांस्कृतिक समानता में बड़ी सहायता मिलती है। थोरो एक बहुत बड़ा लेखक और आदर्शवादी था परन्तु साथ ही वह माली का काम करता, पेंसिल बनाता और अपना कपड़ा अपने आप धोता था। महात्मा गाँधी शारीरिक परिश्रम को उतना ही महत्व देते हैं जितना दिमाग़ी उन्नति को। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि शिक्षा का आधार शरीर श्रम को बनाना चाहिये। इसी से लोगों में प्रेम और सच्ची सभ्यता की वृद्धि होगी और समानता का राज्य होगा।

राजनैतिक समानता

४—राजनैतिक अधिकारों के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है। नागरिक को वोट देने का समान अवसर दिया जाय, सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सबको बराबर अधिकार हों, अधिकार और कर्त्तव्य में राज्य की ओर से कोई भेद भाव न किया जाय, किसी वर्ग अथवा जाति को विशेष सुविधा न दी जाय। राज्य सब की भलाई के लिये हैं।

उसकी व्यवस्था में सब का हाथ होना चाहिये। शासन में भाग लेने से उन्हीं को वंचित किया जाय जो सर्वथा अयोग्य हों। राजनीति जब थोड़े से लोगों के हाथ की कठपुतली हो जाती है तो राज्य में असन्तोष बढ़ता है, बुराइयाँ फैलती हैं और प्रसन्नता का अभाव होता है। राजनैतिक संगठन सब से श्रेष्ठ और दृढ़ माना गया है। यदि उसकी शक्ति समानता की स्थापना नहीं कर सकती तो और कौन कर सकता है।

सामाजिक समानता

५—समाज में नीच ऊँच और धनी ग़रीब का प्रश्न जब तक रहेगा तब तक उन्नति नहीं हो सकती। किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को विशेषाधिकार देना उचित नहीं है। भारतीय समाज में समानता की कमी है। जाति पाँत के कारण लोग एक दूसरे का छुआ भोजन तक नहीं करते और कुओं से पानी तक नहीं निकालने देते। छोटी जाति के लोग बड़ी जाति के सामने चारपाई पर नहीं बैठ सकते। धार्मिक रसम-रवाज़ों को थोड़े से लोगों को करने की आज्ञा दी गई है। यह भेद-भाव कुछ दूर हो रहा है। सामाजिक समानता के अभाव का कारण बहुत कुछ आर्थिक विषमता है। धर्म का कट्टरपन समाज को विभाजित किये हुये है। क़ानून द्वारा यह समानता नहीं लाई जा सकती इसकी दवा सामाजिक सुधार है। इसकी स्थापना तभी होगी जब हम एक दूसरे को अपना मित्र समझें, उसके साथ उठें बैठें और खान-पान में कोई भेद भाव न रक्खें। वर्ण व्यवस्था सामाजिक समानता में बाधक है। जब लोगों के अन्दर यह भाव आयेगा कि सभी मनुष्य बराबर हैं और रूप रंग अथवा धन के कारण उन्हें छोटा बड़ा समझना भूल है, तो समानता की मर्यादा बढ़ेगी। किसी पेशे को नीच समझना हमारी कमज़ोरी है। भंगी को हम नीच समझते हैं लेकिन उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। वह भी मनुष्य है और हमारे समाज का सबसे आवश्यक अंग है। फिर उसे छोटा हम क्यों समझते हैं। राष्ट्रीयता के विकास में सामाजिक समानता सहायक होती है। वैज्ञानिक उन्नति से इन दोनों को मदद मिलती है।

नैतिक समानता

६—चरित्र की उन्नति के बिना मनुष्य का विकास नहीं हो सकता। इसे प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है। सभी गुणों का प्रचार नागरिकों में एक समान होना चाहिये। थोड़े से आदर्शवादी पुरुषों से पूरे समाज

की उन्नति नहीं हो सकती। आवश्यकता इस बात की है कि सभी निःस्वार्थी और उद्यमशील हों। सबके अन्दर बुराई-भलाई पहचानने की शक्ति हो। एक ओर साधु महात्मा और दूसरी ओर पापी और अत्याचारी हों—जिस समाज में इस प्रकार के लोग पाये जाते हैं वहाँ सामाजिक विकास की सम्भावना अधिक नहीं की जा सकती। आज कल के नागरिकों में इसी तरह का अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ तो सुशिक्षित और सभ्य हैं और कुछ मूर्ख और असभ्य। दोनों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु उनके मेल की सम्भावना नहीं की जा सकती। जब तक मनुष्य की भीतरी शक्तियाँ एक न होंगी तब तक बाहरी समानता स्थापित नहीं हो सकती। मनुष्य की जैसी रहन-सहन होती है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। जब विचार एक होंगे तो उनके ऊपरी आचारों में समानता आयेगी। इसलिये चारित्रिक शिक्षा आरम्भ से ही सबको समान रूप से दी जाय ताकि उनके विचार एक मार्ग पर चलने लगे।

समानता और समाजवाद

समाजवाद की परिभाषा एक नहीं है। जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार का समाजवाद है। एक बात सब में पाई जाती है। वह है आर्थिक समानता। समाजवाद का उद्देश्य है कि उत्पादन शक्ति पर सरकार का और उत्पत्ति पर सम्पूर्ण प्रजा का समान अधिकार हो। व्यक्तिगत लाभ से पूँजीवाद की वृद्धि होती है, इसलिये इसे दूर कर देना होगा। सबकी आमदनी बराबर हो और किसी पेशे को बड़ा मान कर उस पर अधिक मज़दूरी न दी जाय। चीज़ों के मूल्य में समानता हो। मनुष्य मात्र में किसी प्रकार का भेद भाव न किया जाय। सभी मनुष्य बराबर हैं इसलिये धनी ग़रीब का अन्तर ठीक नहीं है। समाजवादियों का कहना है कि सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयों की जड़ आर्थिक विषमता है। आर्थिक, आध्यात्मिक, दिमाग़ी और शारीरिक सभी प्रकार की समानता की आवश्यकता है। कोई वजह नहीं है कि शारीरिक परिश्रम करने वाले को उतनी ही मज़दूरी न दी जाय जितनी एक दिमाग़ी काम करने वाले को। समाज में थोड़े से लोगों का राज्य है। वे अपनी भलाई के लिये ग़रीबों की कमाई का अपहरण करते हैं। न्याय और नीति की दृष्टि से यह अनुचित है कि कोई धनी हो और कोई ग़रीब। इसीलिये समाजवाद आर्थिक समानता का प्रतिपादन करता है। इसे आर्थिक प्रजातन्त्रवाद कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

समाजवाद के अन्दर समानता का काफ़ी अंश मौजूद है। वह सभी प्रकार की विषमताओं को दूर कर मनुष्य-समाज में एक न्याय, एक धर्म, एक विचार तथा एक परिवार की भावना को जागृत करता है। कार्य रूप में इसका सेवन भले ही न हो परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से समाजवाद कोई बुरी चीज़ नहीं है। जिसे मनुष्य मात्र से प्रेम है और जिसके अन्दर सच्ची दया है उसके लिये विषमता काल रूप है। यह संसार किसी एक का नहीं है। यह सबका है और किसी का भी नहीं है। अमीरी, ग़रीबी, निचाई, उँचाई का भाव समाज की बनाई हुई चीज़ें हैं। कोई ग़रीब जन्म नहीं लेता और न कोई हीरे जवाहर लेकर पैदा होता है। सभी ख़ाली हाथ आते हैं और ख़ाली हाथ जाते हैं। तब फिर सामाजिक भेद-भाव से मनुष्य की उन्नति में बाधा क्यों डाली जाय?

समानता और अध्यात्मवाद

जितनी समानता अध्यात्मवाद के अन्दर पाई जाती है उतनी कहीं और नहीं। प्राणीमात्र एक ईश्वर की सन्तान है; सभी एक प्रकार की वायु सेवन करते हैं; एक ही चन्द्रमा और एक ही सूर्य सब को शीतल और उष्ण करते हैं। आत्मा एक है, वह अजर और अमर है। धनी-ग़रीब, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब में एक ही ईश्वर का अंश है। सारा संसार एक ब्रह्म की रचना है, एक ही विष्णु भगवान इसका भरण-पोषण करते हैं तथा एक ही शंकर इसका विनाश करते हैं। स्त्री-पुरुष में एक ही आत्मा है। सभी माया के दास हैं, और जीवन मरण के बन्धन से बँधे हुये हैं। परमात्मा की दृष्टि में न कोई नीच है और न कोई ऊँच। उसे तो सभी समान हैं। उसकी दृष्टि में झोंपड़ी और महल में कोई भेद नहीं है। समय के प्रवाह में दोनों का विनाश होगा। धन और बुद्धि के कारण छोटे बड़े का भेद आध्यात्मिक दृष्टि से ग़लत है। आध्यात्मिक पुरुष सबको समान समझता है। उसे चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीव बराबर हैं।

अध्याय ५

सामाजिक-जीवन

"मनुष्य को मनुष्य से बढ़कर कोई लाभदायक वस्तु नहीं है।"

मनुष्य का स्वभाव—समाज के विभिन्न अंग—सामाजिक जीवन की आवश्यकता—कुटुम्ब—जाति—ग्राम—देश—आर्थिक समुदाय—धार्मिक समुदाय—सांस्कृतिक समुदाय - व्यावसायिक समुदाय—व्यावसायिक समुदाय का सिद्धान्त—सेवक मण्डल—मनोविनोद शाखायें—राज्य—समुदायों की सफलता—समाज और समुदाय।

मनुष्य का स्वभाव

स्वभाव से ही मनुष्य एक सामाजिक जीव है। किसी एकान्त वातावरण में थोड़े समय तक वह भले ही रह ले, परन्तु समस्त जीवन वहीं व्यतीत करे यह सर्वथा असम्भव है। अन्य जीवों में भी यह गुण पाया जाता है कि वे अपनी ही जाति की गिरोह में रहना चाहते हैं। एकान्त जीवन उन्हें भी प्रिय नहीं है। मनुष्य सभी जीवों में कमज़ोर है। न तो उसके पास हाथी की तरह मोटे मोटे बाल और चमड़े हैं ताकि वह अपनी रक्षा कर सके; और न उसके शरीर पर साही की तरह काँटों का जाल है। उसका शरीर दुर्बल और कोमल है। कोई भी जंगली जीव क्षण मात्र में उसका काम तमाम कर सकता है। इसी भय से उसका यह स्वभाव हो गया है कि वह अकेले जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी माता उसका पालन-पोषण करती है। ज्यों ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह लोगों की रहन-सहन की नकल करने लगता है, उनकी बोली सीखता है और वस्तुओं के नामों से परिचित होने लगता है। उसकी आवश्यकता की पूर्ति अन्य मनुष्यों द्वारा की जाती है। कुछ और बढ़ने पर वह स्कूल जाता है। वहाँ शिक्षा ग्रहण कर अपनी बुद्धि का विकास करता है। शिक्षा समाप्त होने पर उसकी बुद्धि कार्य रूप में प्रगट होती है। उसके अन्दर यह अभिलाषा होती है कि वह समाज में कुछ करे। इस विचार से प्रेरित हो वह समाज का कीड़ा बन जाता है। अन्त में उसकी

मृत्यु भी समाज में होती है और मरने के पश्चात् उसके कुटुम्बी उसके अन्तिम संस्कार के लिये वाध्य होते हैं।

सामाजिक होने के अतिरिक्त मनुष्य स्वभाव से कर्मशील है। कर्म के बिना एक क्षण भी वह जीवित नहीं रह सकता। उसकी इन्द्रियाँ प्रतिक्षण अपने काम करती रहती हैं। मस्तिष्क समस्त इन्द्रियों का स्वामी है। वह भी कार्य के बिना नहीं रह सकता। यही कार्य करने की शक्ति मनुष्य को वाध्य करती है कि वह अन्य मनुष्यों तथा समुदायों से अपना सहयोग प्राप्त करे। कर्त्तव्यहीन पुरुष को इस सहयोग की भले ही आवश्यकता न हो, परन्तु कार्यशील व्यक्ति अपने आपको इनसे अलग नहीं कर सकता। कुटुम्ब, स्कूल, मन्दिर, जाति, सभा, बाज़ार आदि ऐसे समुदाय हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यदि वह इनसे सम्पर्क न रक्खे तो करे क्या? भोजन तो उसे करना ही पड़ेगा फिर वह बाज़ार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कैसे कर सकता है? वह मूर्ख भी नहीं रह सकता, इसलिये स्कूल भी उसे जाना ही पड़ेगा। उसकी सभी आवश्यकतायें समाज में ही पूरी हो सकती हैं। इसीलिये जन्म से मृत्यु तक उसे समाज में रहना पड़ता है। सामाजिक और व्यक्तिगत विकास का भेदभाव मिटता जाता है। समाज में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। जब समाज से उसे इतने लाभ होते हैं तो वह इसे क्यों छोड़े? यदि उसने अपने स्वभाव को सामाजिक बना रक्खा है तो उसकी कोई हानि नहीं है।

समाज के विभिन्न अंग

'समाज' शब्द को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहिले इसके अंगों का ज्ञान प्राप्त किया जाय। विभिन्न अंग हम तभी समझ सकते हैं जब व्यक्ति के सामाजिक जीवन का इतिहास जानें। मनुष्य अकेले जन्म लेता है। उसकी प्रगति कैसे आरम्भ होती है, और किस प्रकार उसकी आवश्यकतायें उसे तरह तरह के संगठन की ओर ले जाती हैं—इसे समझने के लिये मनुष्य की आवश्यकताओं को जानना होगा। सामाजिक जीवन के पहिले भी कोई जीवन रहा होगा। कुछ लोग इसे पूर्व ऐतिहासिक काल कहते हैं और कुछ जंगली और असभ्य काल कह कर सूचित करते हैं। हमें यहाँ पर पूर्व ऐतिहासिक काल का वर्णन नहीं करना है। इसका उचित स्थान राज्य की उत्पत्ति के वर्णन में आयेगा। मनुष्य की जितनी आवश्यकतायें हैं समाज के

उतने ही अंग हैं। जन्म से मृत्यु तक उसकी आवश्यकताओं का कहीं अन्त नहीं है। इसलिये समाज के अंग भी अनन्त हैं। जन्म लेते ही इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि बच्चे का पालन-पोषण किया जाय, उसे उचित शिक्षा दी जाय, और सभी प्रकार से उसकी रक्षा का उपाय किया जाय। कुटुम्ब से बढ़कर कोई अन्य संगठन इस कार्य को नहीं कर सकता। इसलिये समाज का प्रथम और सबसे आवश्यक अंग कुटुम्ब है।

जीवन में उन्नति के सभी साधन कुटुम्ब में प्राप्त नहीं हो सकते। यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक कुटुम्ब में ऊँची से ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध हो, ज़रूरत की सभी चीज़ें बनती हों, अथवा हर तरह के साधन मौजूद हों। व्यक्ति को इनके लिये स्कूल, बाज़ार, सिनेमा, तीर्थ स्थान आदि जगहों से सम्बन्ध रखना पड़ता है। केवल एक कुटुम्ब अपना घर बनाकर एकान्त में नहीं रह सकता। उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब और भी कुटुम्ब आस पास रहें। इसलिये गाँवों और शहरों की आवश्यकता होती है। गाँव और शहर तब तक सुरक्षित नहीं रह सकते जब तक इनमें जातीय तथा धार्मिक संगठन न हों। इस कमी को पूरा करने के लिये पंचायतें और धार्मिक संस्थायें बनाई जाती हैं। मनुष्य की जीविका का प्रश्न सबसे आवश्यक है। इसकी सुविधा के लिये आर्थिक उपाय ढूँढ़ने पड़ते हैं और बाज़ारों का निर्माण होता है। किसी ख़ास दायरे में सब लोग मिल जुल कर रहें और एक दूसरे को अपना भाई समझें इसके लिये राष्ट्रीय भावना की जागृति की जाती है और राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। सभी व्यक्ति और समुदाय अपनी सीमा के अन्दर अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करें और एक दूसरे की उन्नति में बाधक सिद्ध न हों, इसकी देख-भाल के लिये राज्य की उत्पत्ति होती है। सरकार का संगठन होता है। इसी प्रकार मनुष्य की आवश्यकतायें प्रतिक्षण नये नये संगठन का निर्माण करती रहती हैं। अभी कुछ विद्यार्थियों को इस बात की आवश्यकता हो कि अमुक विषय पर विशेष चर्चा की जाय तो वे एक संगठन बना लेंगे। सभी संगठनों का वर्णन करने के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी। इसलिये हम यहाँ पर मुख्य मुख्य समुदायों और व्यक्ति से उनका सम्बन्ध—इस पर विचार करेंगे। ये समुदाय समाज के विभिन्न अंग हैं। इन्हीं के मेल से राज्य अथवा राष्ट्रीय समाज की स्थापना होती है।

समाज के अंग दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो मनुष्य को बने बनाये मिल जाते हैं। इन्हें स्वाभाविक अंग कहते हैं। व्यक्ति जन्म से इनका सदस्य बन जाता है। कभी न कभी इनका भी निर्माण किया गया होगा किन्तु इसका ठीक पता नहीं चलता। दूसरे प्रकार के अंग वे हैं जो मनुष्य को अपने आप बनाना पड़ता है। सभी देशों में दोनों प्रकार के संगठन पाये जाते हैं। समय समय पर इनमें सुधार होते रहते हैं। स्वाभाविक संगठन भी बदलता रहता है। जब समाज ही स्थिर नहीं है तो उसके अंग स्थिर कैसे रह सकते हैं। स्वाभाविक समुदायों में कुटुम्ब, जाति, ग्राम तथा देश मुख्य हैं। मनुष्य के बनाये हुए समुदायों में आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक, सेवक मंडल, मनोविनोद शाला, तथा राज्य मुख्य हैं। इनका अलग अलग वर्णन किया जायगा। दोनों प्रकार के समुदाय मनुष्य के लिये आवश्यक हैं। इनसे अलग रह कर वह कार्य कुशल नहीं बन सकता।

सामाजिक जीवन की आवश्यकता

एकान्त जीवन निष्क्रिय जीवन है। योगी और सन्यासी एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। वे भी समाज की कम सेवा नहीं करते। उनकी सरलता, निस्पृहता और त्याग से समाज को कम लाभ नहीं होता। परन्तु एकान्त जीवन इतना कठिन है कि सब लोग इसे व्यतीत नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य एकान्त में भयभीत होता है और अपने आत्मबल को खो बैठता है। इसीलिये समाज की आवश्यकता पड़ी कि साधारण मनुष्य क्रमशः अपनी उन्नति करते करते बड़ा बन सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन सरस और स्वाभाविक है। मनुष्य सुखपूर्वक अपना जीवन समाज में ही व्यतीत कर सकता है। उसके अन्दर दया, दान, धर्म, शील, सरलता आदि गुण होते हैं। किसी में इन गुणों की अधिकता और किसी में इनका अभाव होता है। एक दूसरे के सम्पर्क से मनुष्य अपनी उन्नति करता है। सामाजिक टीका टिप्पणी उसके चरित्र को बनाती है। ग़रीब, दुखी तथा रोगियों की सेवा समाज में ही हो सकती है। मनुष्य पर अनेक दैवी आपत्तियाँ आती रहती हैं। यदि इनके निवारण के लिये सेवा मंडल आदि न बनाये जायँ तो उसकी दशा बड़ी ही शोचनीय होगी। आत्म उन्नति मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। सामाजिक जीवन में मनुष्य स्वार्थपरता का परित्याग कर अपने अन्दर समन्वय की भावना का संचार करता है। एक दूसरे के उदाहरण से

अनेक सेवक और त्यागी पैदा होते हैं। 'सभ्यता' शब्द सामाजिक जीवन की देन है। हम मनुष्य को इसीलिये सभ्य कहते हैं कि वह शान्तिपूर्वक मिलजुल कर अपनी तथा औरों की उन्नति करता है। बुराई को हटाकर भलाई का संगठन करना सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। इसी से मनुष्य मनुष्य बन सकता है।

कुटुम्ब

सामाजिक जीवन का प्रधान अंग कुटुम्ब है। पृथ्वी पर कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ कुटुम्ब का संगठन न हो। जंगली जीवन में कुटुम्ब की रचना नहीं हुई थी। मनुष्य जंगलों में रहता, इधर उधर घूमता और जंगली पशुओं को मार कर अपना पेट भरता था। झुंड के झुंड मनुष्य साथ साथ रहते थे। जब लोगों ने जंगलों को साफ़ किया और पशु पालना आरम्भ किया तो उन्हें एक निश्चित स्थान पर रहने की आवश्यकता पड़ी। कृषि आरम्भ हुई और ग्रामों की स्थापना हुई। ग्रामों में विभिन्न कुटुम्ब बन गये। लोग अलग अलग अपना घर बना कर रहने लगे। माता, पिता, स्त्री-बच्चे एक एक कुटुम्बी हो गये। कुटुम्ब में जब मनुष्यों की संख्या बढ़ जाती तो उसी में से कई कुटुम्ब बन जाते। आज भी एक कुटुम्ब के लोग दो या अधिक कुटुम्बों में विभाजित हो जाया करते हैं। इसी तरह गाँवों की आबादी बढ़ती गई।

बच्चा किसी न किसी कुटुम्ब में जन्म लेता है। माता पिता के सम्पर्क में आकर वह उनसे बहुत सी बातें सीखता है। यहीं से उसका सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। जो बातें वह बाल्यावस्था में सीखता है उसका प्रभाव उसके मस्तिष्क पर गहरा पड़ता है। यदि माता पिता योग्य हुये तो बच्चा भी चरित्रवान् होगा। कुटुम्ब बच्चे के लिये एक प्रकार का स्कूल है जहाँ वह सभी बातें सीख सकता है। माता पिता की आज्ञा पालन करके उसे जीवन में आज्ञा-पालन की शिक्षा मिलती है। जो लड़के अपने माता पिता की आज्ञा का उलंघन करते हैं वे आगे चलकर राजकीय नियमों की भी अवहेलना करते हैं। नियम पालन उन्हें भार मालूम पड़ता है। आज्ञा पालन के अतिरिक्त संयम की शिक्षा कुटुम्ब से ही आरम्भ होती है। कोई व्यक्ति अपने लड़के को असंयमी नहीं बनाना चाहता। जितना अवसर बालक को अपने कुटुम्ब में उन्नति करने का प्राप्त होता है उतना किसी अन्य समुदाय में नहीं। स्वभाव से ही बच्चा अपने माता पिता से प्रेम करने लगता है। माता पिता भी बड़ी सख्ती से अपने बच्चे की

देखभाल करते हैं। इस सख्ती के अन्दर एक प्रेम का बहुत बड़ा अंकुर छिपा रहता है। वही बच्चा जब सयाना होता है तो अपने कुटुम्ब का स्वामी बनता है। जो कुछ शिक्षा उसने अपने जीवन काल में प्राप्त की है उसका प्रयोग वह अपने बच्चों पर करता है। इस प्रकार कौटुम्बिक जीवन का चक्र चलता रहता है।

हमारे देश में कुटुम्ब का मतलब केवल स्त्री और पुरुष से ही नहीं है। भारतीय कुटुम्ब में दो दो पीढ़ियों तक के लोग एक ही घर में रहते हैं। उनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है और उनका एक स्वामी होता है। यहाँ पर लड़के को अपने ही माता पिता की आज्ञा का पालन नहीं करना पड़ता बल्कि उन सब के सम्मान का ध्यान रखना पड़ता है जो उससे आयु में बड़े हैं। यदि कुटुम्ब ने बच्चे को अपनी इच्छानुसार चलने दिया तो आगे चलकर इसका प्रभाव कुटुम्ब तथा देश के लिये हानिकारक होता है। निःस्वार्थ सेवा की भावना कुटुम्ब से आरम्भ होती है। माता पिता अपने सुख का उतना ध्यान नहीं रखते जितना अपने बच्चे का। प्रकृति ने स्वभाव से ही मनुष्य में इतनी सहन-शक्ति दी है कि वह अपने बच्चे के लिये सभी प्रकार का कष्ट उठावे। ग़रीब से ग़रीब अपने बच्चे का उतना ही ध्यान रखता है जितना एक धनी व्यक्ति। दोनों की सहानुभूति एक सी होती है। छोटी छोटी बातों की शिक्षा कुटुम्ब से आरम्भ होती है। खाना पीना उठना बैठना, इनका भी एक ढंग हुआ करता है। कुटुम्ब को छोड़ कर किसी अन्य समुदाय में इनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता। इनका सीखना उतना ही आवश्यक है जितना बड़ी बड़ी परीक्षाओं को पास करना। जीवन में जितनी आवश्यकता इन नियमों की पड़ती है उतनी बड़ी बड़ी बातों की नहीं।

आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब का महत्व व्यक्ति के लिये सबसे बड़ा है। कुटुम्ब में सभी प्रकार के लोग होते हैं। कोई अपनी बुद्धि और बल से अधिक और कोई थोड़ा पैदा करता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो कुछ भी नहीं कमा सकते। शारीरिक तथा मानसिक कमजोरियों के कारण वे किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते। इतना अन्तर होते हुये भी कुटुम्ब में सब का भोजन एक जगह और एक समान बनता है। कुटुम्ब का स्वामी इस बात का ध्यान रखता है कि आपस में किसी प्रकार का भेद भाव न होने पाये। वह स्वयं कष्ट उठायेगा पर औरों का ध्यान रक्खेगा। कुटुम्ब में सब के अलग अलग कार्य बँटे होते हैं। सबको पूर्ण

स्वतन्त्रता होती है। फिर भी एक दूसरे से लोग सहमत और हृदय से अपने कार्य में तत्पर रहते हैं। व्यक्ति चाहे कितना भी परिश्रमी क्यों न हो अपनी आमदनी को कुटुम्ब से अलग नहीं समझता। यदि कोई मनुष्य कुटुम्ब में रहते हुये खान पान में किसी तरह का भेद भाव करता है तो सारा समाज उसे बुरा ठहराता है। इसी भय के कारण कौटुम्बिक जीवन में सर्वत्र एकता और समता दिखलाई पड़ती है। एक दूसरे को कष्ट में सहायता देना, कठिन से कठिन अवसर पर अपने आपको आगे रखना तथा कुटुम्ब के अधिकार के लिये सदैव तत्पर रहना, इत्यादि बातों की परीक्षा पहले कुटुम्ब में होती है।

शासन की दृष्टि से कुटुम्ब एक प्रकार का राज्य है। जिस प्रकार राज्य में एक राजा होता ह, बहुत से नियम होते हैं और सम्पूर्ण प्रजा उनका पालन करती है, उसी तरह प्रत्येक कुटुम्ब का स्वामी होता है। कुटुम्ब के संचालन के लिये कई नियम होते हैं, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है। कौटुम्बिक जीवन में ही स्वामी और सेवक का भाव उत्पन्न होता है। यद्यपि ये नियम लिखित नहीं होते फिर भी सभी लोग इनका पालन करते हैं। राज्य की आज्ञा भंग हो सकती है परन्तु कुटुम्ब के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। राजा और प्रजा में अक्सर भेद भाव उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु कौटुम्बिक जीवन में ऐसे अवसर कम आते हैं। यदि किसी कारण वश कोई कुटुम्ब के नियम को भंग करता है तो बिना किसी दबाव के वह स्वामी के दंड को सहन करता है। इसीलिये कुटुम्ब को राज्य का एक छोटा रूप कहा गया है। जो जो गुण राज्य में दिखाई पड़ते हैं वे सब कुटुम्ब में भी पाये जाते हैं। कुटुम्ब राज्य से बढ़ कर है। यदि प्रत्येक कुटुम्ब अपने अधिकार और कर्तव्य का पालन करे तो सरकार की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। जिस राज्य में कौटुम्बिक जीवन सुसंगठित नहीं है वहाँ राजकीय नियमों की अवहेलना अधिक होती है, लोगों में प्रेम और सहानुभूति का अभाव होता है। कौटुम्बिक जीवन को नष्ट कर मनुष्य एक बहुत बड़े समुदाय से हाथ धो बैठेगा। जो स्वाभाविकता इस संगठन में है वह किसी और में नहीं दिखलाई पड़ती। किसी कुटुम्ब के लोग उसी समय अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं जब उन्हें एकता का और कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। समाज में उस कुटुम्ब की कड़ी आलोचना की जाती है जिसमें लोग मिल जुल कर नहीं रहते।

जब कुटुम्ब का इतना अधिक महत्व है तो इसके संगठन के लिये सभी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। आज कल समाज में जो उथल पुथल दिखलाई पड़ती है उसका बहुत कुछ कारण हमारे पारिवारिक जीवन का ह्रास है। पाश्चात्य सभ्यता हमारे देश में इतनी अधिक फैल रही है कि हमारे सभी संगठनों और समुदायों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। आज कल स्त्री और पुरुष इन्हीं को लोग कुटुम्ब समझते हैं। कितने ही व्यक्ति विवाह के पश्चात् अपने माता पिता को छोड़ कर अलग हो जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि अपने बड़ों के प्रति भी अपना कुछ कर्तव्य है। सांसारिक सुख के लोभ में वे स्त्री बच्चों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो इसका कारण हमारी शिक्षा की कमी है। यदि हम कुटुम्ब के महत्व को समझते तो कभी भी उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करते। भारतीय कुटुम्ब आज आदर्श नहीं है। उसमें दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं। एक तो वे जो सभी प्रकार से भारतीय हैं और पुराने विचारों के समर्थक हैं। दूसरे वे जो नवीन विचारों से सहमत हैं और नई रहन सहन के अनुयायी हैं। इन दोनों में इतना अन्तर दिखाई पड़ता है कि बहुत थोड़े से कुटुम्ब सुखी हैं। इस कमी को दूर करने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है निकट भविष्य में हमारा कौटुम्बिक जीवन हरा भरा दिखाई पड़ेगा।

एक आदर्श कुटुम्ब के लिये बहुत सी चीजों का होना आवश्यक है। शिक्षा इन सब में प्रधान है। जो कुटुम्ब शिक्षित नहीं होगा वह सुखी नहीं रह सकता। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इससे विपरीत जीवन व्यतीत कर व्यक्ति प्रसन्न नहीं रह सकता। स्वयं कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं हुआ करती है। प्रत्येक युग में मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है। एक ही वस्तु जो किसी ज़माने में बुरी ठहराई गई थी, आज अच्छी मानी जाती है। मनुष्य को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह ज़माने की प्रगति को पहचाने। तभी वह भले और बुरे को पहचान सकता है। जो बात व्यक्ति के लिये आवश्यक है वह कुटुम्ब के लिये भी है। जिस सहानुभूति और सहृदयता की आवश्यकता आज दिखाई पड़ती है उसकी प्राप्ति शिक्षा के बिना नहीं हो सकती। जब तक कुटुम्ब में शान्ति नहीं है तब तक सारे समाज में शान्ति नहीं रह सकती। क़ानून और शक्ति शरीर को दबा सकते हैं 'लेकिन हृदय पर उनका राज्य तब तक स्थापित न होगा जब तक उनके पीछे न्याय की भावना न होगी। शिक्षा

से ही न्याय की आशा की जाती है। शिक्षित व्यक्ति अपने कर्तव्य का ध्यान रखता है। वह जिस भी कुटुम्ब में रहेगा नियम का पालन और दूसरों के अधिकार की रक्षा करेगा। कौटुम्बिक जीवन में सच्ची एकता तभी रह सकती है जब सभी व्यक्ति अपने अपने कर्तव्य का ध्यान रक्खें। शिक्षा के बिना इस कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता। शिक्षा के अतिरिक्त कुटुम्ब में परिश्रम की भावना एक समान होनी चाहिये। जिस कुटुम्ब में अधिक संख्या काहिलों की होगी वह दुखी और ग़रीब होगा। किसी बड़े कुटुम्ब में एक दो व्यक्ति बैठकर भले ही जीवन व्यतीत कर लें परन्तु यदि आधे से अधिक व्यक्ति औरों की ही कमाई पर निर्भर रहें तो इसका परिणाम कुटुम्ब और समाज दोनों के लिये बुरा होगा। यद्यपि कुटुम्ब में कोई किसी को कार्य करने के लिये वाध्य नहीं करता फिर भी न्याय की दृष्टि से बैठ कर भोजन करना उचित नहीं है। जिस कुटुम्ब में इस नियम का पालन नहीं होता वह कलह का घर बन जाता है। लोगों में अपनापन का भाव आने लगता है। स्वार्थ और अपरिग्रह की बुराई पैदा हो जाती है। सारा कुटुम्ब दुखी होने लगता है।

शिक्षा और कार्य करने की शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी कुटुम्ब के लिये अनिवार्य है। बड़ा से बड़ा कुटुम्ब धन के बिना कुछ नहीं कर सकता। सम्पत्ति पारिवारिक जीवन का आधार है। कुटुम्ब के पास कम से कम इतनी सम्पत्ति ज़रूर होनी चाहिये जिससे सभी व्यक्तियों का अच्छी तरह भरण पोषण हो सके। उसे एक सुन्दर और सुडौल घर की आवश्यकता होती है। भोजन वस्त्र के अतिरिक्त बच्चों की शिक्षा के लिये कुछ धन की आवश्यकता पड़ती है। विशेष परिस्थितियों के लिये कुछ संग्रह भी करना पड़ता है। जिस कुटुम्ब के लोग केवल खाने पीने में लगे रहते हैं वे अक्सर संकट में पड़ जाया करते हैं। कुटुम्ब में संयम से जीवन व्यतीत करना चाहिये। उसमें रहनेवालों का यह धर्म है कि वे सम्मिलित सम्पत्ति इतनी मात्रा में अवश्य कमायें जिससे वे भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा के अतिरिक्त कुछ बचा भी सकें। नित्य के जीवन में सेवा और त्याग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को पड़ती है। जो व्यक्ति कुटुम्ब में इन गुणों को नहीं सीखता वह फिर इन्हें नहीं सीख सकता। व्यक्ति की कमज़ोरियों को छिपाने का जितना अवसर अपने कुटुम्ब में मिलता है उतना शायद ही कहीं मिल सके। हर आदमी अपने कुटुम्बी जनों की छोटी से छोटी कमज़ोरियों को पहचानता है और उन्हें दूर करने की कोशिश करता है।

जो संस्कार कुटुम्ब में एक बार पड़ जाता है वह जीवन भर नहीं मिटता। अच्छा या बुरा जो भी स्वभाव बाल्यावस्था में बन जाता है वह फिर मुड़ नहीं सकता।

कुटुम्ब सभी समुदायों में श्रेष्ठ है। जो शिक्षा मनुष्य को कुटुम्ब में मिलती है वह बाहर सम्भव नहीं है। बच्चे की जितनी सेवा सुश्रूषा उसके कुटुम्ब में हो सकती है उतनी और कहीं नहीं। मनुष्य के अन्दर जो बड़े बड़े विचार उत्पन्न होते हैं उनका बीजारोपण कुटुम्ब में होता है। कुटुम्ब से अलग मनुष्य का जीवन सराय में ठहरे हुये यात्रियों की तरह है। कठिन से कठिन परिस्थिति में कुटुम्ब उसका सहायक होता है। जिस प्रकार बालक की असहाय अवस्था में उसके माता पिता उसका पालन पोषण करते हैं उसी प्रकार वृद्धावस्था में लड़के बच्चे उनकी देख भाल करते हैं। कुटुम्ब का जैसा सच्चा चित्र भारतीय ग्रामों में दिखाई पड़ता है वैसा संसार के किसी कोने में मौजूद नहीं है। आर्थिक कठिनाई के कारण उनकी दशा आज शोचनीय है, फिर भी उनके अन्दर एक सच्चा प्रेम, सच्चा संगठन और सच्ची सहानुभूति है। एकता और समता से उनका जीवन ओत प्रोत है। यद्यपि हमारा शहरी जीवन विदेशी जीवन से काफ़ी प्रभावित है फिर भी ग्रामीण कुटुम्ब अभी तक सच्चे भारतीय हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति ग्रामों में देखने को भी न मिलेगी। जितना ध्यान एक ग्रामीण को अपने कुटुम्ब का होता है उतना अपने निजी सुख का नहीं। उसे यह पूरा विश्वास है कि कुटुम्ब को छोड़ कर कोई दूसरा उसका सहायक नहीं हो सकता। लोग अपने कुटुम्ब में एक दूसरे के लिये जेल यातनायें तक भोगने के लिये तैयार रहते हैं।

जाति

जिस प्रकार सामूहिक जीवन में कुटुम्ब का प्रमुख स्थान है उसी प्रकार जाति भी एक बहुत बड़े संगठन को प्रदर्शित करती है। जातियाँ कब बनीं और किस प्रकार इनका विकास हुआ यह एक दूसरा विषय है। सामाजिक इतिहास के अन्तर्गत इस विषय पर प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ पर हमारा तात्पर्य जातीय संगठन के थोड़े से गुण और दोष प्रकट करना है। प्रत्येक जाति अपना अलग अलग चिन्ह रखती है। जो मनुष्य जिस जाति का रहता है वह अपने चिन्हों का आदर करता है। जैसे प्रत्येक हिन्दू सिर पर चोटी रखता है और एक खास तरह की पोशाक पहनता है। विभिन्न प्रान्तों में खान पान तथा वेश भूषा में थोड़ा अन्तर

होते हुये भी सब में कोई न कोई समता है ; सब पर हिन्दू संस्कृति की एक छाप है ; सब के जीवन का एक ही इतिहास है। रसम रिवाज भी लगभग एक से हैं। मुसलमानों में भी यह एकता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मुसलमान एक दूसरे को अपना भाई समझता है। सभी एक समय नमाज़ पढ़ते हैं और एक ही तिथि पर अपने त्योहार मनाते हैं। इसी प्रकार और भी जातियों में घनिष्ठ एकता के भाव पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति पर गर्व करता है। उसे इस बात का भरोसा रहता है कि अवसर पड़ने पर जाति उसकी रक्षा करेगी। यदि एक जाति का मनुष्य किसी दूसरी जाति द्वारा अपमानित किया जाता है तो सम्पूर्ण जाति उसकी रक्षा करती है। प्रत्येक जाति का एक प्रमुख नेता होता है। सभी लोग उसका सम्मान करते हैं और उसकी आज्ञा मानते हैं।

जाति बहुत से परिवारों का एक संगठन है। जिस प्रकार व्यक्ति की रक्षा कुटुम्ब में होती है उसी प्रकार कुटुम्ब की रक्षा अपने जाति में होती है। आजकल हर जाति के अन्तर्गत बहुत सी उपजातियाँ उत्पन्न हो गई हैं। उपजातियों के अन्दर भी छोटे छोटे टुकड़े दिखाई पड़ते हैं। इन विभिन्न जातियों से लाभ यह है कि अलग अलग संस्कृति की रक्षा होती है। किसी ख़ास दायरे में व्यक्ति अपने आप को सुसंगठित समझता है। अपनी जाति के अन्दर वह तरह तरह के संगठन बनाता है और उनके द्वारा अपनी उन्नति करता है। अपना सम्पर्क वह अपनी ही जाति में अधिक रखता है। विवाह शादी, रोटी-बेटी लोग अपनी ही जाति में क़ायम रखते हैं। अपने जातीय नियम को तोड़ने में लोग डरते हैं। यदि कोई इन्हें तोड़ता है तो उसकी जाति उसे दण्ड देती है। जहाँ जातीय संगठन से इतने लाभ हैं वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। एक जाति का मनुष्य दूसरी जाति वाले को छोटा समझता है। लोगों के अन्दर साम्प्रदायिकता का भाव बढ़ता है। उनका सम्बन्ध व्यापक न होकर एक छोटे से दायरे में घिरा रहता है। जो कुछ भी हो जाति एक स्वाभाविक संगठन है। जैसे कोई व्यक्ति कुटुम्ब से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता उसी प्रकार उसे किसी न किसी जाति का सदस्य रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति जाति पाँति का बन्धन तोड़कर उन्नति कर जाता है, तब भी उसकी जाति वाले उसे अपना समझते हैं। उसे सदैव आदर की दृष्टि से देखते हैं। आजकल जाति पाँति का भेद भाव मिट रहा है, फिर भी इस बात की सम्भावना नहीं पाई जाती कि जातीय

संगठन एक दम छिन्न भिन्न हो जायगा। जिस प्रकार विभिन्न समुदाय हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उसी तरह जाति भी करती है। बहुत से व्यक्ति अपनी जाति के लिये तरह तरह की सुविधायें देते हैं। विश्व सेवा के भाव से शायद वे इसे न करते परन्तु जाति के नाम पर सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। यदि प्रत्येक जाति अपनी अपनी उन्नति करे और एक जाति दूसरी को छोटा न समझे तो इसका संगठन कुटुम्ब से कम आवश्यक नहीं हैं।

ग्राम

ऊपर कहा गया है कि कोई कुटुम्ब किसी एकान्त स्थान में नहीं रह सकता। रक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि बहुत से कुटुम्ब एक स्थान पर रहें। कुटुम्बों के एक साथ रहने से ग्रामों की उत्पत्ति हुई है। ग्राम पहले थोड़े से कुटुम्बों का एक समूह था। ज्यों ज्यों आबादी बढ़ी त्यों त्यों कुटुम्बों की संख्या बढ़ती गई। ग्रामों की आवश्यकता अन्य दृष्टियों से भी पड़ी। मनुष्य की सारी आवश्यकतायें कुटुम्ब में पूरी नहीं हो सकतीं। इसलिये आवश्यकता हुई कि विभिन्न पेशे वाले कुटुम्ब एक साथ मिल कर रहें। गाँवों में कोई खेती करता है, कोई गौ पालता है, कोई कपड़े धोता है कोई बाल बनाता है और कोई लोहार और बढ़ई का काम करता है। यदि ये विभिन्न पेशे वाले न हों तो किसी का काम नहीं चल सकता। ग्राम एक ऐसा संगठन है जो स्वतंत्र और स्वावलम्बी बन सकता है। वहाँ हर तरह की शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है। उन्हें तरह तरह के व्यवसाय सिखाये जा सकते हैं।

आरम्भ में गाँव स्वावलम्बी और स्वतंत्र थे। प्रत्येक ग्राम का एक मुखिया होता था। सब लोग उसकी आज्ञा मानते थे। ग्राम के सारे झगड़ों को वही निपटाया करता था। उसे प्राण दण्ड देने तक का अधिकार था। प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतायें अपने ही अन्दर पूरी हो जाती थीं। सबको अपने परिश्रम के अनुसार उचित मज़दूरी मिलती थी। ग्राम की आय का कुछ हिस्सा सरकार को दिया जाता था। ग्राम पंचायतें वहाँ का शासन करती थीं। प्रत्येक ग्राम में एक पंचायत होती थी। कई ग्रामों को मिला कर एक अलग पंचायत हुआ करती थी। इसका नाम 'मण्डल सभा' था। आज कल के गाँव न तो स्वावलम्बी हैं और न स्वतंत्र। वहाँ की पंचायतें नष्ट हो गईं। वहाँ शिक्षा का आज अभाव है। ग़रीबी के कारण ग्रामीण जीवन दुखमय हो रहा है। न तो वहाँ

किसी प्रकार का रोज़गार है और न कृषि के लिये उचित साधन। ग्राम कुटुम्ब का एक बृहत् आकार है। जो शिक्षा मनुष्य को अपने कुटुम्ब में मिलती है वही बड़े पैमाने पर ग्राम में भी। एक पड़ोसी अपने दूसरे पड़ोसी का सभी प्रकार से ध्यान रखता है। यदि किसी के घर में आग लगती है तो ग्राम के सभी लोग उसे बुझाते हैं और उसके साथ दुख प्रकट करते हैं। जिस दिन ग्राम में कोई व्यक्ति मर जाता है उस दिन समस्त ग्राम शोक मनाता है। यदि किसी के घर कोई उत्सव होता है तो सारा गाँव अपनी खुशी प्रकट करता है। यदि कोई दूसरा ग्रामवासी अपने पड़ोस के ग्राम निवासी को दबाता है तो गाँव उसकी सहायता करता है। ग्राम में रहने वाले कुटुम्ब अपने आपको सुरक्षित समझते हैं। वहाँ की सम्पत्ति सम्मिलित न होने पर भी लोग उसकी देख भाल रखते हैं। वहाँ बहुत सी चीज़ें सम्मिलित होती हैं। कुओं से सब लोग सिंचाई करते हैं। जंगलो से सभी लकड़ी काटते हैं। तालाबों से पानी सभी ले सकते हैं। गाँवों में पंचायत घर बने रहते हैं, जहाँ अतिथि और बाहरी यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध रहता है। इन्हें 'चौपाल' कहते हैं। और भी आवश्यक वस्तुयें गाँव के लोग सम्मिलित रूप से रखते हैं।

सामाजिक संगठन में ग्राम आवश्यक हैं। भारतवर्ष में इन ग्रामों की आवश्यकता शहरों से कहीं अधिक है। यह देश कृषि प्रधान है। ग्राम के चारों ओर खेती के लिये ज़मीन होती है। सम्पूर्ण देश ग्रामों के जाल से भरा हुआ है। लगभग साढ़े सात लाख गाँव हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बसे हुये हैं। इन्हीं की पैदावार से आज न केवल गाँवों का बल्कि शहरों तथा कुछ विदेशियों का पालन पोषण हो रहा है। जैसे कोई व्यक्ति कुटुम्ब से अलग होकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता और उनका सम्बन्ध स्वाभाविक है उसी प्रकार गाँव भी एक स्वाभाविक समुदाय है। इससे अलग होकर वह किसी पेशे की शिक्षा नहीं ले सकता। पाठक-गण ऐसा न समझें कि ग्राम और शहर में कोई बहुत बड़ा भेद है। इन दोनों में कोई जाति भेद नहीं है। शहर ग्राम के उन्नत रूप हैं। जिन ग्रामों में तिजारत की वृद्धि हुई और, जो किसी नदी के किनारे थे उनकी आबादी बढ़ती गई। वे ही शहर हो गये। वर्तमान जीवन में शहर और ग्राम में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। परन्तु नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत जब

हम ग्रामों पर विचार करते हैं तो शहर और गाँव में कोई भेद नहीं कर सकते।

देश

नागरिक अपने देश का सदस्य होता है। कुटुम्ब और ग्राम में उसकी पूरी उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिये नागरिकता की आवश्यकता पड़ती है। सम्पूर्ण देश से कोई अनागरिक लाभ नहीं उठा सकता। उसका देश एक वृहत् परिवार है। नागरिक का व्यक्तित्व कुटुम्ब और ग्राम में उतना विकसित नहीं हो सकता जितना सम्पूर्ण देश में। देश से उसे बहुत से लाभ होते हैं। वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने देश का भ्रमण कर सकता है। उसके व्यापार के लिये सारे देश के बाज़ार खुले होते हैं। अपने देश में वह किसी भी जगह जाकर रह सकता है और अपनी जीविका कमा सकता है। कोई व्यक्ति उसके राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकारों में बाधा नहीं डाल सकता। जब कोई विदेशी सरकार किसी देश पर चढ़ाई करती है तो वहाँ की सरकार उसकी रक्षा करती है। रक्षा के अतिरिक्त देश राज्य की सीमा को निश्चित करता है और बड़े पैमाने पर व्यक्ति के लिये उन्नति का साधन उपस्थित करता है। हर देश अपना एक इतिहास और संस्कृति रखता है। राष्ट्रीय भावना की जाग्रति देश में ही हो सकती है। राजनैतिक संगठन देश में ही किया जा सकता है। व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति और ग्राम के अतिरिक्त किसी देश का नागरिक हुआ करता है। देश का विस्तृत वर्णन राजनैतिक समुदाय के अन्तर्गत किया गया है।

आर्थिक समुदाय

समाज में धन की आवश्यकता सब को है। विशेष कर इस युग में, जब कि पैसे के बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, धन की महत्ता और भी बढ़ गई है। सारा समाज दो वर्गों में बँटा हुआ है। एक धनी और दूसरा ग़रीब। आर्थिक उन्नति और कारोबार की सुविधा की दृष्टि से हर देश में अनेक आर्थिक समुदाय होते हैं। समय समय पर इनका संगठन बदलता रहता है। जैसी आर्थिक दशा होती है और जिस प्रकार के आवागमन के साधन उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार के आर्थिक संगठन बनाये जाते हैं। आज कल मिलों और फ़ैक्ट्रियों का युग है। इसलिये पूँजीपतियों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है बाजार में चीज़ों का भाव ठीक रखना। कोई मिल मालिक अपनी चीज़ को एक निश्चित दर से कम पर नहीं बेंच सकता। ऐसा न करने से और पूँजी-पतियों को

घाटा होगा। मज़दूरों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है कि उनकी मज़दूरी एक ख़ास दर से कम न की जाय, काम के घंटे न बढ़ाये जायँ, और उनके साथ किसी प्रकार की ज़्यादती न की जाय। इस संगठन को "मज़दूर संघ" (Labour Union) कहते हैं। आर्थिक संगठनों का उद्देश्य समाज में धन की वृद्धि और उसका उचित उपयोग करना है। विदेशों से जो लोग तिजारत करते हैं उनका भी एक संगठन है। अपने देश में किसी वस्तु-विशेष का प्रचार करने के लिये भी संगठन बना लिये जाते हैं। कुछ लोग उनके सदस्य बन जाते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। बंगाल में जूट से चीज़ें बनाने वालों का एक संगठन है। शहरों में बैंक और ग्रामों में जो "ग्राम सहयोगी सभायें" (Village Co-operative Societies) स्थापित की गई हैं वे भी एक तरह के आर्थिक संगठन हैं। बाज़ार और मंडी में इस प्रकार का कोई न कोई संगठन अवश्य पाया जाता है। राष्ट्र संघ (League of Nations) के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन (International Labour Union) एक आर्थिक समुदाय है। इसका उद्देश्य मज़दूरों और पूँजीपतियों में मेल उत्पन्न करना और मज़दूरों की भलाई का ध्यान रखना है। इसकी एक शाखा हमारे देश में भी है जिसका आफ़िस दिल्ली में है।

धार्मिक समुदाय

प्राचीन काल में धर्म जीवन का एक आवश्यक अंग समझा जाता था। सभी व्यक्ति धार्मिक होते थे। धर्म के पुजारियों का समाज में बोल-बाला था। उनकी आज्ञा राजा तक को माननी पड़ती थी। राजा धार्मिक होते थे। अशोक ने, राजा होते हुये भी, धर्म का इतना प्रचार किया जितना बौद्ध भिक्षु भी न कर सके। यूरप में मध्यकाल के अन्त तक पोप का समाज पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक काल में धर्म का संगठन दृढ़ रहा है। आज भी, जब कि विज्ञान की उन्नति के कारण तर्क वितर्क का भाव लोगों के अन्दर काफ़ी बढ़ रहा है, धर्म की महिमा कम नहीं है। बड़े मन्दिरों में अब भी लाखों रुपये की पूजा रोज़ चढ़ती है। मठों के पास गाँव के गाँव मौजूद हैं। तीर्थ स्थानों में धर्म के नाम पर पंडों की तिजारत चल रही है। धर्म के नाम पर जितना दान हमारे देश में होता है उतना शायद ही किसी देश में होता हो। यदि यह दान संगठित कर दिया जाय तो अच्छे से अच्छे सार्वजनिक कार्य किये जा सकते हैं।

धर्म एक ऊँची चीज़ है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर के प्रति एक सच्ची लगन है। उसी लगन से प्रेरित होकर वह धार्मिक क्रियाओं की ओर झुकता है। कोई सन्ध्या करता है, कोई माला जपता है और कोई गंगा स्नान करता है। इसी से उसे सन्तोष नहीं होता। वह कुछ धार्मिक चर्चायें भी सुनना चाहता है। वह किसी साधु सन्त के पास जाता है। जब बहुत से लोग किसी साधु के पास जाने लगते हैं तो वहाँ एक धार्मिक संघ बन जाता है। भजन-कीर्तन आदि का प्रबन्ध होता है और लोग ज्ञान की चर्चा करते हैं। इससे उन्हें शान्ति मिलती है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि जब तक धर्म का संगठन न होगा तब तक सच्ची शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इसी की पूर्ति के लिये आज कल 'धर्म संघ' की स्थापना की गई है। कुछ साधु संन्यासी घूम घूम कर लोगों को यह उपदेश देने लगे हैं कि 'धर्म में श्रद्धा रक्खो। इसी से तुम्हारा और विश्व का कल्याण होगा।' धार्मिक व्यक्ति अधिकतर सदाचारी होते हैं। उनके अन्दर लोभ, क्रोध, मोह आदि विकार कम होते हैं। आज कल सच्चे धार्मिक संगठनों का अभाव है। भौतिकवाद के युग में त्याग की ओर बहुत थोड़े लोग जाते हैं। यही कारण है कि धर्म का ह्रास हो रहा है। तब भी कोई न कोई धार्मिक संगठन व्यक्तियों को बाँधे हुये है। कोई वैष्णव है, कोई शैव है, कोई राधा स्वामी सतसंगी है तो कोई बौद्ध अथवा जैनी है। यूरप में अधिकतर लोग ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। धर्म का ह्रास कुछ दिनों के लिये भले ही हो जाय किन्तु इसका लोप नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक समुदाय

केवल भोजन और वस्त्र से मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसे जितनी आवश्यकता शरीर के लिये भोजन की है उससे अधिक मस्तिष्क के लिये ज्ञान की है। ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है। इसी के लिये मनुष्य व्याकुल है। अज्ञान हमारे दुखों का मूल है। यदि मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसके सारे दुख दूर हो जायँ। मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को पहचाने। हमारे वेद और शास्त्रों ने यह कहा है कि "आत्मा को पहचानो" (आत्मानं विद्धि)। सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य ज्ञान की चिन्ता में निमग्न है। इसी की प्राप्ति के लिये उसने स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, गुरुकुल आदि खोल रक्खा है। इनका उद्देश्य यही है कि मनुष्य अज्ञान का निवारण कर

ज्ञान की प्राप्ति करे। इनके अतिरिक्त लाइब्रेरी तथा वाद विवाद समुदाय बनाये जाते हैं। सरकार इनकी सहायता करती है। इनमें प्रवेश करने की सबको पूरी स्वतन्त्रता है। रूप, रंग, जाति अथवा धर्म के कारण कोई इनसे वंचित नहीं किया जाता। किसी किसी राज्य में शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है।

संस्कृति शब्द का अर्थ है 'सभ्यता'। जब देशवासियों के विचार एक होने लगते हैं, उनकी रहन सहन में समता आ जाती है, तो उस देश की एक विशेष संस्कृति बन जाती है। प्रत्येक जाति तथा देश की अपनी संस्कृति होती है। किन्तु ऊपरी एकता से संस्कृति नहीं बना करती है। विचारों में भी एकता होनी चाहिये। यदि किसी देश को अपनी संस्कृति बनानी है तो उसे एक खास ढंग की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। प्राचीन काल में यूनान देश में एथेन्स और स्पार्टा नाम के दो शहर थे। दोनों स्वतन्त्र थे और अपनी अलग अलग संस्कृति रखते थे। एथेन्स शान्ति-प्रिय शहर था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य शान्ति की स्थापना करना था। इसके विपरीत स्पार्टा की शिक्षा फ़ौजी थी। सबको फ़ौजी शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। परिणाम यह था कि वहाँ की संस्कृति फ़ौजी थी। लोग शारीरिक बल को अधिक महत्व देते थे। साहित्यिक उन्नति उनके लिये बेकार थी। संस्कृति समय समय पर बदलती रहती है। एक ही देश विभिन्न काल में अपनी अलग अलग संस्कृति रखता है। भारतवर्ष को ही ले लीजिये। जो संस्कृति इस देश की गुप्त काल में थी वही मौर्य काल में नहीं। मुसलमानी काल की संस्कृति कुछ और थी। बृटिश राज्य में हमारी संस्कृति बिलकुल भिन्न है। आजकल हमारे ऊपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ रहा है। कोई व्यक्ति किसी न किसी संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता। जो जिस देश में रहेगा वह उसकी संस्कृति को अवश्य अपनायेगा। जब कोई विदेश में जाकर बस जाता है तो वह अपनी संस्कृति को छोड़ कर उसी देश की संस्कृति का पुजारी बन जाता है। संस्कृति केवल ऊपरी रहन-सहन तथा शिक्षा से नहीं बना करती। देश की जलवायु तथा प्राकृतिक बनावट के कारण एक संस्कृति दूसरे से भिन्न होती है। उस देश के धर्म, रसम-रवाज, शिक्षा तथा रहन-सहन ख़ास तरीक़े के होते हैं। सारे संसार की संस्कृति एक नहीं हो सकती। यह प्रकृति के विरुद्ध है। जैसे और क्षेत्रों में मनुष्य उन्नति-अवनति करता है उसी तरह

संस्कृति भी नीची और ऊँची हुआ करती है। जिस देश की सामाजिक दशा उन्नति पर रहेगी, लोगों में चरित्र बल की वृद्धि होगी, और शिक्षा का पूरा प्रचार होगा, उस देश के लोगों की संस्कृति ऊँचे दर्जे की होगी। उनके विचार ऊँचे होंगे। आर्थिक और राजनैतिक गुलामी किसी देश की सांस्कृतिक अवनति का कारण होती है।

व्यावसायिक समुदाय

व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। प्राचीन काल में लोगों की आवश्यकतायें थोड़ी थीं। अपनी अपनी ज़रूरतें लोग पूरी कर लिया करते थे। अठारहवीं शताब्दी में व्यावसायिक क्रान्ति ने मनुष्य के जीवन में महान परिवर्तन किया। संसार का आर्थिक आधार बदल दिया गया। लोगों की आवश्यकतायें प्रति दिन बढ़ने लगीं। व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता था। लोगों के दृष्टि कोण में नवीनता आ गई। इसलिये कार्य विभाजन (Division of labour) का प्रचार हुआ। एक ही काम को पूरा करने के लिये कई हाथों की आवश्यकता पड़ी। कोई कपास बोता, कोई उसके बेचने का प्रबन्ध करता, कोई सूत कातता, कोई कपड़ा बुनता और कोई उसे धोकर साफ़ करता, तब वह कपड़ा बन कर बाज़ार में आता था। इन विभिन्न पेशे वालों के अलग अलग समुदाय बन गये। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ये समुदाय और भी दृढ़ होते जा रहे हैं। इन समुदायों में किसी जाति, अथवा धर्म का भेद भाव नहीं होता। जो जिस पेशे को करता है, वह उसका एक सदस्य समझा जाता है। एक पेशे वाले आपस में भाई भाई का व्यवहार रखते हैं। यदि किसी पेशे में एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक ईसाई है तब भी वे आपस में मिल जुल कर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता पहुँचाते हैं। अलग अलग पेशे की अलग अलग जातियाँ बन गई हैं। जो धोबी का काम करने लगे उनका एक अलग पेशा और संगठन है। इसी प्रकार, नाई, लुहार, कुम्हार, कोइरी आदि भिन्न भिन्न व्यावसायिक समुदाय बन गये। आज कल इन्हें हम अलग अलग जाति समझते हैं लेकिन यह हमारी भूल है। आरम्भ में इनमें ऊँच नीच का भाव न था। कोई पेशा छोटा और बड़ा नहीं माना जाता था। लेकिन समय के प्रवाह में पेशे को लोग ऊँच नीच समझने लगे। विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, वैद्य, डाक्टर, महाजन, मजदूर इत्यादि अपना अपना संगठन बनाये हुये हैं। प्रत्येक पेशे वाला अपने गिरोह का सदस्य

होता है। इससे उसे लाभ पहुँचता है। समुदाय में उसे बहुत सी नई बातें मिलती हैं जिनसे उसकी शक्ति बढ़ती है। संगठन से उसके पेशे का महत्व बढ़ता है और लोगों में उसका प्रचार होता है। लोग अपने समुदाय के पेशे को अपनाने में अपना गौरव समझते हैं।

व्यावसायिक समुदाय का सिद्धान्त

संगठन किसी सिद्धान्त पर बनता है। धर्म का सिद्धान्त है कि लोग सदाचारी बनें। राजनैतिक संगठन का सिद्धान्त देश की रक्षा और प्रजा की उन्नति करना है। प्रश्न यह है कि व्यावसायिक संगठन किस सिद्धान्त पर बनने चाहिये। प्रत्येक व्यवसाय एक आर्थिक संगठन है। लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये उसका सदस्य बनते हैं। परन्तु केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से समुदाय की रचना करना ठीक नहीं है। यदि अध्यापक वर्ग अपना संगठन इसलिये बनावें कि उनकी तनख्वाह में वृद्धि हो और उन्हें कम से कम काम करना पड़े तो यह उचित नहीं है। स्वार्थ कोई बुरी चीज़ नहीं है, परन्तु निरा स्वार्थ बुरा है। जहाँ अध्यापक वर्ग अपनी भलाई और सुविधा का ध्यान रक्खे वहाँ विद्यार्थियों की उन्नति पर भी विचार करे। वक़ीलों का भी एक संगठन है जिसे 'वकील समुदाय' (Bar Association) कहते हैं। लगभग सभी वक़ील इसके सदस्य होते हैं। यदि इसका उद्देश्य यह हो कि वे अधिक से अधिक फ़ीस कैसे लें तो यह सिद्धान्त ग़लत है। उनका ध्यान यह होना चाहिये कि कचहरियों में न्याय कैसे हो और मुक़दमों की संख्या कम करके वे देश का कल्याण कैसे करें। यही हालत मज़दूरों के संगठन की है। यदि मज़दूर वर्ग केवल मज़दूरी की चिन्ता करता है और कार्य का ध्यान नहीं रखता तो उसका संगठन नहीं चल सकता। व्यावसायिक समुदायों का सिद्धान्त स्वार्थपूर्ति के साथ समाजोन्नति तथा व्यवसाय शुद्धि होना चाहिये। प्रत्येक समुदाय इस बात पर विचार करे कि किस प्रकार वह अधिक से अधिक अपने देश की सेवा कर सकता है। वह अपना सिद्धान्त सेवा बनावे, न कि स्वार्थ पूर्ति और लड़ाई। आपस में एक दूसरे पेशे वाले नीच ऊँच का भेद भाव छोड़ें और प्रेम पूर्वक मिलकर अपने देश की उन्नति करें।

सेवक मंडल

सेवा का क्षेत्र अनन्त है। रास्ते में यात्रियों को पानी पिलानेवाला अथवा बड़ी बड़ी धर्मशालायें और क्षेत्र खोलनेवाला, दोनों समाज के सेवक हैं। कोई धन से, कोई

शरीर से और कोई बुद्धि से सेवा करता है। कुछ लोग सेवा को एक संस्था का रूप दे देते हैं जिसके द्वारा समाज की सेवा होती है। बहुत से दानी पुरुष अपनी सम्पत्ति का ट्रस्ट आदि बना देते हैं जिससे समाज में तरह तरह के भलाई के काम होते हैं। लोक सेवक मंडल, भारत सेवक मंडल, स्काउट संघ, महानन्द मिशन आदि समाज की भलाई के लिये बनाये गये हैं। इनका जन्म दाता कोई महापुरुष होता है। लोक सेवक मंडल की स्थापना पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने की थी। भारत सेवक मंडल की स्थापना गोखले ने की थी। ये मंडल आज भी देश की भलाई में लगे हुये हैं और जब तक भारतीय समाज जीवित रहेगा तब तक ये उसकी सेवा करते रहेंगे। आज कल सेवा का भाव लोगों के अन्दर काफ़ी बढ़ रहा है। यही कारण है कि अनेक प्रकार के नये नये संगठन बन रहे हैं। सबका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सेवा करना है। प्रत्येक मनुष्य को इनमें हाथ बँटाना चाहिये। जिस समाज में हम रहते हैं उसके प्रति हमारे बहुत से कर्तव्य हैं। उन्हें हम तभी पूरा कर सकते हैं जब समाज की भलाई करें। अपनी रक्षा और स्वार्थ की देख रेख तो पशु भी करता है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ कहा गया है। उससे यह आशा की जाती है कि वह अपनी चिन्ता के अतिरिक्त औरों की भलाई का भी ध्यान रक्खे। सेवा के बिना मनुष्य समाज के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। सेवा की पहिली सीढ़ी सहानुभूति है। जिसके अन्दर एक दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है वह सेवा नहीं कर सकता। इन सेवक मंडलों में आकर लोगों के अन्दर और भी सेवा के भाव उत्पन्न होते हैं।

मनोविनोद शालायें

सामाजिक जीवन सुखमय तभी रह सकता है जब लोगों के अदन्र जीवन हो, उनके चेहरे पर हँसी हो और उनका शरीर स्वस्थ हो। यदि समाज में सब लोग उदासीन रहें और बीमारी के जाल से जकड़े हों तो सभी सेवायें व्यर्थ हैं। जीवन का उद्देश्य है 'आत्मानन्द'। इसकी पूर्ति के लिये तरह तरह के साधन की आवश्यकता होती है। कार्य से छुट्टी पाकर लोग कुछ मन बहलाव चाहते हैं। चुपचाप बैठ जाने से मन प्रसन्न नहीं रह सकता। इसी लिये तरह तरह के क्रीडा गृह, व्यायाम शालायें, नाटक, थियेटर, सेनिमा आदि बनाये जाते हैं। लोग आपस में कभी कभी दावतें करते हैं।

इनसे चित्त का बहलाव और एक दूसरे से परिचय प्राप्त होता है। परिचय से सामाजिक जीवन की उन्नति होती है। सभी पदों के लोग इन मनोविनोद शालाओं में बराबरी के साथ एक दूसरे से मिलते और ख़ुशी मनाते हैं। इनकी उन्नति को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि देश की दशा हरी भरी है। जिस देश के लोग खाने पीने की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं वहाँ मनोविनोद की इच्छा कम होती है। यद्यपि ख़ुशी और आनन्द मनाना समाज की उन्नति का चिन्ह है, फिर भी इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। दावतों में अधिक धन व्यय करना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अपने समय का बहुत बड़ा भाग नाटक और सेनिमा में ख़र्च करना जीवन के मूल्य को कम करना है। हम मनोविनोद को उतना ही स्थान दें जहाँ तक उसकी आवश्यकता है। साथ ही हमें औरों का भी ध्यान रखना चाहिये। यह ठीक नहीं है कि देश में एक ओर तो भयंकर ग़रीबी है और दूसरी ओर थोड़े से लोग दावतों में दूध दही की नदी तक बहा दें। इससे समाज की कमज़ोरी और सहानुभूति का अभाव प्रकट होता है। सच्चा मनोविनोद समाज को साथ साथ ले चलने में है। सम्पूर्ण समाज प्रसन्न और हरा भरा दिखाई पड़े यह हमारी मनोविनोद शालाओं का उद्देश्य होना चाहिये।

राज्य

आज तक जितने भी समुदाय बने हैं, राज्य उन सब में बड़ा है। यह समुदाय कब और कैसे बना इसका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति वाले अध्याय में किया जायगा। राज्य की उत्पत्ति कर मनुष्य ने अपने आपको राजनैतिक बंधन में बाँध दिया। परन्तु यह हानिकर नहीं है। राज्य का उद्देश्य है कि वह मनुष्य को कुमार्ग पर जाने से बँचावे और सुमार्ग पर ले चले। व्यक्ति राज्य का एक सदस्य होता है। उसे नागरिक कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति नागरिक नहीं है तो वह राज्य का सदस्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसे भी राज्य बहुत सी सुविधायें देता है। केवल राजनैतिक अधिकार उसे नहीं दिये जाते। वह भी किसी राज्य का नागरिक बन सकता है। अन्य समुदायों और राज्य में यह भेद है कि राज्य का सदस्य बनना सबके लिये अनिवार्य है। मनोविनोद शाला का सदस्य कोई भले ही न हो, व्यावसायिक समुदाय से कोई अपना सम्बन्ध न रक्खे परन्तु राज्य से उसे सम्बन्ध रखना होगा। राजनीति एक

ऐसा विषय है जिसकी आवश्यकता सबको पड़ती है।* राजनैतिक संगठन से कोई अपने आपको अलग नहीं रख सकता। राजनीति में नागरिक अपने अधिकारों का प्रयोग भले ही न करे परन्तु कर्तव्यों का उसे ध्यान रखना पड़ता है।

राज्य सबसे बड़ा राजनैतिक संगठन है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे छोटे राजनैतिक संगठन हैं। राजनैतिक दल उनमें से एक है। इसका सदस्य होना किसी के लिये अनिवार्य नहीं है। ये दल कई कारणों से बनते हैं। कभी तो विचारों के मतभेद के कारण और कभी स्वार्थ की पूर्ति के लिये। राज्य सभी समुदायों से ऊपर रहता है। वह उनकी देख रेख रखता है और आपस में मिलकर काम करने का अवसर देता है। यह एक ऐसा संगठन है जो सभी देशों में पाया जाता है। उनके संगठन में अन्तर भले ही हो परन्तु उद्देश्य सबके एक हैं। कुछ देशों में लोग राज्य को सर्व शक्तिमान और कुछ में उसे शक्तिहीन बनाना चाहते हैं। परन्तु उत्तम मार्ग इन दोनों के बीच में है। सामाजिक जीवन की रक्षा का भार राज्य पर होता है। भीतरी लड़ाइयों तथा बाहरी हमलों से वह देश की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त सभी समुदायों और संगठनों को अपने अपने कर्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है।

समुदायों का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव

प्रत्येक समुदाय मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्त्ति करता है। आर्थिक समुदाय से व्यक्ति अपना भरण पोषण करता है, धार्मिक समुदाय में शान्ति ग्रहण करता है, सेवक मंडल द्वारा समाज की सेवा करता है, और इसी प्रकार सभी समुदायों से अपनी उन्नति करता है। समाज की रचना इसीलिये हुई है कि व्यक्ति अपना विकास करे। परन्तु समाज कोई ऐसी चीज़ नहीं है जहाँ मनुष्य की सारी शक्तियाँ एक दिन में विकसित हो जायँ। समुदायों की उत्पत्ति इसलिये हुई है कि इनके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इन्हीं के मेल को समाज कहते हैं। जो व्यक्ति इन समुदायों से लाभ नहीं उठाता वह अर्द्ध सामाजिक है। उसकी उन्नति नहीं हो सकती। मनुष्य के अन्दर जितने विचार हैं उनकी पूर्त्ति के लिये उतने ही प्रकार के समुदाय भी बन सकते हैं। यह

* Politics is every body's business.

उसकी इच्छा पर है कि वह इनका निर्माण करे। संगठित जीवन का तात्पर्य है कि मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ अलग अलग संगठित हों और फिर किसी जगह उन सबका एकीकरण हो। किसी समुदाय का सदस्य बनकर वह एक शक्ति प्राप्त करता है। औरों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का जितना अवसर इन समुदायों द्वारा मिलता है उतना और कहीं नहीं। जो जितना ही समुदाय का सदस्य है वह उतना ही सामाजिक गिना जाता है और उसकी बुद्धि उसी मात्रा में सार्वजनिक होती है। सार्वजनिक भावनायें कुटुम्ब से आरम्भ होती हैं। बढ़ते बढ़ते समुदायों में प्रवेश करती हैं। फिर देश हित का ध्यान होता है। जब मनुष्य इससे भी आगे बढ़ता है तो अन्तर्राष्ट्रीय सेवा की पिपासा उसे महसूस होता है। वह मनुष्यमात्र का सेवक बन जाता है। हमारे जीवन की उन्नति इन्हीं समुदायों से आरंभ होती है।

समुदायों की सफलता

समुदाय तभी बन सकता है जब कुछ लोग आपस में मिलें। यदि सहवास और सहयोग की इच्छा नहीं है तो संगठन नहीं बन सकता। इसलिये सहयोग इसकी पहली आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सच्ची सहानुभूति भी आवश्यक है। स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर हम कोई संगठन नहीं बना सकते। यदि बनाने का प्रयत्न भी करें तो उसमें बहुमत नहीं प्राप्त कर सकते। अच्छी नियत से ही हम कोई स्थायी संगठन बना सकते हैं। किसी संगठन की सफलता और असफलता उसमें सम्मिलित व्यक्तियों की नेक नीयती पर निर्भर है। सभी व्यक्ति उसके उद्देश्य का ध्यान रक्खें और उसी ओर अपने आपको ले चलें तो सफलता अवश्य मिलेगी। संगठन की सफलता सदस्यों की संख्या पर निर्भर नहीं है। थोड़े से लोग एक बहुत बड़े संगठन को सफल बना सकते हैं, और बहुत से लोग बड़े से बड़े संगठन को तोड़ सकते हैं। व्यक्ति में जितनी कार्य करने की शक्ति है उसी हद तक वह किसी समुदाय को आगे बढ़ाता है। जब तक समुदाय सफल न होंगे तब तक सामाजिक जीवन पूरा नहीं समझा जा सकता। बिखरे हुये समाज की यही पहचान है कि उसमें किसी प्रकार का संगठन न हो। जो जाति संगठित नहीं है वह उन्नति नहीं कर सकती है। ईर्ष्या और द्वेष के कारण अथवा एक दूसरे संगठन को धक्का देने की नियत से जो संगठन बनाया जाता है उसमें उन्नति के विपरीत व्यक्ति की अवनति होती है।

समाज और समुदाय

समुदाय समाज का अंग है। बहुत से समुदायों से समाज का निर्माण होता है किन्तु समाज की रचना पहले होती है और समुदाय बाद में बनते हैं। जो व्यक्ति समुदाय का सदस्य है वह समाज का सदस्य अवश्य होता है। समाज से अलग उसका जीवन सम्भव नहीं है, परन्तु समुदाय से कितने ही व्यक्ति सदैव अलग रहते हैं। समाज एक है, परन्तु समुदाय अनन्त हैं। समाज की शक्ति इन्हीं समुदायों में बँटी रहती है। यह कहना कठिन है कि सारे समाज का स्वामी कौन है। प्रत्येक समुदाय का स्वामी अपनी शक्ति रखता है। वह शक्ति उसे समाज से प्राप्त है। समुदायों की वृद्धि सामाजिक विकास का लक्षण है। समुदाय में व्यक्तित्व के किसी एक अंग का विकास होता है परन्तु समाज में उसकी पूर्ण उन्नति होती है। समुदायों के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। यदि कौटुम्बिक जीवन आज बदल जाय तो हमारा सामाजिक जीवन भी कुछ और हो जायगा। दोनों सहयोग और नेक नीयती (co-operation and good will) से स्थायी बनाये जाते हैं।

—:o:—

अध्याय ६

व्यक्ति और समाज

सभ्यता—व्यक्ति और समाज का सामंजस्य—समाज और देश—क्या समाज एक बन्धन है?—व्यक्ति और सामाजिक सुधार—व्यक्ति और समाज—सामाजिक विचार—सामाजिक विकास और व्यक्ति—गांधीवादी और समाज—समाज वादी और समाज—समाज के उद्देश्य।

सभ्यता

नागरिक शास्त्र के अन्दर हम व्यक्ति का अध्ययन करते हैं। परन्तु उसका अध्ययन तभी सम्भव है जब वह समाज में रहे। स्वभाव से मनुष्य समाज में रहता है। एकान्त जीवन उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिये व्यक्ति और समाज का अध्ययन नागरिक शास्त्र का विषय है। एक दूसरे के सम्पर्क से विचारों का आदान प्रदान होता है। सामाजिक नियम व्यक्ति को सदैव सुधारते रहते हैं। समाज से नित्य वह कुछ न कुछ सीखता है। उसकी उन्नति से सभ्यता की नीव पड़ती है। जब समाज में सभी व्यक्ति उन्नति कर किसी ख़ास दर्जे तक पहुँच जाते हैं तो उस समय की एक सभ्यता बन जाती है। नागरिक और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध न हो तो कोई सभ्यता उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी सभ्यता का अन्त तभी होता है जब व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध बदल जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अधिक से अधिक सभ्य बनाना चाहता है। इसीलिये शिक्षा तथा विभिन्न समुदायों की वह व्यवस्था करता है। नागरिक शास्त्र नागरिक और उसकी सभ्यता दोनों का प्रतिपादन करता है। सबसे ऊँची सभ्यता वह है जिसके अन्दर व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और शान्ति हो। सभ्यता का इतिहास व्यक्ति और समाज का इतिहास है। बिना व्यक्ति के न तो कोई समाज बन सकता है और न समाज के बिना व्यक्तित्व का विकास ही सम्भव है। जहाँ कहीं समाज होगा उसकी कोई न कोई सभ्यता होगी। यदि संसार की सभ्यता का इतिहास देखा जाय तो मनुष्य प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है। एक आदर्श नागरिक से यह आशा की जाती

है कि वह सभ्यता को बढ़ावे। यह तभी हो सकता है जब वह अपनी और सामाजिक उन्नति को एक समझे।

पूर्व ऐतिहासिक काल को हम असभ्य और जंगली कहते हैं। यह निष्कर्ष इसी से निकाला गया है कि व्यक्ति और समाज में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध न था। उनके सम्बन्ध की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। व्यक्ति तब भी समाज में था और आज भी है। अन्तर इतना ही है कि उस समय इन दोनों का सम्बन्ध किसी सिद्धान्त पर निर्भर नहीं था। व्यक्ति के विकास के लिये कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। परन्तु उस समय भी कोई सभ्यता थी। उसे हम जंगली सभ्यता कहते हैं। यह कैसे सम्भव है कि समाज रहे परन्तु सभ्यता न हो। समाज का सबसे बड़ा महत्व व्यक्ति का विकास है। यदि सामाजिक व्यवस्थायें न हुई होतीं, नये नये आविष्कार और अनुसन्धान न किये गये होते, तो आज भी व्यक्ति जंगली अवस्था में पड़ा रहता।

व्यक्ति और समाज का सामंजस्य

व्यक्ति और समाज दोनों एक ही हैं। व्यक्ति समाज में घूमता और जीवन निर्वाह करता है। उसके भीतर भी एक समाज है। इसलिये इन दोनों समाजों में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते हैं। अवसर पाकर वह अपने विचारों के अनुसार वाह्य जगत में संस्थाओं और समुदायों की स्थापना करता है। शिक्षा की आवश्यकता महसूस होती है तो वह स्कूल और पाठशालाये खोलता है। जब स्वास्थ्य का ध्यान होता है तो व्यायाम शालायें स्थापित करता है। जब उसे एक दूसरे के कारण काम करने में बाधा पड़ती है तो वह सामाजिक नियम बनाता है। इसी तरह मनुष्य की सारी क्रियायें उसके विचारों के फल हैं। पहले विचार उत्पन्न होते हैं तब उसे कार्य रूप में परिणत किया जाता है। कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर विचारों का एक समाज है और बाहरी समाज उसी का क्रियात्मक रूप है। अतएव व्यक्ति और समाज में कोई भेद नहीं है। जिस दिन मनुष्य अपनी उन्नति का ध्यान छोड़ देगा उसी दिन से समाज की उन्नति रुक जायगी। व्यक्तियों की बुद्धि का चमत्कार सामाजिक चमत्कार कहलाता है। समाज स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकता। विभिन्न व्यक्ति ही कार्य करते हैं। उनके कार्य चूँकि समाज में होते हैं इसलिये सामाजिक कहलाते हैं। उनसे सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुँचता है। जिस समाज में बड़े बड़े वीर और

विद्वान् पैदा होते हैं उसकी प्रतिष्ठा होती है। शिवाजी और राणा प्रताप के पराक्रम से भारतीय समाज का गौरव कम ऊँचा नहीं है। बुद्ध के व्यक्तित्व का ऋणी न केवल भारतीय समाज बल्कि सारा संसार है। जितने भी महापुरुष किसी देश में पैदा होते हैं वे उस समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया करते हैं। फिर व्यक्ति और समाज दो चीज़ें कैसे अलग की जा सकती हैं।

व्यक्ति की ही उन्नति समाज की उन्नति समझी जाती है। जिस देश में सदाचारी व्यक्तियों की अधिकता होगी वह देश और समाज सभ्य माना जायगा। इसके विपरीत जिस देश के निवासी लुटेरे होंगे और आपस में लड़ते झगड़ते रहेंगे वह देश असभ्य और अत्याचारी समझा जायगा। इंगलैंड को आज हम सबसे शक्तिशाली समझते हैं। इसकी वजह यह है कि अँग्रेज़ी समाज में कुछ ऐसे महापुरुष हुये जिन्होंने अपने देश को आगे बढ़ाया। विदेशों में जाकर अपने देश के लिये उन्होंने सब कुछ कष्ट उठाया। जो देश उन्नति करता है वह व्यक्तियों के ही बल पर कुछ कर सकता है। व्यक्तियों की एकता सामाजिक एकता और उनकी कमज़ोरी सामाजिक कमज़ोरी कही जाती है। भारतीय समाज आज बिखरा हुआ है, इसके अन्दर न तो राष्ट्रीय भावना है और न साम्प्रदायिक सहानुभूति। भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस कमी का भागी है। जब तक मनुष्य अपने अन्दर सम्पूर्ण समाज को नहीं समझेगा तब तक न वह अपनी उन्नति करेगा और न समाज की। समाज में रहते हुये वह जो कुछ करता और सोचता है उसका असर उसके पड़ोसियों पर भी पड़ता है। जिस प्रकार शब्द अमर हैं और उनका नाश कभी नहीं होता उसी प्रकार व्यक्ति का उपचार सामाजिक इतिहास में अमर हो जाता है। कोई समाज कितना हूँ छिन्न भिन्न हो जाय, परन्तु व्यक्तियों की अमर कीर्ति तारे की तरह चमकती रहेगी। भारतवर्ष का नाम मिट जाय, परन्तु भगवान बुद्ध संसार में अमर रहेंगे। हिन्दू समाज अवनति के गड्ढे में भले ही चला जाय लेकिन शंकराचार्य और दयानन्द को कोई नहीं भूल सकता। समाज से व्यक्ति की और व्यकि से समाज की रक्षा होती है।

समाज और देश में क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न को सुलझाना कठिन है।

समाज और देश

एक ही समाज के लोग कई देशों में फैले रह सकते हैं। यहूदी समाज आज यूरप के कई देशों में बिखरा

हुआ है। फिर भी उसके अन्दर एक सामाजिक संगठन है। यदि यह संगठन न होता तो यहूदियों का नाम आज मिट गया होता। एक ही देश में कई समाज के लोग रह सकते हैं। अपने ही देश को ले लीजिये। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज़ सभी यहाँ रहते हैं। इनकी अलग अलग जातीयता है और वे अपने समाज द्वारा शासित होते हैं। इसीलिये यह कहना कठिन है कि अमुक समाज का विस्तार कितना है अथवा अमुक देश में कितने समाज के लोग रहते हैं। साधारण लोग यह समझते हैं कि एक देश के लोग एक ही समाज के होते हैं। यदि कोई अमेरिकन भारतवर्ष में कोई नई ईजाद करे तो उसकी प्रतिष्ठा अमेरिकन समाज को होगी। इसी तरह यदि एक भारतीय जर्मनी मे कोई नई खोज करे तो वह भारतीय समाज की चीज़ समझी जायगी। राजनैतिक संगठन और सामाजिक एकता से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं हुआ करता। भारतीय शासन के अन्दर लगभग सभी देशों के लोग रहते हैं। और भी देशों में विदेशियों की संख्या कम नहीं होती। उन्हें उस राज्य के नियम मानने पड़ते हैं। परन्तु उनका समाज अलग होता है और उनके रसम रवाज़ भिन्न होते हैं समाज का सम्बन्ध मनुष्य की रहन सहन, खान पान तथा आचार विचार से है। देश शब्द से एक शासन व्यवस्था का आभास होता है। जब हम जर्मनी कहते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि जर्मनी की एक सरकार है। परन्तु जर्मन समाज और जर्मन सरकार से एक ही तात्पय नहीं है। एक बन्धन क़ानूनी है और दूसरा स्वाभाविक। हम दोनों को एक में नहीं जोड़ सकत। देश में जो सबसे बड़ा समाज होता है वही उस देश को अपना समझता है। उसी की संस्कृति उस देश की संस्कृति कही जाती है। उसी समाज की कीर्ति उस देश की कीर्ति कहलाती है। देश की राजनैतिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट की जा सकती है, परन्तु सामाजिक एकता का सर्वनाश नहीं हो सकता।

क्या समाज एक बन्धन है?

जब व्यक्ति समाज में ही रह सकता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह सामाजिक नियमों का पालन करे। नियमों की अवहेलना करके वह नहीं रह सकता। ऐसी दशा में तो यही जान पड़ता है कि समाज व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता में एक बाधक है। वह इस बन्धन को विवश होकर निबाहता है, क्योंकि वह समाज को छोड़ने में असमर्थ है। यदि कोई भारतवासी अपने देश को छोड़ कर अमेरिका में रहना

चाहे तो उसे बहुत सी कठिनाइयाँ आयेंगी। सम्भव है अमेरिका उसे बिलकुल ही अच्छा न लगे। वहाँ का खाना पीना, और रहन सहन उसके स्वभाव के अनुकूल न हो। फिर वह क्या करेगा? वह लौट कर फिर हिन्दुस्तान में आयेगा। यही हालत प्रत्येक समाज की है। समाज अपने अन्दर रहने वाले व्यक्तियों को एक ख़ास ढंग में ढाल दिया करता है। उससे निकलने में मनुष्य को कठिनाइयाँ होती हैं। लोहे की बेड़ी कुछ दिनों तक कैदी को भार मालूम पड़ती है, परन्तु जब वह इसका आदी हो जाता है तो उसे इसका पता नहीं चलता। इसी प्रकार सामाजिक बन्धनों का मनुष्य को अभ्यास हो गया है। जो शाकाहारी है उसे मांसाहारी बनने से घृणा है जो मांसाहारी है वह शाकाहारी नहीं बन सकता। पूजा पाठ की भी यही बात है। हिन्दू नमाज नहीं पढ़ सकता और मुसलमान सन्ध्या नहीं कर सकता। कठिनाई और सरलता का प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक संस्कृति की बात है। हर एक विदेशी एक दूसरे देश में अनेक दिक्कतों का सामना करता है।

सामाजिक बन्धन के अन्तर्गत आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक सभी प्रकार के बन्धन आ जाते हैं। व्यक्ति अपने समाज में तभी तक प्रतिष्ठा का पात्र समझा जाता है जब तक वह अपने को सामाजिक बन्धनों से जकड़े रहता है। बन्धन को तोड़ कर वह समाज से अछूत बन जाता है। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य यह दलील पेश करते हैं कि शूद्रों को समाज में बराबरी का दर्जा नहीं मिलना चाहिये। इन्होने कभी न कभी हिन्दू समाज के नियमों को भंग किया था इसीलिये इन्हें ग्रामो से निकाल कर बाहर रहने की आज्ञा दी गई और इन्हें घृणित ठहराया गया। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सामाजिक बन्धन कितना कठोर होता है। चिड़ियों और बन्दरों में भी सामाजिक दंड का विधान पाया जाता है। बहुत से कौवे अपने झुण्ड से निकाल दिये जाते हैं और कौवे उनकी पाँखे तक नोच डालते हैं। बन्दरों में सामाजिक नियम बड़ी सख्ती के साथ बर्त्ते जाते हैं। यदि कोई बन्दर पेड़ से गिर जाता है तो वह अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वर्षों उसे अकेले जीवन बिताना पड़ता है। सभी जीवों में सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है। फिर मनुष्य इससे क्यों कर वंचित रह सकता है? उसे तो पग पग पर अपने सामाजिक नियम को बरतना पड़ता है। जब व्यक्ति इस क़दर समाज का कीड़ा है तो वह उसके लिये बन्धन नहीं तो और क्या है?

वास्तव में समाज बन्धन नहीं है। सामाजिक नियम व्यक्ति को बाँधने के लिये नहीं बल्कि उसकी रक्षा के लिये हैं। जिस समाज की जैसी परिस्थिति है उसके वैसे ही नियम हैं और उसी के अनुसार उसकी संस्कृति है। मनुष्य जन्म से ही विद्वान् और चतुर नहीं होता। कुछ दिन तक उसे औरों से कुछ सीखना पड़ता है। समाज उसे इसका मौका देता है। शिक्षा की व्यवस्था न हो तो कोई विद्वान् नहीं बन सकता। बाद में वह सामाजिक बुराइयों का सुधार भले ही करे, परन्तु आरम्भ में तो उसे समाज की सभी बातों से लाभ उठाना पड़ता है। शहरों में तरह तरह के संगठन होते हैं। मनुष्य उनसे लाभ उठाता है। जन्म से बालक सारी बातें समाज में सीखता है। सामाजिक संस्थायें उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। समाज सबको अपनी उन्नति का पूरा पूरा अवसर देता है। जो समाज ऐसा नहीं करता वह निकृष्ट है। हम जिन घरों में रहते हैं, जिस कुयें से पानी पीते हैं और जिन वृक्षों की साया का आनन्द लेते हैं वे हमारे ही बनवाये नहीं हैं। यह सब समाज की देन है। आज हम जितनी चीजों का प्रयोग करते हैं वे मालूम नहीं कितने व्यक्तियों के सहयोग से बनाई जाती हैं। जिन विचारों को लेकर हम विद्वान् कहलाते हैं, वे सैकड़ों मस्तिष्क से होकर हमारे पास पहुँचते हैं। क्या इनके लिये व्यक्ति समाज का ऋणी नहीं है? जिन शब्दों का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते हैं क्या वे हमारे हैं? आवागमन की जितनी सुविधायें आज हमें प्राप्त हैं उनके लिये क्या हम समाज के ऋणी नहीं हैं? यदि हम विचार से देखें तो हमें समाज से जितना लाभ पहुँचता है और जिस मात्रा में हमारी उन्नति होती है उसका हजारवाँ हिस्सा भी हम समाज के लिये नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा, समाज का ऋणी है। कदाचित दो एक व्यक्ति कभी कभी ऐसे उत्पन्न हो जाया करते हैं जिनका समाज ऋणी हुआ करता है। उन्हें हम अवतार कहते हैं या महापुरुष।

समाज के बन्धन को तोड़ कर हम अपनी उन्नति को रोक देंगे। कुछ ऐसे भी सामाजिक बन्धन होते हैं जिन्हें तोड़ कर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। सामाजिक संगठन अनादि काल से चला आता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसके बहुत से नियम समय के प्रवाह में निरर्थक प्रतीत हों। जिस समय वे नियम बनते हैं उस समय उनकी आवश्यकता कम नहीं होती है। कुछ वर्षों तक लोग प्रसन्नता पूर्वक उनका पालन करते हैं। जब लोगों के विचारों में परिवर्तन हो जाता है तो दूसरे नियमों की आवश्यकता

पड़ती है। इसीलिये विचारवान मनुष्य पुराने नियमों की बुरी तरह अवहेलना करते हैं। साधारण लोग उसे बुरा समझते हैं। पुराने नियमों का खण्डन करने वाला समाज-हित की दृष्टि से अच्छा करता है। यदि ऐसा न हो तो पुराने नियम समाज की उन्नति को रोक दें। प्रत्येक युग में समाज की ऐसी दशा हो जाती है। जब लोगों के विचार शिथिल पड़ जाते हैं, पुराने नियम समय के अनुकूल नहीं रह जाते, तब भी लोग उनसे चिपटे रहते हैं। समाज में अशान्ति बढ़ जाती है और चारों ओर ढोंग का राज्य हो जाता है। किसी को कोई ऐसा रास्ता नहीं दिखाई पड़ता जिससे होकर वह अपनी उन्नति कर सके। इसी संकट को दूर करने के लिये संसार में महापुरुषों का जन्म होता है। वे समाज के सड़े हुये नियमों को उठा कर फेंक देते हैं और नई बातों का संचार करते हैं। आरम्भ में लोग उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हीं नियमों पर चलने के लिये वे स्वयं तत्पर हो जाते हैं। उनका हित उनके पालन में ही दिखाई पड़ता है।

व्यक्ति और सामाजिक सुधार

धन्य है वह समाज जो किसी ऐसे व्यक्ति का जन्म देता है जिससे उसकी उन्नति होती है; और धन्य है वह व्यक्ति जो समाज को आगे बढ़ाता है। समाज का सुधारक कोई व्यक्ति ही हुआ करता है। कोई गिरोह समाज सुधार का कार्य आरम्भ नहीं करता। जब एक व्यक्ति सुधार आरम्भ करता है तो उसके बहुत से अनुयायी मिल जाते हैं। वे सारे समाज को अपना अनुयायी बना लेते हैं। हर समाज को कभी न कभी सुधार की आवश्यकता पड़ती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार समाज के पुराने नियमों को बदल कर नये नियम अपनाने पड़ते हैं। यह कार्य आसानी से नहीं हुआ करता। समाज के प्रवाह को बदलना कोई खेल नहीं है। स्वभाव से ही मनुष्य हठी है। जिस वातावरण में वह एक बार रह जाता है फिर उसे बदलने में तरह तरह की कठिनाइयाँ मालूम पड़ती हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके लिये उसे वाध्य करता है तो वह शत्रु समझा जाता है। इसी प्रकार के शत्रु, जिन्हें आगे चल कर लोग मित्र समझते हैं, सामाजिक सुधारक हुआ करते हैं। यह श्रेय किसी विशेष व्यक्ति को प्राप्त होता है कि वह जनता के अन्ध विश्वास को दूर करे। इतिहास में इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि समाज-सुधारकों को तरह तरह की यातनायें भोगनी

पड़ती हैं; प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। नई नई चीज़ों के आविष्कार करने वाले समाज के कम सेवक नहीं कहे जा सकते। परन्तु उन्हें भी लोग सम्मान का पात्र नहीं समझते। कुछ व्यक्ति विचारों में सदियों पहले जन्म लिया करते हैं। समाज उनके बिचारों से सहमत नहीं होता। लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। उनका सारा सिद्धान्त उलटा मालूम पड़ता है। ऐसे ही व्यक्तियों का हाथ ज़माने को पलटने में सफल हुआ करता है। समाज ऐसे व्यक्तियों का मूल्य भले ही न समझे परन्तु इन्हीं के प्रयत्न से उसकी उन्नति होती है। अपने साहस और बल से अन्ध विश्वासी जनता का विरोध कर वे समाज सुधार की ओर अग्रसर होते हैं। अपने विचारों का ऋण जो वे समाज पर छोड़ जाते हैं, उसकी पूर्ति कई शताब्दियों तक नहीं हो पाती। महापुरुषों के स्थान सदैव ख़ाली रहते हैं। यह समझना भूल है कि एक महापुरुष दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकता है। गोखले, तिलक, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लाला लाजपत राय तथा मोतीलाल आदि महापुरुषों का स्थान भरने के लिये न कोई पैदा हुआ और न होने की सम्भावना है। जब एक शकल के दो मनुष्य नहीं हो सकते तो विचारों में समता की सम्भावना कैसे की जाय। प्रत्येक समाज-सुधारक अपना विचार और अपना ढंग लेकर संसार में आता है।

व्यक्तित्व और समाज

समाज एक शक्ति है। उसके सामने व्यक्ति की ताक़त बहुत छोटी है। विशाल काय समाज के सामने वह अपने आपको छोटा समझता है। उसे अपने विचारों को दबा कर सामाजिक विचारों को कार्य रूप में परिणत करना पड़ता है। आज भी जब कि विचारों की पूरी स्वतंत्रता है और वैज्ञानिक उन्नति ने अन्ध-विश्वास को चकना चूर कर दिया है, दक्षिण भारतवर्ष में, विशेष कर मद्रास प्रान्त में, छुआछूत का रोग कम नहीं है। यदि कोई ब्राह्मण किसी अछूत का छुआ हुआ भोजन कर लेता है तो वह फिर ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं रह जाता। उसे मन्दिर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं मिलती। उसके मुँख से निकले हुए वेद वाक्य अपवित्र समझे जाते हैं। छुआछूत में उसका विश्वास न हो, परन्तु समाज के भय से वह इसमें विश्वास करता है। अनेक अवसरों पर व्यक्ति को अपने विचार दबाने पड़ते हैं। क्या इससे उसकी आत्मा को धक्का नहीं पहुँचता? यदि पहुँचता है तो हम यही कहेंगे कि उसके व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं होता। सामाजिक नियम कभी कभी व्यक्तित्व के विकास में बाधक होते

हैं। जब समाज में कोई वर्ग विशेष अपनी उन्नति सम्पूर्ण समाज से अधिक कर जाता है तो उसका व्यक्तित्व समाज द्वारा दबाया जाता है। अज्ञानवश समाज उनके विचारों से सहमत नहीं होता। इसका बहुत कुछ दोष उन स्वार्थी व्यक्तियों पर है जिन्होंने स्वार्थ हित के लिए सम्पूर्ण समाज की अवहेलना की है। यदि आरम्भ से वे इसका ध्यान रखते तो समाज उनके साथ चलता और उनके व्यक्तित्व का विकास होता रहता। समाज सबको अपनी उन्नति का उतना ही अवसर देता है जहाँ तक वह व्यक्तियों को समझने में समर्थ होता है। व्यक्ति से अलग समाज की कोई बुद्धि नहीं है। विचारों की जिस सतह पर बहुत से व्यक्ति होते हैं उसी सतह पर सारा समाज खड़ा रहता है। जिसे अपने व्यक्तित्व को बढ़ाने की अधिक चिन्ता है, वह सामाजिक उन्नति करके उसे बढ़ा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि समाज पिछड़ा हुआ हो और कुछ व्यक्ति उसमें अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास कर सकें। इस स्वार्थपरता को समाज सहन नहीं कर सकता। समाज की आँखें व्यक्ति की आँखों से कहीं तेज़ होती हैं। व्यक्ति अपनी बुराइयों को भले ही न समझे परन्तु समाज व्यक्ति की कमज़ोरी को भली भाँति समझता है।

व्यक्तित्व का विकास करना समाज का उद्देश्य है। सामाजिक व्यवस्था इसीलिये बनाई गई है कि मनुष्य जहाँ तक चाहे उन्नति करे। यदि उसके मार्ग में कोई बाधा पड़ती है तो समाज उसे दूर करता है। किसी भी दृष्टि से समाज व्यक्ति का विरोधी नहीं ठहराया जा सकता। यदि वह उसकी उन्नति में बाधक होता है तो यह समाज की कमज़ोरी का चिन्ह है। वह अपनी अवनति को समझने में असमर्थ है। कुछ व्यक्ति जिन्हें इन कमज़ोरियों का ज्ञान है, अपने विचारों द्वारा उसे आगे बढ़ा सकते हैं।

सामाजिक विचार

जब मनुष्य का शरीर एक है तो उसका विचार भी एक होना चाहिये। विचार करने की मशीन, जिसे मस्तिष्क कहते हैं, एक ही है। लेकिन एक ही मनुष्य के भिन्न भिन्न विचार होते हैं। इतना ज़रूर है कि एक समय एक ही विचार मन में आ सकता है। जब हम किसी वस्तु को बुरा कहते हैं तो उतनी देर तक उसकी अच्छाइयों पर विचार नहीं कर सकते। विचार उसी तरह है जैसे कोई चौड़ा तख़्ता। हम एक बार उस तख़्ते की एक बगल को ही देख सकते हैं। यह सम्भव नहीं है कि तख़्ते का आगा पीछा दोनों एक साथ हमारी नज़रों के सामने आ जाय। इसी तरह

दो विचार एक साथ हमारे मस्तिष्क में नहीं आ सकते। प्रकृति ने मन को इतना चंचल बनाया है कि हमारे मस्तिष्क में विचारों का ताँता सा लगा रहता है। एक विचार के जाते ही दूसरे विचार आने लगते हैं। यहाँ तक कि दिमाग़ कभी खाली नहीं रहता। जब हम सोते हैं तब भी हमें स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं। आँख बन्द रहती हैं, लेकिन मस्तिष्क अपना काम करता रहता है। विचारों की गणना की जाय तो सैकड़ों विचार नित्य हमारे मन में आते हैं और चले जाते हैं।

इन विचारों को बाँटा जाय तो इसकी दो किस्में हो सकती हैं :—

१—व्यक्तिगत विचार (Self-regarding thoughts)

२—सामाजिक विचार (Other-regarding thoughts)

व्यक्तिगत विचार वे हैं जिनसे मनुष्य अपने स्वार्थ सम्बन्धी बातों को सोचता है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यह विचार आता है कि उसका अमुक काम कैसे हो, उसकी जीविका कैसे चले, इत्यादि इत्यादि। परन्तु हर समय वह अपनी ही चिन्ता में पड़ा रहे यह सम्भव नहीं है। ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति दान, धर्म दया, आदि की ओर झुकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह औरों के विषय में भी सोचे। पहले वह अपने पड़ोसी से सम्पर्क बढ़ाता है। उसके सुख दुख में साथ देता है। फिर उसका क्षेत्र बढ़ता जाता है। ग्राम, ज़िला, प्रान्त और देश तक की उसे चिन्ता होने लगती है। इसी को सामाजिक विचार कहते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक विचारों के आते ही व्यक्तिगत विचारों का लोप हो जाय। दोनों साथ साथ चलते हैं। एक ही मस्तिष्क बारी बारी से उन पर विचार करता है। प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति सामाजिक विचारों में ही लीन रह सकता है? यह असम्भव बात नहीं है। लेकिन ऐसा व्यक्ति करोड़ों में एक होता है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाते हैं। वह अपने आपको समाज का एक घनिष्ठ अंग मान लेता है। जो कुछ करता और विचारता है सब समाज के लिये। उसका यह विश्वास हो जाता है कि यदि वह समाज की भलाई में लगा हुआ है तो उसी में उसकी भी भलाई शामिल है, क्योंकि समाज से वह अलग नहीं है। जिस प्रकार सारा भोजन और पानी पेट में जाता है और वहाँ से ख़ून बन कर प्रत्येक अंग में आवश्यकतानुसार बँट जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपना सब कुछ समाज के लिये अर्पण कर देता है वह अपने हिस्से का हक़दार हो जाता है।

व्यक्तित्व का विकास सामाजिक विचार के अतिरिक्त कहीं और सम्भव नहीं है। व्यक्तिगत विचार और व्यक्तित्व दोनों में विरोध है। जो व्यक्ति प्रतिक्षण अपनी ही चिन्ता में निमग्न है, जिसे स्वार्थपूर्ति में ही आनन्द आता है, वह अपने व्यक्तित्व को ऊँचा नहीं कर सकता। उसके विचार संकुचित होते हैं और कुछ दिनों में वह अपने व्यक्तित्व को खो बैठता है। इसके विपरीत सामाजिक विचार व्यक्तित्व का विकास करता है। मनुष्य के अन्दर एक ऐसी शक्ति है जो बिजली की तरह औरों को अपनी ओर खींचती है। वह शक्ति सामाजिक विचारों के साथ उत्पन्न होती है। ज्यों ज्यों मनुष्य इस ओर बढ़ता है त्यों त्यों वह शक्ति भी बढ़ती जाती है। अधिक से अधिक व्यक्तियों को वह अपनी ओर आकर्षित करने लगता है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि उस व्यक्ति से औरों को लाभ पहुँचता है। उसके विचार औरों के लिये लाभदायक होते हैं। इसी शक्ति को व्यक्तित्व कहते हैं। जिसमें यह शक्ति नहीं है वह सामाजिक सेवा नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि व्यक्तित्व कार्य करने की सबसे बड़ी शक्ति है। जिसका व्यक्तित्व जितना ही ऊँचा होगा वह उतना ही बड़ा कार्य कर सकेगा। सामाजिक विचार व्यक्तित्व के सबसे बड़े साथी हैं। जो लोग समाज को बन्धन समझते हैं वे मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध सोचते हैं। यदि यह बन्धन न हो तो सामाजिक बिचार जीवित नहीं रह सकते, और व्यक्तित्व का विकास भी नहीं हो सकता।

सामाजिक विकास और व्यक्ति

जब हम 'समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो एक बहुत बड़ी चीज़ हमारे दिमाग़ में आ खड़ी होती है। समाज कोई छोटी सी चीज़ नहीं है। एक दो दिन के परिश्रम से वह नहीं बना है। उसका विकास शताब्दियों में हुआ है। हमें आश्चर्य मालूम पड़ता है कि मनुष्य भी कभी अकेले रहता था। लेकिन इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। एक समय ऐसा था जब मनुष्य जंगली अवस्था में इधर उधर घूमा करता था। न उसका कोई घर था और न कार्यक्रम। उद्योग धंधों का वह नाम भी नहीं जानता था। सदियों तक इसी प्रकार का जीवन वह व्यतीत करता रहा। पृथ्वी पर जन-संख्या की वृद्धि स्वाभाविक है। जब आबादी बढ़ी और जंगलों में मनुष्य अधिक दृष्टिगोचर होने लगे तो झुंड का झुंड एक साथ रहने लगा। इसे हम अव्यवस्थित समाज कह सकते हैं। एक साथ रहते रहते उनके अन्दर एक प्रकार की इच्छा उत्पन्न

हुई कि एक दूसरे से लाभ उठावें। इसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर आपस में सहयोग की वृद्धि हुई। आरम्भ में गाँवों की रचना हुई। लोगों ने जंगलों को साफ़ किया और खेती आरम्भ की। अनेक गाँव बस गये। ये गाँव पहले स्वतन्त्र थे और मनुष्य की सारी आवश्यकतायें वहीं पूरी हो जाती थीं। एक गाँव का निवासी दूसरे गाँव से अपना सम्बन्ध नहीं रखता था।

जब मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं तो ग्रामों का जीवन परावलम्बी होने लगा। एक गाँव को दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। इस प्रकार ज़िला, प्रान्त और देश का विकास हुआ। इनका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति नामक अध्याय में किया जायगा। यहाँ पर हमें इतना ही जानना है कि कैसे हमारा समाज संगठित हुआ। मनुष्य को अकेले तरह तरह की असुविधायें आती थीं। न वह किसी से बोल सकता था और न अपने दुख में किसी से सहायता ले सकता था। इन्हीं को दूर करने के लिये उसने समाज की रचना की। बाद में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह समाज का क्षेत्र बढ़ाता गया। ग्राम से शहर बनने लगे। आधुनिक युग में ये आवश्यकतायें इतनी बढ़ रही हैं कि संसार का एक कोना भी अपने आपको अलग नहीं रख सकता। यदि कोई देश अपनी पैदावार और देशों में न भेजे तो दुनियाँ को बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। कोई भी देश आज स्वावलम्बी नहीं है। किसी को भोजन की आवश्यकता है, किसी को बाज़ारों की ज़रूरत है और किसी को आबादी को खपाने के लिये ज़मीन की चिन्ता है। इसी तरह मनुष्य पहिले छोटे से गिरोह को अपना समाज बनाया, लेकिन धीरे धीरे यह समाज बढ़ कर देश का रूप धारण कर लिया। भविष्य में यह साफ़ दिखलाई पड़ता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बढ़ता जायगा और सम्भव है कभी सबसे बड़े समाज की स्थापना हो।

इस सामाजिक विकास से व्यक्ति को हानि हुई या लाभ, इस प्रश्न को उठाकर हम एक दूसरे ही विषय पर चले जायेंगे। क्योंकि यह स्पष्ट है कि आवश्यकताओं ने ही समाज के दायरे को बढ़ाया है। यदि मनुष्य को किसी वस्तु की आवश्यकता न होती तो समाज का विकास नहीं होता। सामाजिक विकास से व्यक्ति की आवश्यकतायें इस क़दर बढ़ती गई हैं कि वर्तमान भौतिक युग इसी का परिणाम है। इन आवश्यकताओं के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी ऊपरी चमक दमक में इतना व्यस्त है कि उसे ऊँची बातों की ओर झुकने का अवसर नहीं मिलता। इसलिये हमारा

उपर्युक्त प्रश्न यह हो जाता है कि नवीन सभ्यता मनुष्य के लिये लाभ-दायक है अथवा हानिकर। यह सभी स्वीकार करेंगे कि आवश्यकतायें जितनी ही कम हों उतना ही अच्छा है। सरल जीवन में शुद्धता अधिक रहती है और मनुष्य को कोई चिन्ता नहीं रहती। सामाजिक विकास के साथ साथ जो मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ी हैं वे उसके लिये घातक सिद्ध हुई हैं। समाज में विषमता इसी का परिणाम है। सामाजिक नियम तथा उपनियम कुछ ऐसे हैं जो आज सड़ गये हैं, फिर भी हम उनके ऐसे आदी हो गये हैं कि उन्हें छोड़ नहीं सकते। मनुष्य को यह आशा थी कि जब उसका समाज बढ़ रहा है तो उसकी चिन्ता कम होती जायगी और किसी न किसी दिन वह शान्तिमय जीवन व्यतीत करेगा। लेकिन बात इसके बिलकुल उल्टी हुई। अशान्ति और चिन्ता का रोग इतना बढ़ रहा है कि समाज का एक वर्ग पीछे को लौटना चाहता है। उसे नई सभ्यता भयंकर मालूम पड़ती है।* यदि बहुत बड़ी संख्या में लोग पीछे को लौटे तो हमारा सामाजिक संगठन एक दूसरा ही रूप धारण करेगा। समाज के विकास के साथ साथ व्यक्ति की बुद्धि का विकास हुआ होता, उसके अन्दर की दैवी शक्तियाँ जागृत हुई होतीं, उसकी शान्ति बढ़ती गई होती तो हम इसे मनुष्य का बहुत बड़ा प्रयत्न समझते। परन्तु जब हम उसे चारों ओर व्याकुल देख रहे हैं और असन्तुष्ट पाते हैं तो इसे उन्नति कैसे मान बैठें ?

समाज ने ही राजनैतिक संगठन का निर्माण किया है। कोई देश ऐसा नहीं है जहाँ सभी लोग अपनी राजनैतिक व्यवस्था से सहमत हों। यदि थोड़े से लोग असन्तुष्ट होते तो हम इसे बुरा नहीं ठहराते, परन्तु यहाँ तो तीन चौथाई जनता उससे नफ़रत करती है। फिर हम उसे अच्छा क्यों कर मानें ? इसलिये राजनैतिक विकास भी सन्तोष जनक न हो सका। समाज की जो आवश्यकता थी वह पूरी न हुई। राजनैतिक बन्धन हानि-कर नहीं है लेकिन उसका ढंग जनता की इच्छा पर होना चाहिये। जिस देश के निवासी प्रजातन्त्रवादी हों वहाँ एकसत्तात्मक राज्य कैसे चलेगा ? यदि चला भी तो सब की इच्छा के विरुद्ध। सामाजिक विकास का यह भी अंग उसकी इतनी सहायता न कर सका जितनी उसे आरम्भ में आशा थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार से कोई लाभ ही नहीं है।

---

* Modern civilization is like a monster threatening to devour the moval life of man.

लाभ बहुत हैं, लेकिन शान्ति नहीं है। तलवार के बल से शान्ति रही तो उससे क्या लाभ। होना तो यह चाहिये कि मनुष्य हृदय से क़ानून का पालन करे और अपने आपको सन्तुष्ट समझे।

जिस क्षेत्र में देखें मनुष्य अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। पूर्ण सन्तोष उन्नति के लिये घातक है। एक कहावत है कि "असन्तोष ही जीवन है और सन्तोष मृत्यु है।"* यदि यह बात ठीक है तो पूर्ण शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। अफ़लातून ने स्पष्ट कहा है कि शान्ति और सुख इस संसार में नहीं मिल सकते। इसके लिये स्वर्ग की दुनियाँ है। हमारे धर्म ग्रंथ भी यही कहते हैं। लेकिन इससे हम यह अर्थ न समझ लें कि यह संसार व्यर्थ है और मनुष्य का सारा परिश्रम बेकार है। गीता में इसे कर्म भूमि कहा गया है। इसी कर्म से मनुष्य का उद्धार होगा। हमारा सामाजिक संगठन ऐसा बन सकता है कि हम अधिक से अधिक उन्नति कर सकें। किसी संगठन में ऊपरी बन्धन का उतना महत्व नहीं होता जितना व्यक्तियों की भावना का। भावना सर्वत्र प्रधान होती है। हमारा संगठन चाहे जैसा हो लेकिन यदि सबके अन्दर सच्ची सहानुभूति है तो ढाँचे से हमारी कोई हानि नहीं है। सामाजिक विकास में भावना की उन्नति होनी चाहिये न कि नियमों और उपनियमों की। स्वर्ग एक कल्पना है। यदि हम इस कल्पना को यहीं प्रयोग में लावें तो बहुत कुछ हमारा कल्याण हो सकता है। उदासीन रहने से काम नहीं चल सकता। उदासीनता सामाजिक जीवन के लिये घातक है। यदि हम अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं हैं तो इसकी गति को किसी दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। महात्मा गाँधी का सारा परिश्रम इसी लिये सराहनीय है कि वे मनुष्य की उन्नति का मार्ग बदलना चाहते हैं।

गाँधीवादी और समाज

हम जिसे उन्नति समझते हैं उसे गाँधी जी अवनति कहते हैं। वे हमारी वैज्ञानिक उन्नति के विरोधी नहीं हैं। उन्हें मनुष्य का शोषण सबसे अधिक खटकता है। एक मनुष्य दूसरे की कमाई का उपभोग करता है यही हमारे वर्तमान समाज की विशेषता है। गाँधी जी का कहना है कि इस गन्दी आदत को हम निकाल दें बाक़ी सब ठीक है।

---

* Discontent is life, content is death.

हमारी सारी उन्नति सराहनीय है। हमारा सदियों का विकास व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। कमी इतनी ही है कि हममें सच्ची सहानुभूति नहीं है। हम अपने परिश्रम का उपभोग करें। जब हर एक व्यक्ति इस मन्त्र को समझ लेगा तो समाज की सारी अशान्ति दूर हो जायगी। मनुष्य के अन्दर की अच्छी प्रवृत्तियाँ दबी हुई हैं। जब तक वह अपने परिश्रम से अपनी रोटी नहीं कमायेगा तब तक उसकी वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। समाज की सच्ची उन्नति जिसे करनी है वह शरीर और मस्तिष्क दोनों प्रकार का परिश्रम करे। जब तक एक का महत्व दूसरे से कम है तब तक शोषण जारी रहेगा और समाज में अशान्ति रहेगी।

समाजवादी और समाज

समाजवादियों का कहना है कि समाज का बटवारा ग़लत है। यह बात न्याय के विरुद्ध है कि एक के पास अधिक धन हो और दूसरे के पास कम। इससे व्यक्ति को समान अवसर नहीं प्राप्त होता। प्रजातन्त्रवादियों का कहना ग़लत है कि आर्थिक विषमता रहते हुये भी समान अवसर दिया जा सकता है। प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है, इसलिये समाज को अपनी व्यवस्था में कोई भेद भाव नहीं करना चाहिये। यह भेद कब उत्पन्न हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं है, लेकिन इसकी वृद्धि मशीन के युग में हुई है। ज्यों ज्यों मशीनें बढ़ती जा रही हैं त्यों त्यों यह विषमता भी बढ़ रही है। इसी से अशान्ति फैलती है। यदि व्यक्ति को शान्त करना है और उसके प्रति न्याय की थोड़ी भी भावना है तो वर्तमान समाज को बदलना होगा। हमारे सामाजिक नियम पुराने हो गये हैं। हमारी धन सम्बन्धी व्यवस्था तो इतनी गन्दी हो गई है कि इसे हमें जड़ से तबदील करना होगा। धन का सब में एक समान बटवारा कर दिया जाय। सब को उसकी आवश्यकतानुसार ज़मीनें और सम्पत्ति दे दी जायँ। जो नियम पुराने हो गये हैं उन्हें हटाकर नये नये नियम बनाये जायँ। किसी को यह कहने का अवसर न रहे कि उसकी उन्नति में समाज बाधक हो रहा है। आज बहुत से लोग यह कहने को तैयार हैं कि समाज उन्हें ऊँचा उठने से रोकता है। एक ग़रीब आदमी, जिसके पास कोई जायदाद नहीं है, शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। क्या समाज इस अन्याय के लिये दोषी नहीं है ? वह एक ग़रीब बच्चे को कहाँ अवसर देता है कि वह अपनी शिक्षा को बढ़ावे और तरह तरह के

कारोबार कर सके ? रेल, तार, डाक उसके किस काम के हैं, जब कि उसे घर में खाने तक को नहीं है ?

समाज के उद्देश्य

समाज का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की उन्नति करना है। सामाजिक संगठन ऐसा होना चाहिये जिसमें व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का पूरा पूरा अवसर मिल सके। व्यक्तित्व का विकास और व्यक्तिगत उन्नति दोनों एक ही चीज़ नहीं है। सामाजिक विकास में व्यक्तित्व की उन्नति होती है परन्तु स्वार्थपरता नष्ट होती जाती है। समाज का यह भी उद्देश्य है कि वह व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पड़ोसी अथवा मनुष्य मात्र को अपना भाई नहीं समझेगा तब तक उसकी स्वार्थपरता दूर नहीं हो सकती। इस भावना की जाग्रति समाज ही कर सकता है। स्वार्थ-परित्याग पूर्ण विकास का द्योतक है। जिसने अपने आपको भुला दिया है और मानव जाति की उन्नति को अपनी उन्नति समझ लिया है वही समाज के उद्देश्य को समझ सकता है। समाज की भलाई का जिसे अधिक ध्यान है वही अपनी उन्नति कर सकता है।

समाज का तीसरा उद्देश्य सेवा है। सेवा से मेरा तात्पर्य यह है कि मनुष्य औरों की भलाई करे। सेवा आत्म-सन्तोष और आत्म उन्नति के लिये की जाती है। इससे मनुष्य अपने अन्दर एक प्रकार की उन्नति महसूस करता है। एक भूखे को भर पेट भोजन दे देने से भूखे की तृप्ति होती है, साथ ही भोजन देने वाले को सन्तोष होता है। उसके अन्दर एक तरह की प्रसन्नता होती है। क्रमशः उसकी उन्नति होने लगती है। सेवा के लिये क्षेत्र तैयार करना समाज का कर्त्तव्य है और उन क्षेत्रों में जाकर अपना विकास करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो समाज जितने ही अधिक सेवक पैदा करता है वह उतना ही बड़ा समझा जाता है। संसार में उसकी उतनी ही मर्यादा होती है। स्वार्थ परित्याग से आत्म उन्नति होती है और यही समाज का उद्देश्य है। इसी को सामाजिक आदर्श कहते हैं। जिस प्रकार हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते हैं उसी तरह दुनियाँ के विभिन्न समाज मिल जुल कर रह सकते हैं। एक समाज दूसरे समाज की सेवा करके अपनी उन्नति कर सकता है। कोई समाज पूर्ण नहीं है। जब बहुत से समाज एक दूसरे से अपना नाता जोड़ते हैं तब उनमें नई नई बातें पैदा होती हैं। एक समाज बहुत सी नई बातें सीख कर अपने व्यक्तियों की उन्नति करता है। जैसे एक व्यक्ति स्वार्थ

को छोड़ कर सामाजिक सेवा द्वारा अपना विकास करता है, उसी प्रकार समाज भी अपनी स्वार्थपरता और रूढ़ि को छोड़ कर अन्य समाजों की सहानुभूति और सेवा द्वारा अपनी उन्नति कर सकता है। सच्ची राष्ट्रीयता वही है जो अन्य समाजों को साथ साथ ले चले। केवल एक देश की उन्नति से संसार की उन्नति नहीं हो सकती।

अरस्तू ने सामाजिक संगठन को आवश्यक ठहराया है। वह यहाँ तक कहता है कि "सामाजिक नियम और सामाजिक न्याय के बिना मनुष्य सभी जीवों से ख़तरनाक है। उसकी पूर्ण उन्नति समाज में ही हो सकती है।" यदि सामाजिक व्यवस्था न हो तो मनुष्य जंगली जीवों से भी भयंकर सिद्ध होगा। शेर और चीते उतने भयानक न होंगे जितने मनुष्य। इस जंगलीपन को हटा कर शान्ति की ओर अग्रसर करना समाज का उद्देश्य है। यदि सभी व्यक्ति सेवा, त्याग, और अपरिग्रह को अपना धर्म समझ लें तो समाज का उद्देश्य पूरा हो जाय। इस अवस्था को लाने में अभी सदियों की देर है। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति इसके अनुकूल नहीं है। सारी उन्नति, जो आज दिखलाई पड़ रही है, मनुष्य को समान लाभ नहीं पहुँचा रही है। इसीलिये सम्पूर्ण समाज इससे सन्तुष्ट नहीं है। बड़ी बड़ी मिलों तथा फैक्ट्रियों में मज़दूरों का जीवन सुखी नहीं है। उनके जीवन में न तो स्वाभाविकता है और न प्रसन्नता। समाज की उन्नति तभी हो सकती है जब कोई वर्ग दबा न रहे। जब तक छोटे बड़े का विचार रहेगा और मनुष्य मनुष्य से घृणा करेगा तब तक न व्यक्ति की उन्नति होगी और न समाज की। समाज में कुछ व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति में लगे रहते हैं। यद्यपि उनके ऊपरी कामों से समाज को कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो उनके आन्तरिक विचारों से समाज का गौरव बढ़ता है। उनके सहवास से लोगों में शुद्धता और आचार का भाव पैदा होता है। उनका निस्पृह जीवन समाज में एक ऐसा आदर्श है जो कितनों को त्यागी और सेवक बना देता है। जो समाज ऐसे व्यक्तियों को पैदा करता है वह सचमुच ऊँचा है।

अध्याय ७

राज्य के आवश्यक अंग और इसकी उत्पत्ति

(The essentials and origin of state)

राज्य की परिभाषा — राज्य के लिये चार वस्तुयें, १ जनसंख्या २ एक निश्चित स्थान ३ सरकार या राजनैतिक संगठन ४ राजसत्ता — आज्ञापालन का भाव—क्या भारतवर्ष एक राज्य है?— राज्य की उत्पत्ति – १ दैवी सिद्धान्त, २ आर्थिक सिद्धान्त ३ शक्ति सिद्धान्त ४ इकरार सिद्धान्त— इकरार सिद्धान्त के अंग—हाब्स का इकरार सिद्धान्त—लाक का इकरार सिद्धान्त— रूसो का इकरार सिद्धान्त -- उपर्युक्त सिद्धान्तों की आलोचना— ५ ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त—प्रारम्भिक अवस्था—कृषि और गृह निर्माण काल—ग्राम की उत्पत्ति – व्यवसायों की उन्नति—युद्ध और राज्य की उत्पत्ति ।

राज्य की परिभाषा

राज्य एक परिवर्तनशील संगठन है। इसकी परिभाषा भिन्न भिन्न की गई है। साधारण तौर से किसी भी देश को जिसमें एक राजनैतिक संगठन है राज्य कह सकते हैं। कोई देश कितना ही विस्तृत हो और उसमें अनेक सामाजिक संस्थायें भी हों, परन्तु राजनैतिक एकता नहीं है तो उसे राज्य नहीं कह सकते। राज्य के लिये चार वस्तुओं का होना आवश्यक है।

१—जन-संख्या

२—एक निश्चित स्थान

३—सरकार या राजनैतिक संगठन

४—राजसत्ता

प्रोफ़ेसर विलोवी ने एक पाँचवीं वस्तु का होना भी आवश्यक ठहराया है। वे कहते हैं कि इन चारों के अतिरिक्त जनता के हृदय में राज्य के प्रति आज्ञापालन का भाव भी होना चाहिये। राज्य की आवश्यकता मनुष्य के स्वभाव की माँग है। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को हुक्म देता है और स्वयं अपने बड़ों की आज्ञा का पालन करता है। राज्य इन दोनों की पूर्ति करता है। राज्य में बहुत से छोटे छोटे संगठन होते हैं। परन्तु वह इन सब से कई माने में भिन्न है। इसका सदस्य होना देशवासियों के

लिये अनिवार्य है। अन्य संगठनों के लिये यह आवश्यक नहीं है। किसी देश में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रह सकता जो राज्य के नियमों की अवहेलना करे। ऐसा करने पर वह उचित दण्ड का भागी होगा। जन्म से मनुष्य किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है। मृत्यु तक उसे राजनैतिक बन्धन को निभाना पड़ता है।

गार्नर ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—"राज्य मनुष्यों का एक संगठन है। वे मनुष्य एक निश्चित भू भाग पर अधिकार रखते हैं। समस्त वाह्य अधिकारों से स्वतंत्र होते हैं। उनकी एक संगठित सरकार होती है। वे स्वाभाविक रूप से राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं।" उडरो विलसन लिखता है, "राज्य एक संगठित समाज है जिसकी स्थापना एक निश्चित भू भाग में नियम पालन के लिये की गई है।" प्लेटो का कहना है, 'राज्य व्यक्ति के मस्तिष्क का विकसित रूप है।' एक राजनीतिज्ञ ने लिखा है "राज्य एक शक्ति है, जिससे अन्य शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।" आदर्शवादियों के अनुसार "राज्य एक आध्यात्मिक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" यह एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य निश्चित किये जाते हैं। राजकीय शक्ति नियम के अनुकूल होती है। मनुष्य राज्य के नियमों का इसीलिये पालन करता है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचान सके। ऊपर कहा गया है कि राज्य के चार आवश्यक अंग होते हैं। प्रत्येक पर थोड़ा बहुत विचार करना चाहिये।

जनसंख्या

१—राज्य का आवश्यक अंग जनता है। बहुत से जंगली पशु या पक्षियाँ राज्य की स्थापना नहीं कर सकतीं। मनुष्यों के संगठन को ही राज्य कहते हैं। यह संख्या कितनी होनी चाहिये इसका कोई परिमाण नहीं है। इतना जरूर है कि दो चार कुटुम्ब किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। जनता का तात्पर्य एक बड़े जनसमूह से है। प्राचीन काल में यूनान देश में बहुत से छोटे छोटे राज्य थे। प्रत्येक की जनसंख्या कुछ हजारों में हुआ करती थी। उन्हीं को सामने रख कर अफलातून ने लिखा है कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या ५० ४० होनी चाहिए। किन्तु इस निश्चित संख्या को राज्य के लिये आवश्यक मान लेना सम्भव नहीं है। वर्त्तमान राज्यों की जनसंख्या करोड़ों की तादाद में है। इसका परिमाण राज्य की सीमा पर निर्भर है। जितना छोटा बड़ा राज्य होगा उतनी ही

कम और अधिक जनसंख्या होगी। आधुनिक काल में एकीकरण की भावना बढ़ रही है। आवागमन के साधन सरलता पूर्वक उपलब्ध हैं। प्रत्येक राज्य की जनसंख्या अधिक से अधिक बढ़ती जा रही है। फ्रान्स को छोड़ कर संसार में प्रत्येक राज्य की जनसंख्या इतनी बढ़ रही है कि कितने ही देशों के सामने यह समस्या उपस्थित है कि उनके भरण पोषण के लिये कैसे प्रयत्न किया जाय। भारतवर्ष की जनसंख्या इस समय लगभग ४० करोड़ के है। संसार की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा इस देश में निवास करता है। १८११ ई० में इङ्गलैंड की जनसंख्या केवल १ करोड़ थी लेकिन बढ़ते बढ़ते आज ४ करोड़ से भी अधिक है। इटली और जर्मनी की सरकार अपने देश की आबादी बढ़ाने के लिये कोशिश कर रही हैं। जिसके पास अधिक सन्तान होती है राज्य में उसका सम्मान किया जाता है। आधुनिक लड़ाइयों का बहुत कुछ कारण यह बढ़ती हुई आबादी है। इन्हीं के जीवन निर्वाह के लिये राज्य की आवश्यकता पड़ती है। इङ्गलैंड, जो एक बहुत बड़ा व्यावसायिक देश गिना जाता है, अपने भरण-पोषण के लिये तीन चौथाई भोजन बाहर से मँगाता है।

स्थान

२—बड़ी से बड़ी जनसंख्या विभिन्न देशों में बिखरी हुई हो तो किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकती। यहूदी योरप के सारे देशों में फैले हुये हैं। चूँकि दुनियाँ के किसी भाग पर उनका अधिकार नहीं है अतः उनका कोई राज्य नहीं है। जिस प्रकार जनसंख्या के बिना एक रेगिस्तान राज्य नहीं कहला सकता इसी प्रकार किसी स्थान के बिना एक बिखरी हुई जनसंख्या राज्य नहीं कायम कर सकती। राविन्सन क्रूसो की कहानी से सभी लोग परिचित हैं। यद्यपि वह एक बहुत बड़े भूभाग का अधिकारी था फिर भी वह राज्य के अन्तर्गत नहीं आता। यदि करोड़ों व्यक्ति किसी एक बड़े जहाज़ पर समुद्र में निवास करने लगें तो उसे राज्य नहीं कहेंगे। १६२० ई० में 'मे फ्लावर' नामक जहाज़ द्वारा १०० अँग्रेज़ों ने इङ्गलैण्ड का परित्याग कर दिया, लेकिन हम उस जहाज़ को राज्य नहीं कहते। पृथ्वी के नीचे भी किसी राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। आकाश में न किसी राज्य की स्थापना हुई है और न हो सकती है। कोल और भील बड़ी संख्या में जंगलों में निवास करते हैं, फिर भी जंगल उनका राज्य नहीं माना जाता। राज्य की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि एक निश्चित भूभाग पर वहीं के निवासियों का अधिकार हो। इसी नियम के

अनुसार भारतवर्ष को हम राज्य नहीं कह सकते। यद्यपि इस देश की आबादी चीन को छोड़कर संसार में सब से अधिक है, उसका एक निश्चित स्थान है, यहाँ कोई न कोई सरकार भी है, परन्तु यहाँ के निवासियों का अपनी ही भूमि पर अधिकार नहीं है अतः इसे राज्य नहीं कहा जा सकता। समस्त भारतवर्ष इङ्गलैण्ड के राजा की भूमि कही जाती है।

३—केवल जनसंख्या और निश्चित भू भाग से राज्य की स्थापना नहीं होती। जब तक कोई राजनैतिक संगठन नहीं है तब तक उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। राज्य और राजनैतिक संगठन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। राजनैतिक संगठन के साथ राज्य की स्थापना होती है। जब यह संगठन टूट जाता है तो राज्य छिन्न भिन्न हो जाता है। देश में अराजकता फैल जाती है। सरकार राज्य की मशीन है। जिस प्रकार मशीन के बिना मिल का संचालन नहीं हो सकता उसी तरह सरकार के बिना राज्य की व्यवस्था नहीं चल सकती। सरकार ही राज्य में कानून बनाती है, उनका पालन कराती है तथा देश में शान्ति की व्यवस्था करती है। इसी के द्वारा एक राज्य दूसरे से भिन्न समझा जाता है। यदि दो राज्यों की सरकार एक हो जाय तो वे दोनों एक ही राज्य कहलायेंगे। एक ही देश में अलग अलग दो सरकारों की स्थापना हो जाय तो उन्हें दो राज्य कहा जायगा।

संस्कार

राजनैतिक संगठन के बिना राज्य में शान्ति नहीं रह सकती। जिन लोगों ने हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े देखे हैं उन्हें सरकार की आवश्यकता भली भाँति मालूम पड़ेगी। पुलिस और फ़ौज का प्रबन्ध न हो तो दिन दहाड़े लूट मार हुआ करे। जिस देश की सरकार कमज़ोर पड़ जाती है वहाँ के निवासियों का जीवन अनिश्चित हो जाता है। देश में अशान्ति के अतिरिक्त वाह्य आक्रमणों का भय रहता है। यदि भारतवर्ष में हिन्दू राज्यों की सरकार कमज़ोर न हुई होती तो मुसलमानी राज्य कायम न होता; और यदि मुसलमानी राज्य में राजनैतिक संगठन कमज़ोर न हुआ होता तो अँग्रेज़ी राज्य की नींव कदापि न पड़ती। राज्य रूपी शरीर में सरकार आत्मा की तरह है। जिस प्रकार जीव के बिना शरीर एक मिट्टी का पुतला है वैसे ही सरकार के बिना राज्य मनुष्यों का झुण्ड है। सरकार-रहित राज्य को राज्य कहना उचित नहीं है। सरकार के बिना राज्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है परन्तु राज्य के बिना सरकार की उत्पत्ति

हो ही नहीं सकती। सरकार का रूप समय समय पर बदलता है। इसका परिवर्तन बहुत कुछ जनता की इच्छानुसार होता है।

४—सरकार के अतिरिक्त राज्य में एकता का होना आवश्यक है। इस एकता से तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जनता, जो किसी निश्चित भू भाग में रहती है, एक ही राजनैतिक शक्ति में विश्वास करे। यदि कोई देश किसी विदेशी सरकार के अन्तर्गत है तो वह राज्य नहीं कहला सकता। जिस देश की सरकार पूर्ण स्वतन्त्र है और उसमें निवास करने वाली जनता क़ानूनों का पूरी तरह पालन करती है वही देश राज्य कहलाने का अधिकारी है। इस राजसत्ता के कई चिन्ह हैं और अनेक गुण हैं। राजसत्ता राज्य की सर्व प्रधान राजनैतिक शक्ति है। यह शक्ति अनन्त और अविच्छिन्न है। इसकी आज्ञा देशवासियों के लिये अनिवार्य है। राज्य के अन्तर्गत जितनी भी संस्थायें हैं उन सब को राजसत्ता का अनुशासन मानना पड़ता है। फ्रांस का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोदाँ लिखता है 'राजसत्ता का हुक्म सब के लिये अनिवार्य है, परन्तु वह किसी के आज्ञापालन के लिये वाध्य नहीं है।' राजसत्ता के टुकड़े नहीं किये जा सकते और न यह दो व्यक्तियों में बाँटी जा सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य की राजसत्ता पार्लियामेंट के हाथ में है। अतएव ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कोई देश स्वतन्त्र राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञ राजसत्ता को जनता की वस्तु ठहराते हैं। परन्तु जिन देशों में शासन की बागडोर थोड़े से लोगों के हाथ में है वहाँ की राजसत्ता प्रजा के हाथ से बाहर है। अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा को उसके हुक्म का पालन करना पड़ता है। बाह्य तथा अन्तर दोनों प्रकार से राजसत्ता को स्वतन्त्र होना चाहिये।

राजसत्ता

५—सब कुछ होते हुए भी यदि किसी राज्य में प्रजा सरकार के विरुद्ध है तो वह स्थायी नहीं रह सकता। यह सम्भव हो सकता है कि वहाँ के सभी निवासी किसी दूसरे राज्य में चले जायँ। इससे राज्य का नामोनिशान भी नहीं रह जायगा। १८३९ ई० में बेल्जियम और हालैंड दोनों अलग अलग हो गये। दोनों की भाषा, संस्कृति और धर्म एक दूसरे से भिन्न थे। प्रजा की इच्छा के अनुसार एक ही राज्य दो राज्यों में विभक्त कर दिया गया। प्रजा एक राजसत्ता की आज्ञाओं का

आज्ञापालन का भाव

पालन नहीं करना चाहती थी। स्पेन और पुर्तगाल भी इसी सिद्धान्त के अनुसार अलग किये गये हैं। १६०५ ई० में नार्वे और स्वीडेन दोनों देशों की जनसंख्या ने अलग अलग राजसत्ता स्थापित कर ली। १६१६ ई० में योरप के मध्यभाग में बहुत से नये राज्यों की स्थापना हुई। बड़ी लड़ाई के बाद वहाँ की जनता अलग अलग अपना राज्य स्थापित करना चाहती थी। पोलैंड, आस्ट्रिया, हँगरी, रोमानिया, बल्गारिया, ज़ेकोस्लोवेकिया, जूकोस्लाविया आदि नये नये राज्य उनमें रहने वाले निवासियों की इच्छा के परिणाम हैं। राज्य की स्थापना के लिये और उसे स्थायी रखने के लिये प्रजा में आज्ञापालन का भाव आवश्यक है। देश की प्रजा संगठित होकर राज्य की सम्पूर्ण योजना को बदल सकती है। इसी आज्ञापालन को क़ायम रखने के लिये सरकार प्रजा से अधिक से अधिक सहयोग रखती है। प्रजातंत्रवाद की स्थापना इसी इच्छा का परिणाम है। प्रजा की यह इच्छा रहती है कि शासन में अधिक से अधिक उसका हाथ हो, तभी वह राजाज्ञाओं का पालन कर सकती है। जिस देश में प्रजा का राज्य है वहाँ की जनता प्रसन्नता पूर्वक नियमों का पालन करती है। जर्मनी में, जहाँ नाज़ीवाद की स्थापना हुई है, शासन प्रबन्ध में प्रजा का विशेष हाथ नहीं है। इसीलिये बहुत से राजनीतिज्ञों का अनुमान है कि हिटलर की मृत्यु के पश्चात् जर्मनी में समाजवाद की स्थापना होगी। उसकी आज्ञाओं का पालन तभी तक हो रहा है जब तक उसके हाथ में शक्ति है।

क्या भारतवर्ष एक राज्य है?

राज्य के सम्पूर्ण अंगों का विवेचन ऊपर किया गया है। इन्हें ध्यान में रखते हुए क्या भारतवर्ष को एक राज्य कह सकते हैं? यहाँ की जन संख्या ४० करोड़ के लगभग है। काश्मीर से कुमारी तक और आसाम से गुजरात तक एक बहुत बड़े भू भाग में यह फैला हुआ है। यहाँ एक सरकार भी है। इतना होते हुये भी दो कारणों से भारतवर्ष को राज्य नहीं कह सकते :—

१—इस देश में स्वतंत्र राजसत्ता का अभाव है। भारत सरकार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की आज्ञाओं का पालन करने के लिये वाध्य है। जनता की अनुमति के विरुद्ध पार्लियामेन्ट किसी भी नियम को लागू कर सकती है। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के समय बड़े लार्ड के जो फरमान निकलते हैं वे प्रजा की इच्छा के प्रतिकूल होते हैं। यदि यहाँ की

सरकार स्वतंत्र होती तो प्रजा की अनुमति का उलंघन न करती। भारतीय कानून पार्लियामेन्ट द्वारा मंजूर किये जाते हैं। इसीलिये यह देश गुलाम कहा जाता है। कोई गुलाम देश स्वतंत्र राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

२—राज्य की स्थापना और इसे स्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रजा सहर्ष राजसत्ता को स्वीकार करे। यदि उसकी इच्छा उस राज्य के विरुद्ध है तो उसे क्षण भंगुर राज्य कहते हैं। भारतवर्ष की जनता विदेशी राज्य के विरुद्ध है। उसकी इच्छा अपने देश को स्वतंत्र कर स्वयं राज्य करने की है। कांग्रेस इस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। वह अँग्रेज़ी सरकार का सभी प्रकार से अपने देश में विरोध करती है। इस दृष्टि से भारतवर्ष को हम राज्य नहीं कह सकते। ब्रिटिश उपनिवेश भी स्वतंत्र राज्य नहीं हैं। कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूज़ीलैण्ड तथा आयरलैण्ड स्वतंत्र राज्य नहीं गिने जा सकते। यद्यपि इस विषय में राजनीतिज्ञों में बड़ा मतभेद है फिर भी अधिक संख्या इन्हें स्वतंत्र राज्य कहने के विपक्ष में हैं। इस विषय के अधिकारी (authority) ए. बी. कीथ इन्हें स्वतंत्र राज्य कहते हैं।

राज्य की उत्पत्ति

मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ राज्य की भी उत्पत्ति हुई है। राज्य उतना ही पुराना है जितना समाज। इसकी इन उत्पत्ति के बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। सबमें सचाई का थोड़ा बहुत अंश अवश्य है किन्तु कोई भी सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

(१) दैवी सिद्धान्त
(२) आर्थिक सिद्धान्त
(३) शक्ति सिद्धान्त
(४) इकरार सिद्धान्त
(५) ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त

ये सिद्धान्त बिलकुल झूठे नहीं हैं। इन सबसे राज्य की उत्पत्ति पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। प्रत्येक सिद्धान्तवादी ने अपने ही सिद्धान्त को ठीक मान कर औरों को झूठा बतलाया है। इन पर अलग अलग विचार किया जायगा और पाठकगण स्वयं विचार करें कि किस सिद्धान्त में कितनी सचाई है।

दैवी सिद्धान्त

१—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है। कुछ तो यह कहते हैं कि स्वयं अवतार लेकर भगवान ने इसकी रचना की है। दूसरे लोग जो इसी सिद्धान्त के मानने वाले हैं यह कहते हैं कि ईश्वर ने किसी पुरुष और स्त्री को इस संसार में भेजकर राज्य की स्थापना कराई। यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने स्वयं आकर राज्य की स्थापना की और कई वर्ष तक यहूदी प्रजा पर राज्य किया। उसी की इच्छानुसार कोई राजा बनाया गया और राज्य का संचालन होता रहा। मिस्र तथा चीन में राज्य की उत्पत्ति के विषय में यही सिद्धान्त सच ठहराया गया है। आज भी जापानी अपने सम्राट को किसी देवता से कम नहीं समझते। भारतवर्ष में अधिकतर हिन्दू रामचन्द्र को केवल अयोध्या का राजा नहीं बल्कि उन्हें ईश्वर का अवतार समझते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ब्रह्मा को इस सृष्टि का कर्ता माना गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि ठहराया गया है।

"बालोपि नाव मन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥"

अर्थात् यदि राजा बालक भी है तब भी प्रजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य के रूप में देवता है। यूनान तथा रोम में भी राज्य की उत्पत्ति देवता से मानी गई है। यूनानियों का यह विश्वास था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के स्वभाव से हुई है। यह स्वभाव ईश्वर प्रदत्त है। इसीलिये यूनानी देवताओं में अधिक विश्वास करते थे। रोम निवासी भी इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। मध्य युग के लगभग सभी राजनीतिज्ञ दार्शनिकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार किया है। इसीलिये पोप को राजा ठहराया गया था। आगस्टाइन और ग्रेगरी इस सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध हैं। उनका कहना था कि राजसत्ता, क़ानून तथा शान्ति सभी ईश्वर प्रदत्त हैं। ईसाई धर्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के पतन के कारण ठहराई गई है। " एक समय मनुष्य स्वर्ग में निवास करता था। उसकी आत्मा पवित्र थी। ईश्वर उसकी देख भाल करता था। किसी कारणवश उसकी आत्मा दूषित हो गई। इसीलिये ईश्वर ने संसार में उसके लिये राज्य की उत्पत्ति की और अपना एक प्रतिनिधि उनकी देख रेख के लिये भेज दिया।"

मुसलमान धर्म भी संसार के संगठनों में ईश्वर के हाथ का हामी भरता

है। हर चीज़ क़ुदरत ने पैदा की है और खुदा उसकी निगहबानी करता है। प्राचीन काल में जब कि धर्म के प्रति लोगों की प्रगाढ़ श्रद्धा थी यह सिद्धान्त ठीक माना जाता था। ऐतिहासिक उन्नति के साथ नये नये सिद्धान्तों की खोज हुई। दैवी सिद्धान्त एक कहानी मात्र रह गया। वैज्ञानिक युग के आरम्भ होते ही धर्म की ओर से लोग उदासीन होने लगे। विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। अन्ध विश्वास ढोंग ठहराया गया। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति हो रही है त्यों-त्यों धर्म की प्रभुता का ह्रास होता जा रहा है। रूस में धर्म को अफ़ीम माना गया है। यह बात असत्य ठहराई जा रही है कि राज्य की उत्पत्ति किसी देवता या ईश्वर ने की है। इस सिद्धान्त को मानने से लगभग सभी देशों ने नमस्कार कर दिया है।

आर्थिक सिद्धान्त

२—राज्य की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त आर्थिक है। अफ़लातून ने धन को राज्य की उत्पत्ति का कारण ठहराया है। यह यूनान देश का बहुत बड़ा दार्शनिक था। इसका दर्शन शास्त्र भारतीय दर्शन शास्त्रों से बहुत कुछ मिलता जुलता है। दार्शनिक के अतिरिक्त यह एक बहुत बड़ा आदर्शवादी था। अपनी 'रिपब्लिक' (Republic) नामक पुस्तक में एक आदर्श राज्य की उसने कल्पना की है। राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है "मेरा अनुमान है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर हुई है। मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं। उनकी पूर्ति वह अकेले नहीं कर सकता। इसी से विवश होकर उसे समाज की शरण लेनी पड़ी। यही समाज बढ़ते बढ़ते राज्य के रूप में परिणत हो गया।" अफ़लातून का विश्वास था कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण समाज की उत्पत्ति हुई है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए नियम की आवश्यकता पड़ी। नियम की देख रेख के लिये सरकार की उत्पत्ति हुई। कार्य की सुविधा की दृष्टि से काम का विभाजन किया गया। उसके इस सिद्धान्त से अन्य राजनीतिज्ञों ने भी सहायता ली है। स्वयं अरस्तू ने अपनी राजनीति* नामक पुस्तक में ग़रीबी, क्रान्ति, तथा अपराध को साथ साथ वर्णन किया है। इटली का प्रसिद्ध दार्शनिक मेकावली (Machiavelli) धन को मनुष्य की सबसे प्यारी वस्तु समझता है। अपनी

* Politics of Aristotle

'बादशाह' (Prince) नामक पुस्तक में राजा को उपदेश करते समय उसने बार बार चेतावनी दी है कि राजा किसी व्यक्ति की सम्पत्ति न छीने, क्योंकि प्रजा को माता पिता की मृत्यु भूल सकती है परन्तु अपनी सम्पत्ति का अपहरण उसके हृदय से नहीं निकल सकता। फ्रेञ्च दार्शनिक बोदां (Bodin) ने भी इसी प्रकार की चेतावनी दी है। वह लिखता है " राजा को प्रजा का धन अपहरण करने का कोई अधिकार नहीं है।"* इङ्गलैंड का दार्शनिक 'लाक' (Locke) भी यही कहता है कि राज्य की उत्पत्ति सम्पत्ति की रक्षा के लिये हुई है।† समाजवाद का जन्मदाता कार्लमार्क्स (Karlmarx) धन को राज्य का प्राण समझता है।

शक्ति सिद्धान्त

३—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, शक्ति-सिद्धान्त का तात्पर्य शारीरिक-शक्ति से है। युद्ध मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। टाल्सटाय ने अपनी " युद्ध और शान्ति" (War and peace) नामक ग्रन्थ में यह भली भाँति दिखलाया है कि युद्ध से मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। यह युद्ध दो प्रकार का है। एक तो मनुष्य के मस्तिष्क में होता रहता है और दूसरा वाह्य जगत में। मस्तिष्क के युद्ध से हम अपनी बुराई भलाई का फ़ैसला करते हैं। वाह्य जगत का युद्ध हमारी ग़ुलामी और आज़ादी को निश्चित करता है। शक्ति सिद्धान्त का आशय इसी वाह्य युद्ध से है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति शारीरिक शक्ति द्वारा हुई है। अर्थात् किसी बलवान पुरुष ने बहुत से कमज़ोर व्यक्तियों पर अपना अधिकार जमा कर राज्य की स्थापना की। गम्पलोवीज़ (Gumplowiez) पहला राजनीतिज्ञ है जिसने " जाति-युद्ध "‡ नामक पुस्तक में पहले पहल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् आस्ट्रिया इङ्गलैण्ड और जर्मनी में जिङ्गस तथा वार्ड ने इस पर और भी प्रकाश डाला। इन सबने यह सिद्ध किया कि आरम्भ से ही छोटे छोटे गिरोहों में सम्पत्ति के लिये

---

* The sovereign should not forcibly seize away the property of his subjects.

† Civil society was meant for the preservation of property.

‡ Race-Struggle.

युद्ध होता रहा है। जो सबसे शक्तिशाली होता वही गिरोह सब पर शासन करता था। बली गिरोह शासक हुआ, दुर्बल गिरोह उसकी प्रजा हुई और यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। जर्मन दार्शनिक 'ओपेन हेम' (Oppenheimer) का विचार है कि प्राचीन काल में राज्य की उत्पत्ति शेर और भेड़िये के युद्ध की भाँति हुई थी। 'केरी' नामक राजनीतिज्ञ लिखता है, जिस प्रकार लुटेरों के झुण्ड किसी की सम्पत्ति को लूट लिया करते हैं उसी तरह थोड़े से बलवान व्यक्ति अपनी शक्ति द्वारा बहुत से मनुष्यों पर राज्य करने लगे। उन्हीं के हुक्म क़ानून कहलाये।

आरम्भ में पृथ्वी जंगलों से ढकी हुई थी। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य इनमें घूम घूम कर जंगली जानवरों का शिकार करते और इसी से अपना पेट भरते थे। जब जंगली जानवरों की संख्या कम होने लगी और जनसंख्या बढ़ने लगी तो उनके लिये यह ज़रूरी था कि वे जानवरों को पालें तथा जंगलों को साफ़ कर खेती करें। जिस गिरोह में अधिक व्यक्ति थे उसने जङ्गल के बहुत बड़े हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया। शेष गिरोहों को उसने अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार राज्य की उत्त्पत्ति हुई। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि यह कार्य चन्द वर्षों में समाप्त हो गया। सदियों तक यह युद्ध चलता रहा। कभी एक गिरोह की विजय होती तो कभी किसी और की। दो गिरोहों में सीमा के लिये भी संघर्ष होता था। गिरोह में पद के लिये लड़ाइयाँ होती थीं। अन्त में जो सब से बली था वह राजा बना और उसके सहायक राज्य के कर्मचारी बने। विरोधी दल को विवश होकर प्रजा बनना पड़ा। प्रजा को राजा की आज्ञा पर चलना पड़ता था। आरम्भ में इस आज्ञा पालन के लिये कड़ी यातनायें दी जाती थीं। समय के प्रवाह में मनुष्य आज्ञा पालन का आदी हो गया और राजसत्ता को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

आज भी शक्ति का महत्व कम नहीं है। एक राज्य दूसरे के ऊपर तलवार और बन्दूक़ की सहायता से अपना अधिकार जमा लेता है। १९३५ में इटली ने अबीसीनियाँ पर अपना अधिकार जमा लिया। यदि इटली के पास अबीसीनियाँ से अधिक शक्ति न होती तो वह उस पर अपना अधिकार कैसे जमाता? जापान आज सात वर्षों से चीन को हड़पना चाहता है। यदि चीन के पास काफ़ी शक्ति होती तो वह जापान को अपनी भूमि पर लड़ाई न लड़ने देता। संसार में एक विश्वव्यापी युद्ध

छिड़ा हुआ है। प्रत्येक दल अपनी विजय का प्रयत्न कर रहा है। जिसकी शक्ति अधिक होगी वह अन्त में सफल होगा। कितने ही कमज़ोर राष्ट्रों का अस्तित्व इस लड़ाई में मिट जायगा।

शक्ति के ह्रास के कारण देश अपनी राजसत्ता को खो बैठता है। जिसकी शक्ति अधिक है वह दूसरे राज्यों पर अपना अधिकार जमा लेता है। जर्मनी की लड़ाई के पहले जो संसार के पाँच बड़े साम्राज्य थे वे इसी शक्ति के फल-स्वरूप स्थापित किये गये थे। बड़ी लड़ाई ने चार साम्राज्यों को चकना चूर कर दिया। केवल ब्रिटिश साम्राज्य बच गया। यदि ब्रिटिश साम्राज्य के पास जीवित रहने की शक्ति न होती तो वह भी अन्य साम्राज्यों की भाँति छिन्न भिन्न हो गया होता। रोम साम्राज्य, जो पृथ्वी पर सबसे बड़ा साम्राज्य माना जाता है, शक्ति द्वारा जीवित था। यदि नेपोलियन बोनापार्ट की तरह वीर उत्पन्न न होता तो रोम साम्राज्य का अन्त न हुआ होता। इन उदाहरणों से तात्पर्य यह है कि राज्य की स्थापना में शक्ति एक बहुत बड़ी चीज़ है। इसलिये शक्ति सिद्धान्त एक झूठी कल्पना नहीं है। आज भी यदि कोई शक्ति-शाली व्यक्ति जन्म ले ले तो वह संसार में एकतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता है। सिकन्दर महान ने जो साम्राज्य स्थापित किया था वह उसकी निजी-शक्ति का परिणाम था।

इकरार सिद्धान्त
Social Contract Theory

४—उपर्युक्त सिद्धान्तों में सत्य का थोड़ा अंश मौजूद है। इतिहास में इनका वर्णन प्रायः आता है। तर्क की दृष्टि से भी उनमें वास्तविकता का अंश कम नहीं है। आज भी एक बहुत बड़ा वर्ग धर्म का पक्षपाती है। शक्ति की मर्यादा अब भी दृढ़ है। आर्थिक युद्ध किसी न किसी रूप में आज भी चल रहा है। परन्तु इकरार सिद्धान्त एक काल्पनिक चीज़ है। इतिहास इसका समर्थन नहीं करता। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्राचीन इतिहास को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखते हैं। इसीलिये इसमें सत्य का अंश कम है। इसके मानने वाले मुख्य तीन दार्शनिक हैं:—हाब्स, लाक, तथा रूसो* इनके सिद्धान्तों पर अलग अलग विचार किया गया है।

इकरार सिद्धान्त के तीन अंग हैं:—

(१) स्वाभाविक युग

* Hobbes, Locke and Rousseau.

(२) इकरार

(३) सामाजिक संगठन

इन्हीं तीन अङ्गों पर इस सिद्धान्त का दारोमदार है। ये तीनों अंग राज्य की उत्पत्ति के तीन युग माने गये हैं। स्वाभाविक युग इनमें सर्वप्रथम आता है। इसे पूर्व-ऐतिहासिक काल कहा गया है। इसमें मनुष्य पूर्णतया प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक नियम ही क़ानून समझे जाते थे। इसके बाद दूसरा युग इकरार का आरम्भ होता है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को कुछ कठिनाइयाँ थीं। इन्हीं को दूर करने के लिये सर्व सम्मति से इकरार किया गया कि कोई सामाजिक व्यवस्था बनाई जाय। इसके पश्चात् मनुष्य एक तीसरे युग में प्रवेश करता है। उसे सामाजिक संगठन का युग कहते हैं। प्राकृतिक जीवन के पश्चात् सुसंगठित सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। इसी युग में राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण और व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान हुआ।

इकरार सिद्धान्त के अंग

ऐतिहासिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त कोई नई चीज़ नहीं है। अफ़लातून के पहले सूफ़ी लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे। सुकरात का कहना था कि क़ानून तोड़ने का अधिकार किसी को इसलिये नहीं है कि उसने उनके पालन करने का इकरार किया है। यूनान तथा रोम के अन्य दार्शनिक इकरार सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। अरस्तू इसका कट्टर विरोधी था। रोम के नीतिज्ञ किसी न किसी रूप में स्वाभाविक नियम (Natural Law) में विश्वास करते थे। मध्यकाल में इकरार की भावना काफी अंश में पाई जाती है। फ़्यूडल प्रथा से यह बात स्पष्ट है कि इकरार से समाज का संगठन हो सकता है। इसके पश्चात् हाब्स, लाक और रूसो ने १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में वैज्ञानिक ढंग से इकरार सिद्धान्त का समर्थन किया।

हाब्स का इकरार सिद्धान्त

१—१७ वीं शताब्दी के मध्यकाल में अपनी 'लेभियाथन' (Leviathan) नामक पुस्तक में 'हाब्स' ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह चार्ल्स प्रथम का सामयिक था। उसके सामने ही पार्लियामेन्ट तथा चार्ल्स प्रथम का युद्ध हुआ था। युद्ध की भीषणता का भयानक चित्र उसके दिमाग़ में भली भाँति चित्रित था। हाब्स स्वभाव

से डरपोक और लड़ाई झगड़े से घृणा करता था। वह शान्ति का पुजारी था। मिल्टन की तरह उसे अपने प्राण का बड़ा लोभ था। चार्ल्स प्रथम का समर्थक होने के नाते उसका यह विश्वास था कि जब राजा सर्वशक्तिमान होगा तो लड़ाई-झगड़े अपने आप समाप्त हो जायँगे। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये उसके हृदय में इकरार सिद्धान्त की भावना जाग्रत हुई। जब हाब्स ने देखा कि उसके राजतंत्र का कोई समर्थन नहीं कर सकता तो उसने इतिहास के एक युग की कल्पना की और इसका नाम प्राकृतिक युग रक्खा।

हाब्स का कहना है कि मनुष्य की उत्पत्ति प्राकृतिक युग में हुई। मनुष्य स्वभाव से समान है। यदि एक में शारीरिक शक्ति है तो दूसरे में बुद्धि अधिक है। समानता की यह भावना मनुष्य को युद्ध की ओर अग्रसर करती है। वह एक दूसरे की वृद्धि से ईर्ष्या करता है। यही कारण है कि प्राकृतिक युग में वह आपस में लड़ता रहा। युद्ध का एक कारण और भी है। हाब्स मनुष्य के मस्तिष्क को बुराइयों का घर बतलाता है। इनसे प्रेरित होकर वह कभी शान्त नहीं रह सकता। स्वाभाविक युग लड़ाइयों का युग था। मनुष्यों में कोई संगठन न था। वह एक दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका जीवन जंगली था। उसके पास न कोई घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि, और न उसे समय बिताने का ढंग ही मालूम था। उसे किसी कला का भी ज्ञान न था। वह निरा जंगली और मूर्ख था। प्रतिक्षण उसे भय और मृत्यु के बन्धन में रहना पड़ता था। उसका जीवन सभी प्रकार से दुखी और घृणित था।* जिसकी लाठी उसकी भैंस का ज़माना था। प्राकृतिक नियम ही उसके क़ानून थे। उसे यह ज्ञान नहीं था कि बुरे और भले में क्या भेद है या किसे न्याय और अन्याय कहते हैं।

हाब्स लिखता है कि उन्नीस प्राकृतिक नियमों का मनुष्य पालन करता था। प्रश्न यह है कि मनुष्य के विचार में कौन सी बात आई जिसने उसे समाज संगठन की ओर आकर्षित किया। उसका कहना है कि चार कारणों से वह सामाजिक संगठन की ओर झुका :—

१—स्वाभाविक जीवन में उसे प्रतिक्षण मृत्यु का भय लगा रहता था। सामाजिक जीवन में उसे यह भय नहीं था।

---

* The life of man was solitary, poor, nasty, brutish and short.

२—स्वाभाविक जीवन में मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी। यद्यपि उसकी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं फिर भी उनकी पूर्ति नहीं हो पाती थी। इन्हीं की पूर्ति के लिये वह सामाजिक संगठन का इच्छुक हुआ।

३—स्वाभाविक जीवन में मनुष्य को अपने परिश्रम का उचित फल नहीं मिलता था। उसकी शक्ति के प्रयोग के लिये कोई स्वतंत्र और सुरक्षित क्षेत्र नहीं था। अपने परिश्रम से पूरा पूरा लाभ उठाने की आशा से उसे एक समाज बनाने की इच्छा हुई।

४—स्वाभाविक जीवन में मनुष्य अशान्तिमय जीवन व्यतीत करता था। मनुष्यों के अतिरिक्त जंगली जानवरों का उसे भय रहता था। ऐसे नियम न थे जिनसे वह एक दूसरे की स्वतंत्रता का ध्यान रखता। अशान्ति को दूर कर शान्ति की स्थापना के विचार से उसे नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी। बिना सामाजिक संगठन के ये नियम लागू नहीं हो सकते थे। इसीलिये उसे एक समाज-रचना की आवश्यकता पड़ी।

सारांश यह है कि अपने जीवन की रक्षा तथा शान्ति के निमित्त मनुष्य को समाज-संगठन की आवश्यकता हुई। परन्तु यह संगठन तब तक सम्भव नहीं था जब तक प्राकृतिक नियमों के स्थान पर लोग सामाजिक नियमों का पालन न करते। एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता थी जो सभी व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँध सके। इसी शक्ति को लाने के लिये सबने आपस में इकरार किया। प्रत्येक मनुष्य ने एक व्यक्ति अथवा एक समूह को अपना सारा अधिकार समर्पित कर दिया। इकरार के वाक्य हाब्स के शब्दों में इस प्रकार हैं।* इस इकरार से एक सामाजिक संगठन का निर्माण हुआ। इसी से एक राजनैतिक संगठन बना। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। एक व्यक्ति अथवा कोई व्यक्ति समूह राजा हुआ। सारी राजनैतिक शक्ति उसके हाथ में दे दी गई। सब लोगों ने प्रसन्नता पूर्वक उसकी आज्ञाओं का पालन करना आरम्भ किया।

---

* Authorise and give up my right of governing myself to this man or assembly of men on this condition that thou give up thy right to him or to this assembly of men and authorise his or its actions in like manner.

२—इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने अपने काल का इतिहास वर्णन किया है। उनके कथन में राजनैतिक आभास कम है। लाक का जन्म उस समय हुआ जब कि इंगलैंड में एक महान क्रान्ति हो चुकी थी। वहाँ का शासन स्टुअर्ट वंश से निकल कर विलियम और मेरी के हाथ में चला गया था। राजा के अत्याचार से लोग घबड़ा गये थे। प्रजातंत्र राज्य की स्थापना के लिये वे उत्सुक थे। वे राजा की शक्ति को कम कर पार्लियामेंट का शासन चाहते थे। इसीलिये जेम्स द्वितीय को निकाल कर हालैंड से विलियम और मेरी को बुलाया गया था। लाक का इक़रार सिद्धान्त इसी परिस्थिति का समर्थन करता है। इस ऐतिहासिक घटना को छोड़कर उसके सिद्धान्त में कोई और चीज़ नहीं है। हाब्स के सिद्धान्त से वह सहमत नहीं है।

लाक का इक़रार सिद्धान्त

लाक ने अपना सिद्धान्त 'शासन की विवेचना'* नामक पुस्तक में वर्णन किया है। वह लिखता है कि आरम्भ में मनुष्य जंगलों में रहता था। उसका न कोई संगठन था और न समाज। जानवरों की तरह वह इधर उधर घूमता और जंगली जीवों को मार कर अपना पेट भरता था। परन्तु लाक इस जंगली जीवन की बड़ी सराहना करता है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन में व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र था। उसके कार्य में किसी तरह की रुकावट नहीं थी। वह अपनी सम्पत्ति को जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता था। वह किसी प्रकार से औरों का दास नहीं था। थोड़े से स्वाभाविक नियम उसे मानना पड़ता था। स्वाभाविक जीवन की दूसरी विशेषता समानता थी। प्राणीमात्र में किसी प्रकार कि विषमता न थी। सभी मनुष्य बराबर थे। धनी, गरीब, विद्वान्, मूर्ख इस प्रकार के भेद भाव न थे। तात्पर्य यह है कि लाक के कथनानुसार प्राकृतिक जीवन में पूर्ण शान्ति थी और लोग एक दूसरे के सहायक थे। साथ ही उनके अन्दर औरों के प्रति सद्भाव था। इस प्रकार 'लाक' का सिद्धान्त 'हाब्स' के बिलकुल विरुद्ध है। 'हाब्स' का प्राकृतिक जीवन घृणित और लड़ाइयों से परिपूर्ण है। इसके विपरीत 'लाक' का प्राकृतिक जीवन स्वर्ग की बराबरी करता है।

प्रश्न यह है कि जब प्राकृतिक जीवन में इतनी सुविधायें थीं तो सामाजिक जीवन की क्या आवश्यकता पड़ी। 'लाक' लिखता है कि मनुष्य

* Treatises on Civil Government

को कुछ असुविधायें थीं। यदि किसी प्रकार की आपस में शत्रुता हो जाती तो उसका फैसला करने वाला कोई न था। उन्हें एक ऐसी ताक़त की आवश्यकता थी जो व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराती। यदि कोई इनका उलंघन करता तो वह शक्ति उसे उचित दण्ड देती। प्राकृतिक जीवन में एक और भी असुविधा थी। लोगों का जीवन स्थायी नहीं था। किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न थी। जब कोई अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करता तो उसे ठीक मार्ग पर लाने का कोई रास्ता न था। इसीलिये दो प्रकार के इकरार किये गये। पहले इकरार से एक सामाजिक संगठन* की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् सबने मिल कर एक दूसरा संगठन और बनाया। इसे राजनैतिक संगठन† कहते हैं। पहले इकरार से समाज की रचना हुई और दूसरे से सरकार की।

रूसो का इकरार सिद्धान्त

१७६२ ई० में 'रूसो' ने सामाजिक इकरार‡ नामक पुस्तक लिखा। यह फ्रांस का रहने वाला था। उसके सामने फ्रांस की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। वहाँ के राजा का जीवन घृणित था। थोड़े से अमीर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु साधारण जनता गरीबी से व्याकुल थी। उसके ऊपर इतने टैक्स लगाये गये थे कि उनके बोझ से प्रजा दबी हुई थी। बड़ी बेरहमी के साथ उनसे बेगार ली जाती थी। राजनैतिक और सामाजिक दोनों बन्धनों से जनता इतनी बँधी हुई थी कि वह रात दिन अपने उद्धार की चिन्ता कर रही थी। इसी समय रूसो ने अपनी पुस्तक लिखी थी। उसके सामने यही प्रश्न न था कि प्रजा को स्वतंत्रता कैसे मिले, तथा बादशाह की सख्तियों से उसे किस प्रकार बचाया जाय बल्कि उसे यह भी चिन्ता थी कि किस प्रकार की राजसत्ता से प्रजा का शासन होना चाहिये। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने अपना इकरार सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो 'हाब्स' और 'लाक' दोनों से भिन्न है। आरम्भ में ही वह लिखता है "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है परन्तु चारों ओर बन्धनों से जकड़ा हुआ है"।§ उस समय योरपीय समाज में धार्मिक बन्धन इतना

---

* Communal contract.

† Governmental contract.

‡ Social contract.

§ Man is born free; and everywhere he is in chains

अधिक था, और विचार इतने संकीर्ण थे कि इसी लिखने पर रूसो को देश से बाहर निकाल दिया गया और जनेवा तथा पेरिस शहर में उसकी पुस्तकें खोज खोजकर जलाई गईं।

'रूसो' ने भी एक प्राकृतिक जीवन की कल्पना की है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन में मनुष्य पूर्ण रूप से स्वस्थ और प्रसन्न था। वह भलीभाँति सन्तुष्ट था और जंगलों में घूम कर अपना जीवन व्यतीत करता था। पेड़ के नीचे वह शयन करता था। उसका शरीर मज़बूत, सुन्दर और सुडौल था। उसे कभी किसी दवा की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जब से वह समाज में प्रवेश किया तब से उसकी कमज़ोरियाँ बढ़ती गईं। स्वास्थ्य में वह अवनति करने लगा। स्वाभाविक जीवन में उसकी आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं। ज्ञान के अभाव के कारण उसके अन्दर किसी प्रकार की परीशानी न थी। न तो उसके पास घर था, न झोपड़ी और न सम्पत्ति। स्त्री-पुरुषों में विवाह आदि का रवाज़ न था। लोग एक दूसरे की बोली भी नहीं समझते थे। एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध न था। किसी को भलाई बुराई, नेकी बदी आदि का कुछ भी ज्ञान न था। हर एक अपने को स्वतंत्र समझता था। शरीर तथा मन दोनों से वह स्वस्थ था। वह सभी बुराइयों से सर्वथा रहित था। हम और तुम का भाव उसके अन्दर बिलकुल न था। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त सरल और सुखमय था।

इसी प्राकृतिक जीवन में मनुष्य को सम्पत्ति की लालसा हुई। आपस के सहयोग से उसके अन्दर ज्ञान की वृद्धि हुई। ज्ञान के कारण उसकी आवश्यकतायें बढ़ीं। यहीं से व्यक्तिगत सम्पत्ति का श्रीगणेश हुआ और समाज में विषमता की नीव पड़ी। आरम्भ में किसी ने थोड़ी सी भूमि अपने अधिकार में कर ली और वही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति कहलाई।*

रूसो लिखता है कि प्राकृतिक जीवन की यह अन्तिम अवस्था थी। अपना तथा पराये का प्रश्न उठते ही स्वर्गीय जीवन का अन्त हो गया। तरह तरह की कठिनाइयाँ आने लगीं। जङ्गल के टुकड़े टुकड़े आपस में

---

* The first man, who having enclosed a peace of ground bethought himself of saying: This is mine: and found people simple enough to believe him, was the real founder of the Civil Society.

बाँटे जाने लगे। एक दूसरे में छीना झपटी आरम्भ हुई। पत्थर तथा लकड़ी के तरह तरह के हथियार प्रयोग में लाये जाने लगे। छोटे छोटे घर भी बनने लगे। जनसंख्या की वृद्धि हुई। विलासी जीवन की नीव पड़ी। लोगों को अपने सुख का ध्यान हुआ। वे एक दूसरे के सम्पर्क में आने लगे। एक प्रकार का सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। प्रेम के साथ घृणा की उत्पत्ति हुई। सहन शीलता के साथ क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ।

रूसो ने प्राकृतिक जीवन को स्वर्ग ठहराया है। वह लिखता है कि जब तक मनुष्य उस जीवन में निवास करता था, जब तक उसकी आवश्यकतायें कम थीं, उसे किसी प्रकार की चिन्ता न थी। उसका जीवन सरल और शुद्ध था। उसे हम और तुम का ज्ञान नहीं था।* प्राकृतिक जीवन को सुखों का घर माना है। इसके विपरीत सामाजिक जीवन सभी बुराइयों से परिपूर्ण है। कोई भी यह कह सकता है कि जब प्राकृतिक जीवन इतना सुखमय था तो सामाजिक जीवन में आने की क्या आवश्यकता थी। क्यों मनुष्य स्वर्गीय जीवन को छोड़ कर नरक की ओर प्रस्थान किया।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह स्वभाव से नेक, न्याय प्रिय

---

* "So long as men remained content with their rustic huts, so long as they were satisfied with clothes made of the skins of animals and sewn together with thorns and fish-bones, adorned themselves only with feathers and shells, and continued to paint their bodies with different colours, to improve and beautify their bows and arrows and to make with sharp edged stones fishing boats or clumsy musical instruments; in a word, so long as they undertook only what a single person could accomplish, and confined themselves to such arts as did not require the joint labour of several hands, they lived free, healthy, honest and happy lives."

तथा शान्ति का पुजारी है।* दूसरों की सहायता के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। जब से मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क में आया तब से समता का अभाव दिखाई पड़ने लगा। लोगों को सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ी। उसकी रक्षा के लिये घर भी बनवाने पड़े। कार्य करने के लिये स्वामी और दास की उत्पत्ति हुई। रूसो का कहना है कि प्राकृतिक जीवन को छोड़ कर मनुष्य ने बड़ी भूल की। इसी का फल है जो आज वह तरह तरह की मुसीबतों में पड़ा हुआ है। अपनी 'सामाजिक इकरार' नामक पुस्तक में उसने सामाजिक जीवन के उन सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनसे मनुष्य समाज में होते हुये सुख पूर्वक रह सकता है। यहाँ पर रूसो और फ्रांस की राज्यक्रान्ति (French Revolution) दोनों के उद्देश्य एक हो जाते हैं। दोनों ही विषमता को हटा कर समता, स्वतन्त्रता और सद्-भाव की स्थापना करना चाहते हैं। धातु की उत्पत्ति और कृषि इन दोनों ने सामाजिक जीवन की वृद्धि की। सोना, चाँदी, लोहा और अन्न इनसे मनुष्य की वाह्य सभ्यता तो बढ़ी किन्तु उसके भीतर के भाव बिगड़ते गये। सुविधाओं की वृद्धि के साथ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का दास बनता गया। उसकी आरम्भिक स्वतन्त्रता जाती रही और सामाजिक नियमों के जाल में वह जकड़ दिया गया। धनी गरीब सभी एक दूसरे पर निर्भर रहने लगे। सब के अन्दर लोभ, ईर्ष्या और डाह आदि विकार पैदा हुये। लड़ाई-झगड़े की इतनी वृद्धि हुई कि लोगों का जीवन अत्यन्त दुखी हो गया। सब लोग एक नये जीवन की आशा करने लगे। इसी की पूर्ति के लिये सब ने मिलकर एक इक़रार किया।

रूसो का इकरार एक राजनैतिक जीवन की कल्पना करता है। व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण अधिकार समाज को अर्पित कर दिया। अपने पास उसने कोई अधिकार न रक्खा।† इस प्रकार जिस समूह को सम्पूर्ण व्यक्तियों की शक्ति प्राप्त हुई वही शासक हुआ। उस शक्ति को रूसो

---

* Man is a being who is naturally good and loves justice and order.

† Each of us puts his own person and all his power in common under the supreme direction of the General Will and in our corporate capacity we receive each member as an indivisible part of the whole.

ने (General will) "सामूहिक विचार" कहा है। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई।

उपरोक्त सिद्धान्तों की आलोचना

दैवी सिद्धान्त धर्म के आधार पर राज्य की कल्पना करता है। इस बीसवीं सदी में समाज को कोई ईश्वर की रचना नहीं मान सकता। भौतिक जगत मनुष्य की रचना है। जो वस्तुयें हमें दिखाई पड़ती हैं वे सब उसी की करतूत हैं। ईश्वर को उनका कारण मानना अन्ध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शक्ति सिद्धान्त एक क्षणिक विचार है। शक्ति के सहारे कोई चीज़ थोड़े दिनों तक ठहर सकती है परन्तु उसके घटते ही वह अपने आप बिगड़ जायगी। राजनैतिक संगठन एक स्थाई कीर्ति है। केवल शक्ति द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई होती तो अब तक इसका नाश हुये बिना न रहता। शक्ति और सहयोग इन दोनों में बिरोध है। समाज में हमें चारों ओर सहयोग दिखाई पड़ता है। कोई व्यक्ति दबाव के कारण सहयोग प्राप्त नहीं कर सकता। आर्थिक सिद्धान्त एकाङ्गी है। मनुष्य की आवश्यकतायें केवल धन से पूरी नहीं हो सकतीं। समाज की आवश्यकताओं में धन से केवल एक अंग की पूर्ति होती है। मनुष्य को एक सूत्र में बाँधने का श्रेय केवल धन को नहीं हैं। सरकार की उत्पत्ति केवल धन की व्यवस्था के लिये नहीं हुई है। राज्य में मनुष्य की उन्नति के लिए जो जो काम होते हैं वे सब धन से ही सम्बन्ध नहीं रखते। इकरार सिद्धान्त एक ऐतिहासिक कल्पना है। इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि इतिहास यह वर्णन नहीं करता कि प्राकृतिक जीवन कब और कैसा था। स्वयं इस सिद्धान्त के मानने वाले एक ही प्राकृतिक काल को कई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनके कथानक में कोई समता नहीं है। तर्क की दृष्टि से इनके क्रम भी ठीक नहीं है। बिना किसी समाज के अधिकार की उत्पत्ति असम्भव है। प्राकृतिक अधिकार की परिभाषा किसी ने भी नहीं की है।

इकरार सिद्धान्त को मानने में एक बहुत बड़ा भय है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति एक क्षणिक क्रिया है। किसी भी समय नये राज्य की स्थापना की जा सकती है। यही कारण है कि रूसो के सिद्धान्त से फ्रांस की राज्यक्रान्ति में बड़ी सहायता मिली। अमेरिका की स्वतन्त्रता पर इन सिद्धान्त-वादियों का काफ़ी प्रभाव पड़ा था। राज्य एक या दो दिन की वस्तु नहीं है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के स्वभाव और रहन-

सहन से है। इसका विकास कई शताब्दियों में क्रमशः हुआ होगा। वैज्ञानिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त अधूरा है। इतिहास यह वर्णन करता है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन व्यक्तिगत नहीं एवं सामूहिक गिरोह का जीवन था। परन्तु कोई इकरारवादी इसे मानने को तैयार नहीं है। राज्य की उत्पत्ति के ये सभी सिद्धान्त ग़लत हैं। ज्ञान की दृष्टि से इनकी थोड़ी बहुत उपयोगिता हो सकती है, लेकिन राज्य की उत्पत्ति में इनसे कोई सहायता नहीं मिलती। जिन विद्वानों ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, उन्होंने किसी न किसी व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रक्खा है। प्रत्येक सिद्धान्त अपने काल की ऐतिहासिक घटना पर पूरा प्रकास डालता है। राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त दूसरा है। इसे 'ऐतिहासिक' या 'विकास' सिद्धान्त कहते हैं। सभी दृष्टियों से यह पूर्ण और सर्वमान्य है।

ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त

जब हम किसी वृक्ष की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह ख़याल होता है कि इसे बढ़ने में कई वर्ष लगे होंगे। जो वृक्ष जितना ही स्थायी होता है उसे बढ़ने में उतना ही अधिक समय लगता है। रेंड़ का पेड़ जल्दी तैयार होता है, लेकिन उसकी आयु अधिक से अधिक एक या दो वर्ष होती है। ताड़ वर्षों तक एक समान पड़ा रहता है। परन्तु उसे बढ़ने में बीसों वर्ष लगते हैं। मानव समाज एक वृक्ष की तरह है। इसकी सूरत चाहे जैसी भी हो जाय लेकिन संगठन छिन्न भिन्न नहीं हो सकता। जैसे कोई वृक्ष एक दिन में तैयार नहीं होता उसी तरह राज्य की उत्पत्ति एक दिन की चीज़ नहीं है। सदियों में इसका विकास हुआ है। इतिहास बतलाता है कि मनुष्य एक विकसित प्राणी है। डारविन का कहना है कि आरम्भ में मनुष्य बन्दर था। वह पेड़ों पर रहता और कूद कूद कर चलता था। अफ्रीका के जंगलों में अब भी बन मानुष पाये जाते हैं। वे आधे मनुष्य और आधे बन्दर होते हैं। विकास होते होते बन्दर ही मनुष्य बन गया। मनुष्य-रचित जितनी भी वस्तुयें हैं वे सब विकास सिद्धान्त पर निर्भर हैं। मानव समाज एक विकसित वस्तु है। राज्य की उत्पत्ति विकास सिद्धान्त पर निर्भर है। इसकी उत्पत्ति मनुष्य की उन्नति की एक विशेष अवस्था से सम्बन्ध रखती है। जब तक हम मनुष्य का क्रमशः विकास अध्ययन न

करेंगे तब तक हमारा ज्ञान सामाजिक विषयों में अधूरा रहेगा। इस विकास सिद्धान्त को हम कई अवस्थाओं में बाँट सकते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था

आरम्भ में मनुष्य झुंडों अथवा गिरोहों में रहता था। उसका न कोई घर था और न कुटुम्ब। उसे यह भी ज्ञान न था कि कौन उसका माता है और कौन पिता। उसके पास किसी प्रकार की सम्पत्ति न थी। वह बिलकुल असभ्य था और जंगली जीवों को मार कर अपना पेट पालता था। जिस प्रकार जंगली जानवर झुंड के झुंड घूमते रहते हैं उसी तरह मनुष्य भी झुंड का झुंड घूमता था। उसे किसी कला का ज्ञान न था। वह नंगे बदन रहता और हाथ ही उसका हथियार था। पेड़ों के नीचे वह शयन करता और नदी अथवा नाली से पानी पीता था। जानवर और उसके जीवन में कोई भेद न था। जैसे जानवरों में थोड़ा बहुत संगठन है, कोई स्वामी कोई रक्षक और कोई नौकर होता है, उसी प्रकार मनुष्यों के झुंड में भी इसी तरह की व्यवस्था थी। सारी पृथ्वी जंगलों से ढँकी थी। न कोई गाँव था और न घर। पृथ्वी पर या तो जंगल थे या नदी अथवा पहाड़। जैसे एक जाति के जानवर झुण्ड के झुण्ड अलग अलग रहते हैं, और दूसरे प्रकार के जानवरों से अपने को अलग रखते हैं, उसी तरह मनुष्य भी अपने झुण्ड को और जानवरों से अलग रखता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि और जानवरों से वह डरता था। भय उसे छू कर भी नहीं था। वह उसी तरह ख़ूँख़ार था जैसे शेर और चीते। आज भी जंगली मनुष्यों में भय नहीं पाया जाता। उनके बच्चे साँप और बिच्छू से नहीं डरते।

इसी दशा में मनुष्य सदियों तक पड़ा रहा। इसके पश्चात् उसकी रहन सहन में परिवर्तन हुये। इसके कई कारण हैं। जङ्गल में दावाग्नि का लगना एक स्वाभाविक बात है। दो पेड़ आपस में टकरा कर अग्नि पैदा कर देते हैं। आज भी जब जङ्गलों में आग लगती है, तो वह अग्नि वहीं पैदा होती है। मनुष्य ने जब देखा कि दावाग्नि लगने से जङ्गल का बहुत सा हिस्सा साफ़ हो गया तो उसकी इच्छा हुई कि क्यों न जङ्गलों को साफ़ करके जानवरों को पाला जाय। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य जङ्गलों को साफ़ करने और जानवरों को पालने लगे। लेकिन अभी उनके पास न कोई घर था और न संगठन। जब जङ्गली जानवरों का ढेर उनके पास इकट्ठा हो गया तो उनके देख-भाल की आवश्यकता पड़ी। कहा जाता है कि पालतू

जानवरों में सबसे पहिले बिल्ली और कुत्ते थे। इसके बाद चूहे पाले गये। फिर भेंड़, बकरी, गाय आदि धीरे धीरे पाले जाने लगे। कुछ लोग उनकी देखभाल के लिये रक्खे गये। यहाँ से मनुष्य का जीवन बदलने लगा। उसकी हिंसक प्रवृत्तियाँ घटने लगीं। उसके अन्दर दया और सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। अब तक उसे एक स्थान पर रहने की कोई आवश्यकता नहीं थी, लेकिन जब उसके पास जङ्गली जानवरों का ढेर हो गया तो उसे विवश होकर एक स्थान पर रहना पड़ा। जब सैकड़ों मनुष्यों का झुण्ड एक जगह रहने लगा तो आपस में विवाह शादी की प्रथा चली। रसम रवाज़ भी बनाये गये। देवी देवताओं की पूजा आरम्भ हुई। प्राकृतिक वस्तुओं को लोग देवता समझ कर पूजने लगे। जिन जिन वस्तुओं से लाभ पहुँचता था उन्हें वे देवता मानने लगे। अग्नि, वायु, जल, धूप, शीतलता, इन सबको वे देवता मानते थे। स्त्रियों को पशुओं की रक्षा का भार सौंपा गया। जब पुरुष शिकार करने के लिये बाहर चले जाते तो स्त्रियाँ जानवरों की रखवाली और घरों की देख भाल करती थीं। लेकिन लोग अभी तक पेड़ों के नीचे ही रहा करते थे। उनके पास झोपड़ियाँ तक न थीं।

कृषि और गृह निर्माण काल

जब मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी और जङ्गली जीवों का अभाव होने लगा तो विवश होकर उन्हें खेती करने की बात सोचनी पड़ी। शेष जङ्गलों को साफ़ किया गया और खेती आरम्भ हुई। यह खेती व्यक्तिगत ढंग पर नहीं होती थी। प्रत्येक झुण्ड सम्मिलित रूप से खेती करता था। झुण्ड की सारी चीज़ें सम्मिलित समझी जाती थीं। स्त्रियाँ तक सम्मिलित होती थीं। अमुक स्त्री का अमुक पति है यह भाव उस समय न था। कृषि की उन्नति होने लगी और पालतू जानवर बढ़ने लगे। प्रत्येक झुण्ड के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति हो गई। सम्पत्ति के लिये विभिन्न झुडों में लड़ाइयाँ होने लगीं। अब तक लड़ाइयों में जो झुण्ड बिजयी होता वह हारे हुये झुण्ड वालों को जान से मार डालता था, लेकिन कृषि आरम्भ होने पर प्रत्येक झुण्ड को मज़दूरों की आवश्यकता थी। इसलिये जो झुण्ड लड़ाई में हार जाता उसे मज़दूर बना कर रख लिया जाता था। इसी से स्वामी और सेवक की उत्पत्ति हुई। दासता या गुलामी की प्रथा चली। अनादि काल से चलती हुई दासता का अन्त अठारहवीं सदी में जाकर हुआ। परन्तु देखा जाय तो गुलामी किसी न

किसी शकल में आज भी मौजूद है। यह सम्मिलित जीवन शताब्दियों तक चलता रहा और प्रत्येक झुण्ड में अनेक रसम रवाज़ उत्पन्न हुये। उनमें एक तरह का संगठन भी बढ़ने लगा जिस पर थोड़ा विचार करना चाहिये।

प्रत्येक झुण्ड का एक स्वामी होता था। उसकी आज्ञा सबको माननी पड़ती थी। यह व्यक्ति शरीर से बहुत ही मज़बूत होता था। झुण्ड में जो झगड़े होते उनका फ़ैसला यही करता था। इसे यहाँ तक अधिकार था कि जिसे चाहे प्राण दंड दे सके। धार्मिक क्रियाओं में वही अगुआ रहता था। सम्मिलित सम्पत्ति का बटवारा इसी को करना पड़ता था। शादी विवाह का रवाज़ आजकल की तरह न था। पुरुष और स्त्री मिल कर रहते थे। एक स्त्री के कई पति होते थे और एक पुरुष कितनी ही स्त्रियों का मालिक होता था। किसी के पास अपनी स्त्री और अपना लड़का हो इस तरह की परिपाटी न थी। यदि कोई झुण्ड के नियमों का उलंघन करता तो मुखिया उसे शारीरिक दंड देता था। कभी कभी वह समूह से बहिष्कृत भी कर दिया जाता था। झुण्ड के पास सम्मिलित घर होते थे जो पेड़ों के पत्तों से बनाये जाते थे। अभी तक कच्ची दीवारें भी लोग बनाना नहीं जानते थे। चारों ओर बाँसों का घेरा बनाकर वे रहते थे। जङ्गली जीवन का लोप होने लगा और प्रत्येक झुण्ड कृषि कार्य में व्यस्त हुआ। भूमि के लिये उनमें लड़ाइयाँ होती थीं। प्रत्येक झुण्ड अपने पास कुछ व्यक्तियों को लड़ाई के लिये तैयार रखता था। इनका काम झुण्ड की रक्षा करना और नई नई भूमि को जीतना था। इस रक्षक वर्ग की अपने झुण्ड में बड़ी इज्जत होती थी। इन्हें मुफ्त अच्छा से अच्छा भोजन मिलता और इनसे कोई काम नहीं लिया जाता था।

ग्राम की उत्पत्ति

जंगलों का जाल काट कर साफ़ कर दिया गया। सारी भूमि कृषि के लिये तैयार की जाने लगी। कुछ भूमि को केवल चराई के लिये छोड़ दिया जाता। प्रत्येक झुण्ड एक गाँव सा बन गया। यद्यपि खेती बारी सम्मिलित थी, परन्तु रहन सहन की सुविधा के लिये अलग अलग घर बनाये गये। स्थायी सम्बन्ध आरम्भ हुआ। जो जिससे विवाह करता या किसी तरह का घनिष्ठ नाता रखता वह उसी के साथ एक घर में रहने का अधिकारी होता था। इस प्रकार अलग अलग कुटुम्ब स्थापित हुये। कुछ दिन तक कुटुम्बों की सम्पत्ति मिली जुली थी, लेकिन उनकी सुविधा के लिये अलग

अलग बाँट दी गई। गाँव में सैकड़ों अलग अलग घर हो गये, सबकी अलग जायदाद हो गई और हर गाँव का एक प्रधान नियुक्त किया गया। यही प्रधान मुखिया कहलाता था। आज भी गाँव में मुखिया होता है, लेकिन उसे कोई विशेष अधिकार नहीं है। आरम्भ में यही गाँव का मालिक होता था। इसकी सम्पत्ति औरों से अधिक होती थी। सब लोग इसे आदर की दृष्टि से देखते थे। गाँव के झगड़े यही फ़ैसल करता था। इसे सभी प्रकार की शक्ति दी गई थी।

व्यवसायों की उन्नति

खेती सभी व्यवसायों की जड़ है। इसकी उन्नति के साथ तरह तरह के रोज़गार अपने आप बढ़ते गये। गाँवों को स्वावलम्बी बनाने के लिये लोग तरह तरह के पेशों को अपनाने लगे। नाई, धोबी, दर्ज़ी, तेली, अहीर, काछी इत्यादि वर्ग इसी के परिणाम हैं। आरम्भ में इनमें ऊँच नीच का कोई प्रश्न न था। पेशे के कारण कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं समझा जाता था। इन्हें मज़दूरी के रूप में प्रतिवर्ष कुछ अन्न दे दिया जाता था। आज भी गाँवों में यह प्रथा किसी न किसी रूप में मौजूद है। प्रत्येक गाँव की एक निश्चित सीमा होती थी। इसके प्रबन्ध के लिये हर तरह का इन्तज़ाम था। गाँवों को स्वावलम्बी बनाने की भावना जितनी ही बढ़ती गई उसी मात्रा में नाना प्रकार के व्यवसाय बढ़ते गये। यद्यपि कोई भी गाँव अथवा देश स्वावलम्बी नहीं है, फिर भी गाँवों के सरल जीवन के अनुकूल सभी सामग्रियाँ वहाँ मौजूद हैं। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में जब वैज्ञानिक युग का आरम्भ हुआ तो लोगों की रहन सहन में महान् परिवर्तन हुए। हाथ की बनी हुई चीज़ें उन्हें भद्दी मालूम पड़ने लगीं। मशीनों द्वारा तरह तरह की चीज़ें बनने लगीं। इससे नये नये व्यवसायों की और भी उन्नति हुई।

युद्ध और राज्य की उत्पत्ति

मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं। ग्राम संगठन उसे छोटा पड़ने लगा। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। प्रत्येक गाँव में कुछ ऐसे उत्साही व्यक्ति हुये जिन्हें यह इच्छा हुई कि दूसरे गाँवों को जीत कर उन पर अधिकार स्थापित करें। इन्हीं दो कारणों से प्रेरित होकर आपस में संघर्ष उत्पन्न हुआ। एक गाँव दूसरे गाँव को जीत कर अपना हद बढ़ाना चाहता था। यह युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा। बहुत से गाँवों का एक स्वामी हो गया।

अन्य गाँवों को विवश होकर उसकी मातहती स्वीकार करनी पड़ी। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर छोटे छोटे राज्य बनते गये। प्रत्येक राज्य में एक राजा होता था। उसकी आज्ञा ही क़ानून थी। इसीलिये आरम्भ में एकतन्त्र राज्यों का ज़िक्र अधिक आता है। वे राज्य दो प्रकार के होते थे। यदि राजा न्यायी हुआ तब तो उसकी आज्ञा सर्वमान्य होती और राज्य में शान्ति रहती थी। गाँवों पर वह बेजा दबाव नहीं डालता था। सबसे उचित टैक्स लिया जाता और उसके बदले में प्रजा की भली भाँति रक्षा की जाती थी। प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया जाता था। ऐसे राज्य स्थायी हुआ करते थे। राजा की मृत्यु के बाद उसका जेठा लड़का गद्दी पर बैठता था। यदि वह योग्य नहीं होता तो राजा अपने जीवन काल में ही किसी और को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर देता था। दूसरे प्रकार के राज्य वे थे जो क्षणभंगुर हुआ करते थे। राजा अत्याचारी होता था और उसकी आज्ञा तभी तक मानी जाती थी जब तक उसमें शारीरिक बल होता था। ज्योंहीं उसकी शक्ति कमजोर हो जाती उसका राज्य भी नष्ट हो जाता था। कोई दूसरा राजा उस पर अपना अधिकार जमा लेता या।

राज्य की स्थापना एक दिन की वस्तु नहीं है। सदियों के युद्ध के बाद छोटे छोटे राज्यों की उत्पत्ति हुई। ये राज्य आपस में लड़ते रहते थे। जिसकी शक्ति अधिक होती वह दूसरे राज्य पर अपना अधिकार कर लेता था। इसी तरह राज्य की सीमा बढ़ने लगी। छोटे छोटे राज्य नष्ट होते गये और प्रत्येक देश में एक राज्य की स्थापना हुई। देश से मेरा तात्पर्य एक प्राकृतिक सीमा से है। देश का हद किसी प्राकृतिक चीज़ से मान लिया गया। या तो इसके चारों ओर कोई पहाड़ हो अथवा नदी या समुद्र। इसके पार जाना कठिन था इसलिये इसी हद को देश मान लिया गया। प्रत्येक देश की एक संस्कृति बन गई। यद्यपि इसके अन्दर बहुत से छोटे छोटे राज्य रहते थे परन्तु वे सब किसी बड़े राज्य के मातहत होते थे। प्रत्येक देश की एक सरकार, एक भाषा, एक नियम और एक रहन सहन होती गई।

सोलहवीं सदी के बाद नये नये यन्त्रों का आविष्कार हुआ और नई कलायें संसार में फैलने लगीं। १४५३ ई० में जब यूनान पर तुर्कों का हमला हुआ तो यूनान के विद्वान सम्पूर्ण यूरप और एशिया में फैल गये।

इसके कुछ दिन बाद अठारहवीं सदी में मशीनों का आविष्कार हुआ। एक देश का सम्बन्ध दूसरे देशों से होने लगा। आवागमन की सुविधा हुई। इसलिये राज्य के स्थान पर साम्राज्य की स्थापना होने लगी। आरम्भ में प्रत्येक राज्य को एक दृढ़ राष्ट्र बनने की धुन आरम्भ हुई। परन्तु यह राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद के रूप में परिणत हो गई। एक देश दूसरे देश पर अपना अधिकार जमाने लगा। संसार में कितने ही साम्राज्य स्थापित हो गये। चूँकि नये आविष्कारों का जन्म यूरप में हुआ, इसलिये साम्राज्यवादी यूरप में ही उत्पन्न हुये। बीसवीं सदी में साम्राज्यवादियों में युद्ध आरम्भ हुआ। जब दुनियाँ का कोना कोना जीत लिया गया तो साम्राज्यवादियों को आपस में लड़ना पड़ना। जर्मनी की बड़ी लड़ाई साम्राज्यवाद की लड़ाई थी। संयोगवश चार बड़े बड़े साम्राज्य ख़तम हो गये और केवल अँग्रेजी साम्राज्य जीवित रहा। जर्मनी पुनः अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। इसी की पूर्ति के लिये वह फिर एक विश्वव्यापी युद्ध का नेता बना हुआ है। राज्य की उत्पत्ति से लेकर आज तक इसकी वृद्धि के लिये युद्ध चल रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि कब यह युद्ध समाप्त होगा। यही क्रमशः विकास राज्य की उत्पत्ति का सच्चा सिद्धान्त है। आज किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति राज्य से अपना सम्बन्ध रखता है। वह इससे अपने को अलग नहीं कर सकता। राज्य से अलग उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है।

—:०:—

अध्याय ८

राज्य के कर्तव्य

(Functions of Government)

प्रश्न का स्पष्टी करण—व्यावधानिक कर्तव्य—सामाजिक कर्तव्य—कर्तव्य सम्बन्धी ३ सिद्धान्त—अराजकतावाद—व्यक्तिवाद—समाजवाद—राज्य के उद्देश्य—प्राचीन काल में यूनानियों का मत—आधुनिक मत—राज्य के वास्तविक उद्देश्य—राज्य के आदर्श—राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त—राज्य के कर्तव्यों का सूक्ष्म इतिहास—राज्य के कर्तव्य और व्यक्ति की आवश्यकतायें—एक मध्यम मार्ग—जान माल की रक्षा करना—न्याय की रक्षा—स्वास्थ्य और सफ़ाई—आवागमन के साधन देना—दीन दुखियों का प्रबन्ध करना—सामाजिक सुधार—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता।

प्रश्न का स्पष्टी करण

राज्य के कर्तव्य क्या हैं और क्या होने चाहिये, यह एक गोला सा प्रश्न है। जिस प्रकार एक डाक्टर हृदय की गति को बतला सकता है और एक गणितज्ञ किसी हिसाब का ठीक ठीक उत्तर दे सकता है उस प्रकार का उत्तर राज्य के कर्तव्य के विषय में नहीं दिया जा सकता। यद्यपि राज्य एक है, परन्तु इसके अन्दर अनेक प्राणी निवास करते हैं। इसकी व्यवस्था उन्हीं के स्वभाव के अनुसार की जाती है। इसीलिये इसकी विभिन्न किस्में होती हैं। राज्य का एक रूप कभी नहीं रहता। उसके कर्तव्य प्रत्येक युग में बदलते रहते हैं। आरम्भ में जब कि मनुष्य के विचार-क्षेत्र इतने विस्तृत न थे, राज्य के कर्तव्य बहुत थोड़े थे। उस समय इस प्रश्न का उत्तर बहुत साधारण ढङ्ग से दिया जा सकता था। परन्तु आजकल कर्तव्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। जब यह प्रश्न उठता है कि राज्य के क्या क्या कर्तव्य होने चाहिये, उस समय यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आदर्श का कहीं अन्त नहीं है। 'चाहिये' शब्द आदर्श से सम्बन्ध रखता है। आदर्शवादियों ने ही यह प्रश्न उठाया है। इसलिये राज्य के कर्तव्य को समझने के लिये हमें इन दोनों प्रश्नों को अलग अलग रखना चाहिये। राज्य के कौन कौन से

कर्तव्य हैं यह एक प्रश्न है; और क्या क्या कर्तव्य होने चाहिये यह दूसरा प्रश्न है। दोनों को एक साथ हमें नहीं मिलाना चाहिये। पाठक यह ध्यान रक्खें कि राज्य और सरकार के कर्तव्य एक ही हैं।

साधारण तौर से राज्य के कर्तव्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं :—

व्यावधानिक कर्तव्य (Constituent functions)

१—इसके अन्तर्गत मुख्य आठ बातें हैं, जिन्हें राज्य को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। यदि वह इन्हें पूरा न करे तो शासन का अन्त हो जाय।

अ—वाह्य आक्रमणों से देश की तथा राज्य में धन-जन की रक्षा का प्रबन्ध करना।

ब—स्त्री पुरुष तथा पिता पुत्र में क़ानूनी सम्बन्ध निश्चित करना।

स—अपराधों का स्पष्टी करण और उनके दण्ड की सीमा निहित करना।

द—सम्पत्ति सम्बन्धी नियम बनाना और उसके अधिकार की व्यवस्था करना।

य—व्यक्तियों में इक़रार सम्बन्धी कारवाइयों के लिये क़ानून बनाना।

र—न्याय का प्रबन्ध करना। साथ ही अन्यायी को उचित दंड देने का विधान बनाना।

ल—नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य की सीमा निश्चित करना तथा उन्हें राजनैतिक सुविधाओं को प्रदान करना।

व—एक राज्य का सम्बन्ध दूसरे राज्य से स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाओं की व्यवस्था करना।

सामाजिक कर्तव्य (Ministrant functions)

२—ये कर्तव्य इतने अधिक हैं कि इनकी सूची तैयार करना असम्भव है। राज्य की शक्ति जितनी ही बढ़ती जाती है त्यों त्यों ये कर्तव्य भी अधिक होते जाते हैं। इनसे राज्य को व्यावधानिक कर्तव्यों के पालन में बड़ी सहायता मिलती है; शान्ति और सुख की वृद्धि होती है; प्रजा में प्रसन्नता का आवाहन होता है और राज्य की आयु बढ़ती है। व्यावधानिक कर्तव्य राज्य को क़ायम रख सकते हैं, लेकिन उसे वैभवशील तथा आदर्शमय नहीं बना

सकते। इसीलिये उसे विवश होकर प्रजा के हित के लिये दूसरे प्रकार के कर्तव्यों को भी करना पड़ता है। इनमें १० अत्यन्त आवश्यक हैं :—

अ—व्यापार की वृद्धि करना और इसकी रक्षा के नियम बनाना। इसी के अन्तर्गत रुपये तथा नोट आदि बनाना भी है। नाप तोल की दर निश्चित करना, चुंगी का प्रबन्ध करना, बाज़ारों में बेंचने की सुविधा देना, इत्यादि कार्य भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

ब—आवागमन के साधन की वृद्धि करना। जैसे रेल, तार, डाक, सड़क, टेलीफ़ोन, ट्रेम गाड़ी आदि का प्रबन्ध करना। यात्रियों को अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करना।

स—स्वास्थ्य, सफ़ाई, तथा रोगों के इलाज का प्रबन्ध करना।

द—मज़दूरों की रक्षा के नियम बनाना। आधुनिक युग में, जब कि मिलों और कारखानों की खूब वृद्धि हो रही है, मज़दूरों का प्रश्न बहुत ही जटिल हो गया है। यदि राज्य की ओर से उनकी रक्षा का प्रबन्ध न हो तो उनका जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाय।

य—शहरों में हवा, रोशनी और पानी का प्रबन्ध करना। गाँवों में सिंचाई की व्यवस्था करना, ट्यूब वेल बनवाना तथा नहरें निकालना।

र—शिक्षा का प्रचार करना।

ल—अन्धे, लूले, गूँगे, बहरे तथा ग़रीब दुखियों का प्रबन्ध करना। उनके रहने तथा भोजन आदि की व्यवस्था करना।

व—जंगलों तथा नदियों की देख रेख करना।

क—नशीली चीज़ों का बहिष्कार करना।

ख—सामाजिक नियमों का आदर करना तथा सभी धर्मों और सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखना।

राज्य अपनी प्रजा की उन्नति के लिये बहुत से कार्य कर सकता है। प्रजा में जितनी अधिक सहयोग की भावना रहेगी राज्य को उतनी ही अधिक इन कार्यों में सफलता मिलेगी। प्रजा में संगठन और सद्भाव की जागृति इन कार्यों को प्रति दिन बढ़ाती जायेगी। राज्य की आर्थिक दशा यदि अच्छी नहीं है तो इन कार्यों में कम से कम सफलता होगी। इस लिये

इनकी वृद्धि के लिये आर्थिक दशा की उन्नति करना आवश्यक है। जब प्रजा पेट की ही धुन में व्यस्त है तो वह शिक्षा और कला की ओर ध्यान नहीं दे सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश में आज मौजूद है। ग्रामों की दशा आर्थिक दृष्टि से इतनी शोचनीय है कि उनके बीच में कला तथा शिक्षा का प्रचार करना तब तक कठिन है जब तक उनकी रोटी का प्रबन्ध नहीं हो जाता। भोजन और वस्त्र के पश्चात् मनुष्य की अन्य आवश्यकतायें बढ़ती हैं। सरकार पहले प्रजा की रोटी का प्रबन्ध करे ताकि कोई राज्य में भूखा और नंगा न रहे। राज्य की ओर से कम से कम इतना प्रबन्ध जरूर होना चाहिये कि जो परिश्रम करना चाहें उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये औरों पर निर्भर न रहना पड़े। इसलिये रोज़गार की व्यवस्था करना राज्य का एक आवश्यक कर्तव्य है। बेरोज़गारी के रहते हुये राज्य में न धन की वृद्धि होगी और न व्यवसाय की। तुलसीदास ने राजा का यहाँ तक कर्तव्य ठहराया है कि एक भी मनुष्य राज्य में भूखा न रहे। वे लिखते हैं :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज काहुहिं नहिं व्यापा॥

राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी ३ सिद्धान्त

राज्य की स्थापना किसी सिद्धान्त पर हुई है। इसलिये इसके कर्तव्य भी सिद्धान्त पर ही निर्भर हैं। प्रत्येक सिद्धान्त राज्य के कर्तव्यों का विवेचन करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कोई इसका क्षेत्र बड़ा मानता है और कोई छोटा। वैज्ञानिक दृष्टि से ये सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं। एक तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं मानता। उसके अनुसार न कोई राज्य का कर्तव्य है और न उसकी आवश्यकता। शेष सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व में पूरा विश्वास करते हैं, परन्तु आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं। ये सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं :—

१—अराजकतावाद
२—व्यक्तिवाद
३—समाजवाद

हमारा तात्पर्य इन वादों का वर्णन करना नहीं है। इसके लिये

दूसरी जगह स्थान दिया जायगा। यहाँ पर हम यह दिखाना चाहते हैं कि ये सिद्धान्त किन किन दृष्टिकोणों से राज्य के कर्तव्य को निश्चित करते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं, यही इस अध्याय में वर्णन करना है।

अराजकतावाद

१—इस सिद्धान्त के मानने वाले राज्य को एक व्यर्थ की योजना मानते हैं। यदि विचार किया जाय तो राज्य के कर्तव्यों के अन्तर्गत इस सिद्धान्त का विवेचन नहीं होना चाहिये। जो सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व को नहीं मानता वह उसके कर्तव्यों को कैसे निश्चित कर सकता है। परन्तु इसके अनुसार व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह व्यक्ति राज्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिये अराजकतावाद का वर्णन राज्य के कर्तव्यों के साथ करना कोई अनुचित नहीं है। जैसा कि शब्द से ही सूचित है यह वाद किसी राजनैतिक संगठन को नहीं मानता। इसका उद्देश्य यह है कि एक ऐसे समाज की स्थापना की जाय जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना शासन करे। उस समाज में जितने भी संगठन हों उनका सदस्य बनना और न बनना व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ दिया जाय। किसी को इस बात के लिये बाध्य न किया जाय कि वह अमुक संगठन का सदस्य अवश्य बने। अराजकतावादी यह कहते हैं कि जैसे किसी टोकरी में बहुत से कंकड़ स्वयं अपना अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार समाज में व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता पाने पर अपने सुख और शान्ति की व्यवस्था स्वयं कर लेगा। राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है।

राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता का शत्रु है। राजनैतिक बन्धन व्यक्ति के विकास में जेल की तरह बाधक है। सरकार एक प्रकार की शक्ति है जो व्यक्ति को पग पग पर दबाती रहती है। जब कभी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार मार्ग ग्रहण करना चाहता है तो राज्य उसकी स्वतंत्रता में रोड़े अटकाता है। व्यक्ति स्वयं चतुर है। वह अपना हित और अहित भलीभाँति पहचानता है। सरकार उसके हितों की पूर्ति में कोई विशेष सहायता नहीं करती। अधिकार और कर्तव्य का विवेचन व्यक्ति के लिये किया जाता है। राज्य का न कोई अधिकार है और न कर्तव्य। जैसे गाड़ी में पाचवाँ पहिया व्यर्थ है उसी प्रकार व्यक्ति के विकास में राजनैतिक संगठन अनावश्यक है। जब तक मनुष्य अपने सभी बन्धनों को तोड़ कर फेंक नहीं देगा तब तक वह स्वतंत्रता के स्वप्न का अनुभव नहीं कर

सकता। सरकार सबसे बड़ा बन्धन है। थोड़े से स्वार्थी लोग अपने सुख के लिये अधिकांश जनता को जकड़े हुये हैं। यदि स्वतंत्रता पूर्वक सबकी राय ली जाय तो कोई भी राजकीय बन्धन का समर्थन नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी है। अपने कर्तव्यों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। जन्म से मृत्यु तक अपने किये हुये कर्मों का फल वह स्वयं भोगता है। सभी धर्म एक स्वर से इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति के निजी आचार विचार को छोड़कर उसका कोई दूसरा* सहायक नहीं है। स्वर्ग में भी उसी के कर्तव्यों की परीक्षा होती है। वाह्य-रूप से जितनी सहायता व्यक्ति को प्राप्त होती है वह दिखावटी तथा अनावश्यक है। इसीलिये अराजकतावादी व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता पर अधिक से अधिक ज़ोर देते हैं। इस स्वतंत्रता के आगे सभी संगठन व्यर्थ हैं।

व्यक्तिवाद

२—व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति ही सब कुछ है। राज्य इसी की उन्नति के लिये बनाया गया है। कोई समाज व्यक्ति को दबा कर अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता। इस वाद का आरम्भ इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया था। तब से यह वाद उन्नति करता गया। उन्नीसवीं सदी में जब मशीनों का युग आरम्भ हुआ तो विभिन्न संगठन स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने लगे। व्यक्ति को विवश होकर किसी न किसी संगठन का सदस्य बनना पड़ा। इन संगठनों की शक्ति बढ़ती गई। व्यक्ति अपने आपको कमज़ोर पाता गया। आजकल प्रत्येक संगठन अपना एक व्यक्तित्व बनाये हुये है, जिसके अन्दर व्यक्ति एक अंग मात्र है। राज्य के अधिकारों की इसीलिये वृद्धि हुई, कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करे। इस सिद्धान्त का वर्णन समाजवाद के अन्दर किया जायगा। प्रश्न यह है कि व्यक्तिवाद कहाँ तक राज्य का अधिकार मानता है और किस हद तक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक अनिवार्य दोष है।† यह एक ऐसी बुराई है, जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता

---

* जितनी भलाई माता पिता अथवा दूसरे भाई बन्धु कर सकते हैं उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है। (भगवान बुद्ध)

† State is a necessary evil.

है। इसलिये राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं मिलना चाहिये जिससे वह व्यक्तियों को दबा सके। वह इतना कर सकता है कि जिन कार्यों को व्यक्ति न कर सके उसमें वह मदद करे। व्यक्ति की उन्नति में जितनी भी बाधायें आवें उनका वह निवारण करे। किसी राजनीतिज्ञ का कहना है "सभ्यता अपनी अन्तिम चोटी पर व्यक्ति की ही सत्ता को स्वीकार करेगी।" व्यक्ति समाज का स्तम्भ है। राज्य उसका सबसे बड़ा सहायक है। जो सरकार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नियम बनाती है वह अन्यायी और अत्याचारी है। उसका कर्तव्य इतना ही है कि वह व्यक्तियों के सम्बन्ध की व्यवस्था करे। यदि उनमें किसी बात पर मतभेद है अथवा कलह उत्पन्न होता है तो राज्य उसे दूर करे। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य व्यक्ति का सेवक है। सरकारी अफ़सर अथवा नौकर प्रजा के सेवक हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनसे सेवा कराने का समान अधिकारी है। सरकार का कर्तव्य देश में शान्ति रखना और व्यक्ति की आवश्यकतानुसार क़ानून बनाना है।

व्यक्तिवाद क्या चीज़ है, किसने इसका आरम्भ किया, इसके क्या क्या उद्देश्य हैं, इन बातों का वर्णन एक दूसरे अध्याय में किया जायगा। यहाँ पर यही विचार करना है कि व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति समाज के लिये नहीं। व्यक्ति समाज-सेवा के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की हर प्रकार से सेवा करे। राज्य समाज का एक उन्नत रूप है। जिन कर्तव्यों को समाज का कोई संगठन नहीं कर सकता, राज्य उन्हें करने का अधिकारी है। यदि कोई व्यवस्था व्यक्ति को राज्य का दास बनाती है तो वह ठीक नहीं कही जा सकती। राज्य केवल देखभाल कर सकता है। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के कर्तव्यों की सूची बनाई जाय तो वह बहुत ही छोटी होगी। उन्हें हम उँगलियों पर गिन सकते हैं। इसके अनुसार राज्य के तीन कर्तव्य हैं:—

१—वाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना।

२—राज्य में शान्ति स्थापित करना।

३—राज्य में विभिन्न संस्थाओं की देख रेख करना।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह उनके कार्यों में थोड़ा भी दखल दे। व्यक्ति विचार करने

के लिये स्वतन्त्र है। उसे यह अधिकार है कि अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सके। परन्तु इतना ध्यान रखना होगा कि वह औरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। स्पेन्सर के कथनानुसार राज्य के मुख्य तीन कर्तव्य हैं :—

१—पुलीस रखना।

२—सेना रखना।

३—न्याय की रक्षा करना।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक कम्पनी है, और व्यक्ति उसमें हिस्सेदार है। उसे यह अधिकार है कि वह जैसे चाहे अपने लाभ हानि का प्रबन्ध करे। राज्य का यह कर्तव्य कदापि नहीं है कि वह उपरोक्त तीन बातों के अतिरिक्त शिक्षा, ग़रीबों की सेवा तथा रोगियों का प्रबन्ध करे। इन कार्यों को व्यक्ति अच्छी तरह कर सकता है। यदि राज्य इन कामों को करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति को अपाहिज बनाता है। राज्य से थोड़ी बहुत सहायता लेकर व्यक्ति को स्वयं अपना कार्य करना चाहिये। व्यक्ति की रुचि भिन्न भिन्न होती है। औरों को उसकी रुचि का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसी-लिये प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिल का कहना है कि राज्य के कर्तव्य जितने ही अधिक होंगे उसी मात्रा में व्यक्ति के कर्तव्य कम होते जायेंगे। सारांश यह है कि व्यक्तिवाद राज्य को कम से कम अधिकार देना चाहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राज्य के कर्तव्य, व्यक्तिवाद के अनुसार, कम से कम ठहराये गये हैं। ऐसा इसलिये किया गया है कि व्यक्ति के कर्तव्यों का क्षेत्र अधिक से अधिक बढ़ सके।

समाजवाद

३—समाजवाद एक स्वतंत्र विषय है। इस पर अलग किसी अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ हमें यही देखना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं। समाजवाद कोई नया सिद्धान्त नहीं है। अफलातून ने अपनी पुस्तक रिपबलिक (Republic) में इसका वर्णन किया है। एक प्रकार से हम उसे कट्टर समाजवादी कह सकते हैं। परन्तु समाजवादी आन्दोलन एक नई चीज़ है। उन्नीसवीं सदी में मशीनों के साथ इसका जन्म हुआ है। शायद ही कोई स्कूल या कालेज का विद्यार्थी होगा जो समाजवाद का नाम न सुना हो। यह वाद इतना प्रसिद्ध

है जितना काशी सिल्क। इस सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि सम्पत्ति का वितरण समान रूप से होना चाहिये। जब सभी मनुष्य शारीरिक बनावट में एक प्रकार के हैं तो कुछ विषयों में उनकी आवश्यकतायें भी एक तरह की होंगी। भूख सबको लगती है, कपड़े की आवश्यकता सभी को पड़ती है, मनोरंजन के साधन सब को चाहिये। इसलिये समाज में जो विषमता दिखलाई पड़ती है वह पाप का घर है। थोड़े से स्वार्थी व्यक्तियों ने अपने लाभ के लिये तरह तरह के नियम बना कर अपने सुख का सामान इकट्ठा कर लिया है। अधिकतर लोगों को भर पेट भोजन भी मिलना कठिन है। आर्थिक विषमता सभी बुराइयों की जड़ है। धनी ग़रीब का अन्तर समाज में इतनी बुराइयाँ फैलाता है कि सामाजिक जीवन शुद्ध नहीं रह सकता। हितोपदेश में तो यहाँ तक कहा गया है कि घर को छोड़ कर जंगलों और पर्वतों की गुफ़ाओं में निवास करना अच्छा है, किन्तु धनहीन रहकर समाज में जीवित रहना निन्दनीय है।*

समाजवाद आर्थिक योजना का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका जन्मदाता जर्मन दार्शनिक कार्लमार्क्स है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जर्मनी स्वयं समाजवाद का कट्टर शत्रु है। संसार में रूस ही एक ऐसा देश है जो समाजवाद को सिद्धान्त और कार्य दोनों रूप में मानता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश इसका दूसरा पहलू है। तात्पर्य यह है कि समाजवाद सभी प्रकार के भेद भाव को मिटाकर एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहता है। यह आधुनिक सभ्यता का समर्थक और विरोधी दोनों है। पक्षपाती तो इसलिये है कि वह मशीनों का समर्थन करता है और नवीन वैज्ञानिक उन्नति का सभी प्रकार से उपयोग करना चाहता है। वह धर्म को ढोंग मानता है। तर्क पर जो सिद्धान्त टिक सके वही सर्वमान्य होना चाहिये। चूँकि वर्तमान सभ्यता तर्क पर ही निर्भर है इसलिये समाजवाद उसके पक्ष में है। विरोधी इसलिये है कि आधुनिक युग पूँजीवाद का युग कहलाता है। पूँजीवाद ही समाज में विषमताओं की जड़ है।

---

* वरं वनं व्याघ्र गजेन्द्र सेवितं,
अलेन हीनं बहु कंटकावृतम्।
त्रियाणि शय्या परिधान वल्कलं,
न बन्धु मध्ये धन हीन जीवनम्॥

इसी का विनाश करना समाजवाद का प्रधान उद्देश्य है। इसलिये यह वाद आधुनिक सभ्यता का विरोधी भी है।

ऊपर कहा गया है कि हमारा उद्देश्य यहाँ पर समाजवाद के सिद्धान्तों का वर्णन करना नहीं है। थोड़ा जो वर्णन किया गया है वह इसलिए कि पाठकगण समाजवाद से कुछ परिचित हो जायँ, अन्यथा अनभिज्ञ रहने से उन्हें इसके और राज्य के सम्बन्ध को समझने में कठिनाई होगी। अब प्रश्न यह है कि समाजवाद के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं? जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है समाजवाद व्यक्तिवाद का प्रति-रूप है। जिस प्रकार व्यक्तिवाद समस्त अधिकार व्यक्ति को देना चाहता है उसी प्रकार समाजवाद इसे राज्य को अर्पण करना चाहता है। राज्य के सामने वह व्यक्ति को कोई चीज़ नहीं समझता। समाजवादी व्यक्तिगत उद्योग को बुरा समझते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने लाभ के लिये कुछ भी करने का अधिकारी नहीं है। वह सब कुछ राज्य के लिये करे। उसके परिश्रम का फल राज्य उसे देगा। राज्य सभी सम्पत्ति पर अपना अधिकार रक्खे और व्यक्ति की आवश्यकतानुसार इसे वितरण करे। वह इस बात की देख भाल रक्खे कि व्यक्ति बैठकर अपाहिज की तरह भोजन न करे। समाज पर वह किसी प्रकार से भार न हो। जो परिश्रम करे वही धन का अधिकारी समझा जाय। सारी ज़मीन सरकार के अधिकार में हो। कोई ज़मीदार और कोई काश्तकार न रहे। जो भूमि को जोते वह अपनी ज़मीन का मालिक समझा जाय। सबको उचित कार्य दिया जाय और उसी के अनुसार उन्हें वेतन मिले। व्यक्ति का कर्तव्य इतना ही है कि वह शान्ति पूर्वक राज्य के नियमों का पालन करे। वह उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। वही उसके कार्य, उसके भोजन, शिक्षा, तथा क़ानून की व्यवस्था करेगा। व्यक्ति को कोई चिन्ता नहीं रहेगी। राज्य सभी बातों का ध्यान रक्खेगा। व्यक्ति की उन्नति अवनति का उत्तरदायित्व राज्य पर निर्भर होगा।

समाजवादी राज्य को ही सब कुछ अर्पण कर देना चाहते हैं। शिक्षा का प्रबन्ध राज्य करे। व्यवसाय पर उसका पूर्ण अधिकार हो। वही धन का वितरण करे। वही व्यक्तियों के अन्दर सहानुभूति और सद्भावना का प्रसार करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। एकता, समानता, न्याय, इनकी रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य व्यक्ति के लिये सब कुछ करे। छोटी से छोटी वस्तु पर व्यक्ति का

अधिकार नहीं होना चाहिये। राज्य का कर्तव्य है कि वह सभी चीज़ों को अपने अधिकार में रक्खे और उनसे व्यक्ति को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाये। शिक्षा सबके लिये अनिवार्य और निःशुल्क कर दी जाय। ग़रीबी के कारण किसी को गुण से वंचित न किया जाय। जब तक राज्य सम्पूर्ण कार्य भार को अपने ऊपर न लेगा तब तक विषमता का रोग समाज से नहीं जा सकता। यह सभी स्वीकार करते हैं कि सरकार की शक्ति सबसे बड़ी है। जिस काम को व्यक्ति को करने में वर्षों लगेंगे उसे सरकार एक दिन में कर सकती है। मान लीजिये राज्य से शराब खोरी को बहिष्कृत करना है। विभिन्न समुदाय यह प्रयत्न करते हैं कि किसी प्रकार से इस बुराई का सत्यानाश हो जाय। सारा समाज इसकी गन्दगी से घबड़ाने लगता है। लेकिन फिर भी शराबी आज़ादी के साथ दिनदहाड़े शराब पीता है। जब यही कार्य सरकार को सुपुर्द किया जाता है तो शराबी को शराब छोड़नी पड़ती है। न कोई शराब बना सकता है और न बेंच सकता है। इसी तरह जिन जिन कामों को सरकार लेगी उसे निहायत ख़ूबसूरती के साथ कर सकेगी। व्यक्ति केवल परिश्रम करे, बाकी चिन्ता राज्य करेगा। व्यर्थ की छीना झपटी से क्या लाभ? व्यक्तिगत सम्पत्ति से लोभ, ईर्ष्या, कलह आदि पैदा होते हैं। अच्छा हो कि व्यक्ति के सारे अधिकार और कर्तव्य राज्य को दे दिये जायँ और वही उनकी देख भाल करे।

राज्य के उद्देश्य

राज्य के कर्तव्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले उसके उद्देश्य को समझा जाय। किसी संगठन का कर्तव्य उसके उद्देश्य से जाना जाता है। आर्यसमाज का उद्देश्य वैदिक संस्कृति का प्रचार करना है। इसलिये कोई यह नहीं कह सकता कि आर्यसमाजी अस्पताल क्यों नहीं बनवाते। जिसका जो उद्देश्य नहीं है उसके लिये वह धन और शक्ति नहीं खर्च कर सकता। इसलिये कर्तव्य को समझने के लिये उद्देश्य का समझना आवश्यक है। जब राज्य के अन्तिम उद्देश्य निश्चित हो जायँगे तो कर्तव्य का रास्ता साफ हो जायगा। प्रश्न यह है कि राज्य की उत्पत्ति किस लिये हुई है? क्या इसकी उत्पत्ति अचानक हुई है और इसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है अथवा किसी ख़ास उद्देश्य को लेकर यह उत्पन्न हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। समय समय पर यह उद्देश्य बदलता रहा है। दो एक मत को उद्धृत करने से बात स्पष्ट हो जायेगी।

प्राचीन काल में यूनानियों का मत

यूनान प्राचीन काल में राजनीति का केन्द्र था। यहीं से संसार में राजनैतिक विषयों का प्रचार हुआ। इस देश में राजनीति के कुछ ऐसे विद्वान् हुये जिनकी समता आज तक कोई नहीं कर सकता। सुकरात, अरस्तू, अफ़लातून इसी यूनान के दार्शनिक हुये हैं। हमें इनके विचार समझने चाहिये। राज्य के क्या उद्देश्य हैं इस पर इनका मत बहुत ही स्पष्ट है। यूनानी विद्वानों का कहना है कि राज्य का कोई उद्देश्य नहीं है। राज्य स्वयं मनुष्य के सबसे बड़े उद्देश्य की पूर्ति है। इसलिये उद्देश्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। राज्य की स्थापना होते ही इसके सारे उद्देश्य समाप्त हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा तभी राज्य की स्थापना सम्भव है। मनुष्य के मस्तिष्क में जितनी भी कल्पनायें हैं, राज्य उन सब में श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है। वह इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति अपनी उन्नति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच चुका है। यूनानी राज्य को एक आदर्श-पूर्ण संगठन मानते थे। अफ़लातून तो यहाँ तक कहता है कि सच्चे राज्य की स्थापना इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकती। मनुष्य के अन्दर कुछ ऐसी स्वाभाविक कमज़ोरियाँ हैं जिनके कारण वह इसे स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ है। इसकी स्थापना केवल दार्शनिक कर सकते हैं। समस्त सरकारी कर्मचारी यदि दार्शनिक हो जायँ तो आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है। परन्तु यह सम्भव नहीं है। ऐसा राज्य स्वर्ग में ही सम्भव है। अरस्तू का कहना है कि राज्य की स्थापना जीवन की रक्षा के लिये हुई है परन्तु इसका विकास उसे उन्नत बनाने के लिये है।*

यूनानियों के अतिरिक्त अन्य देशवासियों ने भी प्राचीन काल में राज्य के कर्तव्यों पर विचार किया है। उनके कथनानुसार राज्य में व्यक्ति को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिये। राज्य को सारे काम करने का अधिकार है। मूसा के नियम के अनुसार व्यक्ति के दैनिक कार्य भी राज्य को ही निश्चित करने चाहिये। उसे यह नियम बनाना चाहिये कि मनुष्य क्या भोजन करे; कब और क्या क्या उसमें परिवर्तन हो; वह

---

* State comes into existence for life, but it continues to exist for good life.

कैसा कपड़ा पहने; उसका भोजन किस प्रकार परसा जाय; तथा स्त्री पुरुष कब और कैसे विवाह करें। तात्पर्य यह है कि छोटे से छोटे काम से लेकर बड़े से बड़ा काम सरकार ही करे। प्राचीन काल में यहूदियों में भी इसी प्रकार के नियम पाये जाते हैं। राज्य उनकी छोटी छोटी बातों के लिये नियम बनाता था। जर्मन निवासी प्राचीन काल में राज्य को सब कुछ मानते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता स्वप्न की चीज़ समझी जाती थी। एक बात ज़रूर है कि सरकार व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरी तरह समझती थी। दोनों की भलाई में कोई अन्तर न था। ऐसा नहीं था कि राज्य के उद्देश्य व्यक्ति की भलाई के विरुद्ध हों। यदि वह ऐसा करता तो प्रजा उसे छोड़ कर किसी अन्य राज्य में चली जाती। प्राचीन काल में राज्य छोटे होते थे, जनसंख्या भी कम थी, इसलिये सम्पूर्ण प्रजा सरकार की नज़रों के सामने रहती थी। उसका सुख दुख राज्य को प्रति क्षण मालूम होता रहता था। यही वजह है कि सरकार उनकी छोटी छोटी बातों की परवाह रखती थी। प्रजा राज्य के लिये होती थी, राज्य प्रजा के लिये नहीं। राज्य का दर्जा व्यक्ति से कहीं ऊँचा समझा जाता था। राज्य में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं था। राज्य सब कुछ और व्यक्ति शून्य समझा जाता था।

आधुनिक मत

समय के प्रवाह में विचार बदलते रहते हैं। जो सिद्धान्त प्राचीन काल में सर्वसम्मति से मान्य थे वे आज बहिष्कृत कर दिये जाते हैं। आधुनिक सिद्धान्त राज्य का कुछ और ही उद्देश्य ठहराता है। वह राज्य को व्यक्ति से छोटा समझता है। उसके अनुसार व्यक्ति की उन्नति और भलाई के लिये इसकी स्थापना हुई है। राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाये। वह स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है वरन् एक साधन मात्र है। उसके उद्देश्य हैं प्रजा की भलाई और देश की सभी प्रकार से उन्नति करना। वह एक राजनैतिक संगठन है जो सभी संगठनों से बड़ा है। इसका कर्तव्य यह है कि वह अन्य संगठनों के सम्बन्ध की देख रेख करे। जर्मन राजनीतिज्ञ होल्ज़ेन्डार्फ़ (Holtzendorff) ने राज्य के कर्तव्यों को दो भागों में विभाजित किया है।

एक के अनुसार राज्य को तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

१—राज्य के वास्तविक उद्देश्य

अ—राष्ट्रीयता का विकास कैसे हो।

ब—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये क्या प्रबन्ध हो।

स—सामाजिक उन्नति अथवा सभ्यता के विकास के लिये क्या किया जाय ?

राज्य के आदर्श

२—प्रजा के अन्दर सेवा, त्याग, चरित्र बल की वृद्धि करना, राज्य के आदर्श ठहराये गये हैं। जो राज्य इनकी उन्नति की व्यवस्था करता है वह आदर्श गिना जाता है।

जर्मन दार्शनिक हीगल (Hegel) का कहना है कि राज्य का उद्देश्य अध्यात्मवाद की उन्नति करना है। प्रत्येक व्यक्ति आदर्शमय जीवन व्यतीत करने लगे यही राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्य का उद्देश्य अधिक से अधिक सुख और वैभव की वृद्धि करना है। एक बहुत बड़ी संख्या में जनता प्रसन्न और सन्तुष्ट होनी चाहिये। जिस राज्य में बहुसंख्यक प्राणी दुखी और असन्तुष्ट रहते हैं वह निन्दनीय समझा जाता है। लेकिन यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। अधिक से अधिक लोग तो सन्तुष्ट रहें, परन्तु बाकी की क्या दशा होगी ? क्या थोड़े से लोग यदि राज्य में अत्यन्त कष्ट सहते रहें तो वह निन्दनीय नहीं है ? अच्छा तो यह हो कि एक भी व्यक्ति असन्तुष्ट, दुखी, अथवा दरिद्र न रहे। वान मोहल (Von Mohl) नामक एक जर्मन दार्शनिक का कहना है कि राज्य के ३ उद्देश्य होने चाहिये :—

१—आरम्भिक (Primary)

२—माध्यमिक (Secondary)

३—अन्तिम (Ultimate)

आरम्भिक उद्देश्य शान्ति रखना और शासन को इस भाँति चलाना है कि व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिल सके। माध्यमिक उद्देश्य राष्ट्रीयता की वृद्धि करना है। अन्तिम उद्देश्य वही है जो हीगल ने कहा है। अर्थात् सर्वत्र आध्यात्मिक जीवन की वृद्धि दिखलाई दे; मनुष्य जाति की पूर्ण उन्नति हो और राज्य में सभ्यता एक सिरे से दूसरे सिरे तक चन्द्रमा की रोशनी की तरह फैल जाय।

राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

अठारहवीं शताब्दी के पहले राज्य के कर्तव्य की चर्चा कम की जाती थी। लोगों में इसके प्रति उत्सुकता इसलिये कम थी कि उनकी राजनैतिक प्रवृत्तियों का अभी विकास नहीं हुआ था। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बाद स्वतंत्रता और समानता की एक लहर सी बह चली।

इस लहर को समझने के लिये विचारों की स्वतंत्रता का इतिहास जानना होगा। राज्य के कर्तव्य उसी समय निश्चित किये गये होंगे जब इसकी स्थापना हुई होगी। हाँ, समय समय पर कुछ नये नये कर्तव्य शामिल होते गये होंगे। यदि प्रारम्भिक काल से इस इतिहास का वर्णन किया जाय तो हम नागरिक शास्त्र के विषय से बहुत दूर चले जायेंगे। १६ वीं सदी के बाद इस विषय पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। नये नये अनुसन्धान और नई नई खोजों के कारण लोग अपनी स्वतंत्रता और अपने अधिकारों के महत्व को समझने लगे। इस बात की आवश्यकता पड़ी कि व्यक्ति और राज्य के कर्तव्यों का बटवारा होना चाहिये। हाब्स के कथनानुसार राज्य का कर्तव्य देश में केवल शान्ति रखना और व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना है। कुछ समय पश्चात् लाक ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने हाब्स के सिद्धान्त को अपूर्ण ठहराया। उसका कहना है कि राज्य का कर्तव्य केवल धन-जन की रक्षा करना नहीं है, बल्कि व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। राज्य के कर्तव्यों की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता गया। वे इस बात पर ज़ोर देने लगे कि यदि राज्य अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता तो उसे प्रजा पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं रखना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि ऐसी दशा में प्रजा उसका विरोध भी कर सकती है। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका की स्वतन्त्रता का युद्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारतवर्ष में जो कांग्रेस का आन्दोलन चल रहा है उसके पीछे भी यही भावना मौजूद है। यदि ब्रिटिश सरकार अपने कर्तव्यों का ध्यान रखती तो यह आन्दोलन इतना ज़ोर न पकड़ता।

लाक के पश्चात् रूसो ने इस सिद्धान्त में और भी वृद्धि की। उसने यह सिद्ध किया कि राज्य के कर्तव्य अनन्त हैं और उसका क्षेत्र व्यापक है। जो राज्य जितना ही सुदृढ़ और सुसंगठित होगा वह उतना ही अपने कर्तव्यों को पूरा करेगा। इसका अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन को प्रसन्न करना तथा उसके अन्दर सद्‌गुणों का प्रचार करना है। रूसो के बाद उन्नीसवीं सदी में कुछ दार्शनिकों (utilitarions) ने अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका कहना है कि बहुसंख्यक प्रजा में महत्वपूर्ण जीवन का संचार करना* राज्य का अनिवार्य कर्तव्य है। इसके

* The object of the state is to do the greatest good of the greatest number.

बाद व्यक्तिवाद और समाजवाद वालों ने अपना विचार प्रकट किया। किसी ने व्यक्ति को समाज का स्तम्भ कहा और किसी ने समाज को ही सब कुछ ठहराया। इन दोनों सिद्धान्तों ने राज्य का जो कुछ कर्तव्य निश्चित किया उसका वर्णन पीछे किया गया है।

राज्य के कर्तव्यों का सूक्ष्म इतिहास

प्राचीन काल में राज्य की व्यवस्था आजकल की सी न थी। आरम्भ में राज्यों का विस्तार छोटा था। जनसंख्या भी कम थी। उस समय राज्य और व्यक्ति के अधिकार की कोई चर्चा न थी। राज्य सब कुछ करता और प्रजा को चुपचाप उसे मानना पड़ता था। व्यक्ति को किसी प्रकार का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त न था। राज्य की जो इच्छा होती उसे प्रजा को स्वीकार करना पड़ता था। सम्पूर्ण अधिकार राजा को प्राप्त होते थे। एकतन्त्र राज्य प्राचीन काल की एक विशेषता थी। उसके शब्द ही कानून होते थे। राज्य को इतना ध्यान ज़रूर रखना पड़ता था कि प्रजा सुखी रहे। ऐसी दशा में राज्य के कर्तव्य कम न थे। प्रजा के सुख दुख का उसे ध्यान रहता था। नियम बनाते समय राजा लोग इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पालन करने में प्रजा को कोई असुविधा न होगी।

मध्य काल में सामन्त प्रथा (Feudalism) का प्रचार हुआ। राज्य की व्यवस्था में एक विशेष परिवर्त्तन किया गया। नीचे से ऊपर तक राजनैतिक शक्तियों का एक ऐसा क्रम बाँधा गया कि राज्य की शक्ति उन्हीं हिस्सों में विभाजित हो गई। राजा की शक्ति कम कर दी गई और छोटे छोटे लार्डों की ताक़त बढ़ गई। इस प्रथा के उन्नति के शिखर पर पहुँचने पर राजा हर तरह से शक्तिहीन कर दिया गया। राज्य के कर्तव्यों की सीमा इतनी संकुचित हो गई कि प्रजा को स्वयं अपनी चिन्ता करनी पड़ी। इससे प्रजा को लाभ हुआ। व्यक्ति अपनी भूमि का स्वामी बन बैठा। वह समाज से अलग न था। उसके अधिकार एक दूसरे से मिले हुये थे। लोगों को राजकीय नियमों की परवाह कम हो गई; आज्ञा पालन का भाव उनके हृदय से जाता रहा। उनका ध्यान अपने अधिकारों की ओर झुकने लगा। राज्य के कर्तव्य एक साधारण मालिक की तरह हो गये। वह कभी कभी हुक्म चलाता और प्रजा उसे मान लिया करती थी। इसके अतिरिक्त उसका कोई और कर्तव्य न था। अधिकार के बिना कर्तव्य नहीं रह सकते। जब राज्य की शक्ति जाती रही तो उसका

कर्तव्य भी कम हो गया। इसका परिणाम समाज हित की दृष्टि से बहुत ही बुरा हुआ। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ गेटिल (Gettle) लिखता है, "मध्य-काल में न कोई राजनीतिक संगठन था, न धार्मिक, न सामाजिक और न आर्थिक।"* यद्यपि इस कथन में बहुत कुछ अत्युक्ति है तब भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकाल लड़ाइयों का युग था, शान्ति का अभाव था, क़ानूनों के पालन में शिथिलता आ गई थी।

आधुनिक युग के आरम्भ होते ही राज्य के कर्तव्य बढ़ने लगे। उसका अर्थ केवल राजा से नहीं रह गया। प्रजा को बहुत से अधिकार प्राप्त हुये। व्यक्तिगत अधिकारों की नींव पड़ी। कर्तव्यों के दो हिस्से किये गये। कुछ तो प्रजा के लिये और कुछ राज्य के लिये निर्धारित किये गये। यद्यपि इस प्रकार के विभाजन की कोई सूची नहीं है तब भी प्रजा इन अधिकारों के भेदों को भली भाँति समझती है। यदि राज्य केवल टैक्स वसूल करता है और एक बड़ी फ़ौज की सहायता से देश में शान्ति रखता है तो प्रजा इससे सन्तुष्ट नहीं रह सकती। किसी ज़माने में उसके लिये राज्य के ये कर्तव्य काफ़ी रहे होंगे, परन्तु आज नहीं हैं। अब प्रजा को शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि की भी आवश्यकता है। राज्य को विवश होकर इन्हें करना पड़ता है। इस प्रकार के कर्तव्य इतने अधिक हैं कि इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में नहीं दिया जा सकता। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि "प्रजा की जो जो आवश्यकतायें हैं, उन्हें पूरा करना राज्य का कर्तव्य है।" परन्तु यह उत्तर स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। यह कहना कठिन है कि प्रजा की आवश्यकतायें क्या हैं। सबकी आवश्यकतायें भिन्न भिन्न होती हैं। फिर राज्य हरएक का ठेका कैसे ले सकता है। एक दूसरी बात और है। यदि व्यक्ति की आवश्यकतायें राज्य की ओर से पूरी कर दी जायँ तो उसके प्रयत्न का महत्व ही क्या रह जायगा? तात्पर्य यह है कि आरम्भ से अब तक राज्य के कर्तव्यों का क्षेत्र बढ़ता गया है। इसका कारण यह है कि प्रजा की माँग बढ़ती गई है। मनुष्य की बुद्धि के साथ उसकी आवश्यकतायें दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही हैं। वर्त्तमान सभ्यता का यही सबसे बड़ा श्रेय कहा जाता है। भविष्य में ये

---

* The Middle ages was unpolitical, unreligious, unsocial and uneconomic.

आवश्यकतायें और भी बढ़ती जायेंगी। इसी के साथ राज्य के कर्तव्य भी अधिक होते जायेंगे।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य का कर्तव्य कहलाता है। परन्तु वह कुछ ऐसे कामों को भी करता है, जिनकी आवश्यकता व्यक्ति को नहीं है। इसे या तो हम राज्य का पागलपन कह सकते हैं या वृद्धि। प्रत्येक राज्य की इच्छा होती है कि उसकी सीमा बढ़ जाय। प्रजा को इसकी आवश्यकता भले ही न हो परन्तु राज्य की यह इच्छा प्रतिक्षण रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि वह दूसरे राज्य पर चढ़ाई करता है। सैकड़ों आदमियों की हत्या होती है और लाखों रुपये ख़र्च होते हैं। प्रजा यह कभी नहीं चाहती कि उसकी सम्पत्ति लड़ाइयों में ख़र्च कर दी जाय। लड़ाई उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उस वक़्त इसकी आवश्यकता ज़रूर हो जाती है जब उसके राज्य पर बाहर से कोई हमला होता है। प्रजा लड़ाई से डरती है, लेकिन राज्य को इस भय की कोई चिन्ता नहीं होती। वह किसी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करना अपनी इज़्ज़त समझता है। अक्सर देखा जाता है कि प्रजा की आवश्यकता धन है तो राज्य भी यही चाहता है। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध सरकार की ओर से टैक्स लगाये जाते हैं। उस रुपये को राज्य अपने पागलपन में भले ही खर्च कर दे, परन्तु उसे इकट्ठा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार राज्य के कर्तव्यों और प्रजा की आवश्यकताओं में अकसर भेद भाव रहा करते हैं। यदि यह प्रतिद्वन्द्विता मिट जाय और "यथा राजा तथा प्रजा" वाला सिद्धान्त ठीक हो जाय तो सभी राज्य आदर्श बन जायँ। उस समय दुनियाँ की एक बहुत बड़ी हलचल दूर हो जायेगी।

राज्य के कर्तव्य और व्यक्ति की आवश्यकतायें

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के इने गिने कर्तव्य हैं। इसके विपरीत समाजवाद कर्तव्यों का एक बहुत बड़ा गट्ठर उसके सिर पर रखना चाहता है। प्रश्न यह है कि होना क्या चाहिये। मध्यम मार्ग सबसे श्रेष्ठ माना गया है। सारा बोझ न व्यक्ति पर रक्खा जाय और न राज्य पर। दोनों की सुविधानुसार कुछ कर्तव्य राज्य को सौंप दिये जायँ और कुछ व्यक्ति को। आवश्यकता पड़ने पर वे बदले भी जा सकते हैं। आधुनिक युग स्वतन्त्रता और समानता का है। व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतन्त्रता चाहता है।

एक मध्यम मार्ग

प्रत्येक क्षेत्र में आज यह युद्ध चल रहा है। स्त्री-पुरुष, किसान-ज़मींदार, विद्यार्थी और अध्यापक सभी इस प्रश्न पर खींचा तानी कर रहे हैं कि उनके क्या क्या अधिकार हैं। यदि राज्य और व्यक्ति में यह संघर्ष चल रहा है तो कोई नई बात नहीं है। इस झगड़े का निपटारा तभी हो जब कोई मध्यम मार्ग निकाला जाय। राज्य और प्रजा के कर्तव्य उसी समय निश्चित हो सकते हैं जब दोनों ठंढे दिल से इस पर विचार करके कोई मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करने पर तैयार होंगे।

वह मध्यम मार्ग कौन सा है? एक बात हम ध्यान में रखकर इस प्रश्न को हल कर सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि राज्य के कर्तव्य समय समय पर बदलते रहते हैं। परन्तु उनका सिद्धान्त नहीं बदलता। यही कारण है कि उसके कुछ कर्तव्य सदैव एक से बने रहते हैं। उनके रूप में थोड़ा बहुत अन्तर भले ही पड़ जाय परन्तु वे घट बढ़ नहीं सकते। जैसे शारीरिक रक्षा, जायदाद की रक्षा, बाह्य हमलों से देश की रक्षा - ये कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें राज्य को सदैव करना पड़ता है। आज से दो हज़ार वर्ष पहिले और आज बीसवीं सदी में भी इनका पालन करना पड़ता है। इतना ज़रूर है कि पहिले पैदल सिपाही या घुड़सवार रक्षा किया करते थे अब हवाई जहाज़ और तोप-बन्दूकों से रक्षा की जाती है।

जान माल की रक्षा करना

राज्य का प्रथम कर्तव्य जान माल की रक्षा करना है।* जिस देश में शरीर और धन सुरक्षित नहीं है वह राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। वह इस बात की व्यवस्था करे कि राज्य के अन्दर कोई एक दूसरे को शारीरिक हानि न पहुँचाये। सरकार को छोड़ कर दंड देने का अधिकार किसी और को नहीं मिलना चाहिये। यदि कोई आत्महत्या करता है तो सरकार उसे दंड देवे। बाहरी हमलों से वह देश की रक्षा करे। इसके लिये वह फ़ौज रक्खे और उसका ख़र्च प्रजा से टैक्स के रूप में ले। प्रजा को प्रसन्नता पूर्वक इन टैक्सों को देना चाहिये। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार आवश्यकता से अधिक फ़ौज रक्खे और हथियारों के बनाने में एक बहुत बड़ी रकम ख़र्च करे। आज कल प्रजा का धन इस व्यर्थ की तैयारी में बेहद नष्ट हो रहा है। यदि यही पैसा शिक्षा और कारोबार में लगता तो संसार से ग़रीबी और बेकारी दोनों चली जातीं। शरीर और शान्ति की रक्षा के लिये उतनी ही सेना और पुलीस

* Safety first.

रखनी चाहिये जितनी आवश्यक हो। कुछ क़ानूनों से व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा का उपाय होना चाहिये। सरकार ऐसे नियम बनाये जिससे कोई किसी की सम्पत्ति पर हाथ न लगाये। चोरी, डाँका आदि अपराधों के लिये कड़े दंड की व्यवस्था होनी चाहिये। इन दोनों कर्तव्यों को पूरा किये बिना राज्य की स्थिति असम्भव है।

न्याय की रक्षा

राज्य का तीसरा आवश्यक कर्तव्य न्याय की रक्षा करना है। जिस राज्य में धनी, ग़रीब, नीच, ऊँच, काले और सफ़ेद का भेद भाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नहीं हो सकती। राज्य का कर्तव्य है कि वह सबको एक समान देखे। टैक्स का सिद्धान्त एक होना चाहिये। कचहरियों में इंसाफ़ करने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करना चाहिये। एक राजनीतिज्ञ का कहना है कि न्याय राज्य की जड़ है।* जो राजा न्याय नहीं करता वह नरक का अनुगामी होता है। नीति और राज्य ये दोनों एक साथ उत्पन्न और नष्ट होते हैं। अफ़लातून का कहना है 'न्याय राज्य का अन्तिम उद्देश्य है।' न्याय के बल पर राज्य की मर्यादा और दृढ़ता दोनों निर्भर हैं। निर्बल राज्य न्याय की रक्षा नहीं कर सकता। जिस राज्य में न्याययुक्त शासन होता है, वह सूचित करता है कि उसकी सरकार दृढ़ और कार्य कुशल है। राज्य में सेना और पुलीस का प्रबन्ध न्याय की रक्षा के लिये किया जाता है। कचहरियों को सभी लोग न्यायालय कहते हैं। राज्य की ओर से अपराधियों को इसी लिये दंड दिया जाता है कि उनके कार्य न्याय के विरुद्ध होते हैं। राज्य को स्वयं इसकी रक्षा करनी पड़ती है, साथ ही प्रजा में व्यक्तिगत न्याय का विधान बनाना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति किसी के साथ अन्याय करता है तो वह राज्य की ओर से दंड का भागी होता है। जितने भी क़ानून बनते हैं सबका उद्देश्य अन्याय को रोक कर न्याय की रक्षा करना है।

न्याय और समानता दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर और धन में विषमता रहते हुए भी समानता हो सकती है। प्रजातन्त्रवाद का तात्पर्य है कि राज्य में समानता रहे। अर्थात् प्रत्येक कार्य में व्यक्ति को समान अवसर दिया जाय। जहाँ पर इस प्रकार की समानता नहीं पाई जाती, और जाति, रूप, रंग तथा धर्म में भेद भाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नहीं हो

---

* Justice is the heart of the state.

सकती। यदि भारतवर्ष में सरकारी कामों में ब्राह्मण और क्षत्रियों को विशेष सुविधायें दी जायँ तो यह एक प्रकार का अन्याय होगा। राज्य का कर्तव्य है कि वह सबको समान अवसर दे। तभी न्याय की रक्षा सम्भव है। क़ानून सबके लिये एक होने चाहिये। धनी और ग़रीब का अन्तर न्यायालयों में नहीं होना चाहिये।

स्वास्थ्य और सफ़ाई

राज्य का कर्तव्य किसी एक विभाग को सुदृढ़ करना नहीं है। प्रजा को जिन जिन वस्तुओं से लाभ पहुँचे उन सबकी व्यवस्था करना उसका धर्म है। किसी भी प्रकार से मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिये। केवल भोजन, वस्त्र और रक्षा राज्य के कर्तव्य नहीं हैं। इन्हें तो व्यक्ति भी किसी हद तक कर सकता है। राज्य व्यक्ति से ऊँचा है। व्यक्ति जितना कर सकता है, उससे अधिक करना राज्य का कर्तव्य है। अन्तःकरण की उन्नति के लिये वाह्य रहन सहन की आवश्यकता पड़ती है। गन्दी जगहों में निवास और सड़ी गली चीज़ों के प्रयोग से कोई भी बीमार पड़ सकता है। एक की बीमारी गाँव भर को बीमार कर सकती है। इसी भयंकरता को रोकने के लिये राज्य स्वास्थ्य और सफ़ाई विभाग रखता है। इस विभाग का कर्तव्य है कि वह राज्य में सफ़ाई का प्रबन्ध करे। जिस राज्य में बार बार बीमारी आये और लोग रोगी तथा कमज़ोर रहें, वह प्रजा की रक्षा और उन्नति का विधान नहीं बना सकता। बड़े बड़े शहरों में सफ़ाई का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। घनी बस्तियों में सफ़ाई के नियम न हों तो प्लेग और महामारी आदि बीमारियाँ मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ सकतीं। इसी लिये सरकार स्थानीय संस्थाओं द्वारा सफ़ाई का प्रबन्ध कराती है और अवसर पड़ने पर औषधि भी वितरण करती है। हमारे देश में गाँवों की सफ़ाई तथा लोगों के स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया जाता है। इसी का परिणाम है कि ग्रामीण जनता घरेलू दवाइयों और अपनी बुद्धि का ही भरोसा करती है।

अँग्रेज़ी में एक कहावत है कि सफ़ाई स्वर्ग का मार्ग है।* हमारे यहाँ भी सफ़ाई और पवित्रता को जीवन में सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। जब तक मशीनों की ईजाद नहीं हुई थी तब तक बड़े बड़े शहर कम थे। परन्तु आज कल शहरों की आबादी और संख्या बढ़ रही है। जीविका की खोज में गाँवों के लोग शहरों में आ रहे हैं। इसलिये शहरों की बनावट,

---

* Cleanliness is road to godliness

हवा, रोशनी आदि के प्रबन्ध का ध्यान रखना सरकार का विशेष कर्तव्य हो गया है। आवागमन की सुविधा के कारण यात्रा करनेवालों की तादाद बढ़ती जा रही है। इससे छूत छात की बीमारियों के फैलने की काफ़ी आशंका रहती है। इसीलिये रेलों में छूत के मरीज़ों को चलने की इजाज़त नहीं है। इससे सैकड़ों आदमी बीमार पड़ेंगे और उनके द्वारा और जगहों में वे बीमारियाँ फैलेंगी। शहरों में पार्क, स्नानागार तथा शौचालय आदि इसीलिये बनाये जाते हैं कि लोग बीमारियों के शिकार न बन सकें। बीमारों के लिये औषधालय तथा अस्पताल बनवाये जाते हैं। बाज़ारों में सरकारी अफ़सर इस बात की देख भाल रखते हैं कि कोई सड़ी गली चीज़ें न बेंचे। शराब, अफ़ीम, गाँजा आदि नशीली चीज़ों पर सरकार पूरा अधिकार रखती है। सबको इनके बेंचने की इजाज़त नहीं दी जाती। कुछ देशों में सरकार की ओर से अफ़सर नियुक्त किये जाते हैं जो स्कूलों में विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की परीक्षा करते हैं।

आवागमन के साधन देना

जब तक आवागमन की सुविधा न थी तब तक एक देश दूसरे से अलग था। उनमें न कोई व्यापारिक सम्बन्ध था और न सांस्कृतिक। रेल, तार, डाक, जहाज़ इत्यादि के बनने पर लोग एक देश से दूसरे देशों में जाने लगे। यदि इस बीसवीं शताब्दी में कोई राज्य इन सुविधाओं से अपने आपको वंचित रखता है तो वह पिछड़ा हुआ समझा जाता है। भारतवर्ष आज दुनियाँ की दौड़ में पीछे गिना जाता है। इसके बहुत से कारण हैं। उनमें से एक यह है कि हम नये आविष्कारों से बाद में फ़ायदा उठाने लगे हैं। इनकी उन्नति से शासन कार्य में सहायता मिलती है। राज्य के कर्मचारी आसानी से एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा सकते हैं। राज्य में बीमारी फैली हो अथवा अकाल पड़ा हो तो सरकार आसानी से वहाँ दवा और अन्न भेज सकती है। किसी भाग की प्रजा किसी कारणवश बग़ावत करे तो वह जल्दी से जल्दी वहाँ सेना पहुँचा सकती है। शासन के अतिरिक्त आवागमन की सुविधाओं से प्रजा की आर्थिक दशा में वृद्धि होती है। अपने देश में तो तिजारत बढ़ती ही है, विदेशों में भी व्यापार करने का अवसर मिलता है। इन्हीं सुविधाओं से लाभ उठा कर यूरप के लोगों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में दुनियाँ की बाजारों पर अपना अधिकार कर लिया। व्यावसायिक उन्नति के साथ उन्हें राजनैतिक अधिकार भी मिल गये। परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े

साम्राज्यों की स्थापना हुई। राज्ज का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक लोगों को स्वदेश में घूमने और विदेश जाने की तरह तरह की सुविधायें दे।

आवागमन के साधन देशों के सम्बन्ध और उनके सम्पर्क को बढ़ाते हैं। इससे राजनैतिक एकता की वृद्धि होती है। भ्रमण एक ऐसी चीज़ है जो दिल-बहलाव के अतिरिक्त मस्तिष्क शक्ति को बढ़ाता है। ज्ञान की वृद्धि होती है। फ्रांस में एक समय यह नियम था कि शिक्षित लोगों को परीक्षाओं का प्रमाण पत्र तब तक नहीं दिया जाता जब तक वे चार सौ मील से ऊपर का सफ़र नहीं कर लेते थे। इंगलैंड में भी ऐसा नियम था। प्रत्येक अँग्रेज विद्यार्थी को कम से कम फ्रांस का भ्रमण जरूर करना पड़ता था। इससे मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है, सैकड़ों व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिलता है तथा नये नये जीवन के तजुरवे होते हैं। सरकार अनुभवशील व्यक्तियों को पैदा करना चाहती है तो नागरिक और अनागरिक दोनों को वह आवागमन की सुविधा दे। एक स्थान पर बैठा हुआ मनुष्य कूपमंडूक हो जाता है। जिस राज्य में इसके साधन अधिक हैं वहाँ की प्रजा सुखी और अनुभवशील है। हमारे देश में आवागमन के साधनों की कमी है। गाँवों में जाने के लिये ठीक रास्ते तक कहीं कहीं नहीं मिलते। वहाँ के किसान और व्यापारी अपनी वस्तुओं को आसानी से रेल और बैलगाड़ी द्वारा बड़े बड़े शहरों को नहीं भेज सकते। सरकार को गाँवों में कच्ची सड़कों का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिये। गाँवों की ग़रीबी और अशिक्षा का यह भी एक कारण है कि वे एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं। वहाँ न तो कोई बाहर से आता है और न वे ही कहीं जाते हैं। आशा है ग्रामोत्थान में इसकी सुविधा उन्हें दी जायेगी। राष्ट्रीयता की वृद्धि के लिये अपने देश की सभी बातों से परिचित रहने की आवश्यकता है। सरकार का कर्तव्य है कि वह एक भाग के निवासियों को दूसरे भाग में जाने की सुविधा दे। यदि सभी राज्य आपस में सहमत होकर एक दूसरे से अपना सम्बन्ध आवागमन के लिये ठीक कर लें तो संसार में अधिक शान्ति रह सकती है। उनकी कमी भी काफ़ी अंश में दूर हो सकती है। अमेरिका में किसी किसी वर्ष गेहूँ इतना अधिक होता है कि उसे जलाने की नौबत आ जाती है। दूसरी ओर हमारे देश में लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो नंगे और भूखे रहते हैं। विलियम डिगवी साहब लिखते हैं, "बीसवीं सदी के शुरू में करीब दस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिलता। इस अधःपतन की दूसरी

मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश में कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती।" एक ओर तो लोग भूखों मरते हैं और दूसरी ओर गेहूँ जलाया जाता है इसे मूर्खता के सिवाय और क्या कह सकते हैं। इसलिये आवागमन की सुविधा के साथ राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह अन्य देशों से मित्रता का व्यवहार रक्खे।

दीन दुखियों का प्रबन्ध करना

प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो कार्य करने से महरूम होते हैं। वे या तो शरीर के किसी अंग से रहित होते हैं, अथवा माता पिता के कुप्रबन्ध के कारण धनहीन हो जाते हैं। उनके पास कोई ऐसी जायदाद नहीं होती जिससे वे अपनी जीविका उपार्जन कर सकें। कुछ के पास रहने के लिये घर तक नहीं होता। हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जिनके पास न घर है और न कोई जायदाद। इसीलिये बहुत से भिखारी इधर-उधर घूमते हुये दिखलाई पड़ते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह इनकी देख रेख करे। बहुत से राज्यों ने इसका इतना अच्छा प्रबन्ध किया है कि वहाँ किसी को भीख माँगने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अमेरिका और रूस में कोई भीख नहीं माँग सकता। सरकार भीख माँगनेवालों को दंड देती है। लेकिन साथ ही वहाँ सबके लिये काम की व्यवस्था है। जो अपाहिज हैं उनके लिये भी कोई न कोई प्रबन्ध किया गया है। यदि राज्य ऐसा नहीं करता है तो उसमें चोरी और व्यभिचार की वृद्धि होगी। जब भूखे और दीन दुखियों की संख्या बढ़ जायगी तो राज्य में हाहाकार मच जायगा। हमारे देश में दीन दुखियों की रक्षा तथा उनकी जीविका का कोई प्रबन्ध नहीं है। थोड़े से ईसाई मिशनरी सेवा कार्य में लगे हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना है। राज्य की ओर से इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। दैवी विपत्तियों में किसी का वश नहीं है। जो लोग स्वस्थ और सम्पन्न हैं उन्हें लँगड़े लूलों से घृणा नहीं करनी चाहिये। उनकी कमाई में इन ग़रीबों का भी हिस्सा है। मज़दूर वर्ग सबसे अधिक परिश्रम करता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्था की कमी के कारण वह सबसे ग़रीब है। वे विचारे अपने पेट की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं। पूँजीपति उनकी ग़रीबी से लाभ उठाते हैं। उनसे अधिक से अधिक काम लेते हैं और कम से कम मज़दूरी देते हैं। सरकार को इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस दिशा में भारतीय सरकार ने कुछ किया है, लेकिन वह काफ़ी नहीं है।

सामाजिक सुधार

समाज कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह क्रमशः उन्नति अवनति करता रहता है। ऐसा समय संसार के इतिहास में न आया है और न आयेगा जब सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयाँ दूर हो गई हों, या दूर हो जायेंगी। सामाजिक सुधार सदैव चलते रहेंगे। कारण यह है कि जो तीव्र बुद्धि वाले होते हैं वे नये ज़माने के अनुकूल अपने आप को जल्दी ढाल लेते हैं। वे पुरानी रूढ़ियों के दास नहीं होते। इसके विपरीत अधिकतर मनुष्य रूढ़ीवाद के ग़ुलाम होते हैं। उन्हें अन्धविश्वास से निकालने के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है। यदि उन्हें उसी दशा में छोड़ दिया जाय तब भी काम नहीं चल सकता। थोड़े से लोगों की उन्नति से पूरे राज्य की उन्नति नहीं हो सकती। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि सरकार का सिद्धान्त यह होना चाहिये कि अधिक से अधिक लोगों की भलाई और उन्नति हो।* परन्तु यह सिद्धान्त सर्व सम्मति से मान्य नहीं है। सरकार सबकी उन्नति की ठीकेदार है। सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करना उसका कर्तव्य है। विभिन्न समाज में भिन्न भिन्न प्रकार की समस्यायें होती हैं। हमारे देश को ले लीजिये। छुआछूत, ग़रीबी, मज़दूरों की समस्या, अन्धविश्वास, अज्ञानता, बाल विवाह, भिक्षा वृत्ति, आदि बहुत सी कुरीतियाँ समाज में प्रचलित हैं। वैसे तो सुधार करने वाली संस्थायें इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं, लेकिन सरकार को भी इन्हें दूर करना चाहिये। क़ानून के भय से बहुत सी कुरीतियाँ समाज से निकाली जा सकती हैं। सारदा बिल के पास हो जाने से बाल विवाह की प्रथा लगभग ख़तम हो रही है। यदि अनिवार्य-शिक्षा सम्बन्धी कोई क़ानून बना दिया जाय तो अशिक्षा भी काफ़ी अंश में दूर हो सकती है। कई देशों में शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क है।

सरकार एक शक्ति है। छोटे छोटे संगठन उसी से शक्ति प्राप्त करते हैं। समाज सुधार एक कठिन कार्य है। कभी कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब सरकार की सहायता के बिना सुधार का काम आगे को नहीं चल सकता। उस हालत में सरकार की शरण लेनी पड़ती है। उसका कर्तव्य है कि वह सुधार-संस्थाओं को आर्थिक सहायता दे। यदि उन्हें किसी और प्रकार की सहायता की आवश्यकता है तो उसे भी वह प्रदान करे। समाजवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य में व्यक्तिगत उद्योग होना ही

* Greatest good of the greatest number

नहीं चाहिये। जनता की भलाई का ध्यान रखते हुये सरकार सभी प्रकार के उद्योग धन्धों को करे। इससे आर्थिक विषमता का नाश और प्रजा में सद्भाव तथा सहयोग की वृद्धि होगी। इसी से सरकार के शान्ति आदि उद्देश्य पूरे होंगे।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

यह विषय विवादग्रस्त है कि राज्य व्यक्ति को किस हद तक स्वतन्त्र रक्खे। किन कार्यों को वह स्वयं करे और किन्हें प्रजा के ऊपर छोड़ दे। इसका निर्णय करना कठिन है। कारण यह है कि जैसी जनता होगी उसी हद तक राज्य उन पर ज़िम्मेवारी देगा। यदि प्रजा के विचार उन्नत हैं, वह निःस्वार्थ भाव से सेवा का कार्य कर सकती है तो सरकार उसे अधिक से अधिक ज़िम्मेवारी देगी। व्यक्ति को काफ़ी स्वतन्त्रता दी जायगी कि वह अपना सुधार तथा अपनी भलाई स्वयं करे। यदि प्रजा कूप मंडूक है, वह अंध विश्वास के बन्धन से जकड़ी हुई है, तो सरकार कम से कम स्वतन्त्रता उसे प्रदान करेगी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य का उद्देश्य है और इसी की पूर्ति के लिये उसके सारे प्रयत्न होने चाहिये। कहा गया है कि "हम स्वतन्त्र होने के लिये ही बन्धन में पड़े हुये हैं।"* वह सरकार अपने उद्देश्य को भूल जाती है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। नाज़ीवाद और फ़ासिस्टवाद इसी लिये दोषी ठहराये जाते हैं कि उनमें व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता आँख मूँद कर कुचली जाती है। यह कोई नहीं कहता कि सम्पूर्ण अधिकार व्यक्तियों को दे दिये जायँ और सरकार शक्तिहीन बन जाय। सरकार का कर्तव्य इन दोनों के बीच में है। व्यक्ति को क्रमशः अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलती जाय और सरकार उसकी रक्षा का प्रबन्ध करे। जनता के राज्य का यही तात्पर्य है कि वह स्वयं अपना शासन करे। प्रत्येक व्यक्ति को, जो बालक नहीं है, वोट देने का अधिकार मिलना चाहिये। उसे इस बात की भी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये कि वह जिसे चाहे अपना वोट दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार के कर्तव्य अपरिमित हैं। जहाँ तक वह उनका पालन करेगी उसी हद तक वह जनता के हृदय पर शासन कर सकेगी। तलवार के बल से भी राज्य किया जाता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। किस समय वहाँ क्रान्ति की ज्वाला भभक उठेगी, यह कोई नहीं कह सकता। जिस राज्य में प्रजा की अनुमति का ध्यान रक्खा

---

* We are in bondage in order to be free.

जाता है, वहीं स्थायी शान्ति रहती है। क़ानून का पालन वहीं होता है जहाँ प्रजा की राय मानी जाती है। इसलिये सरकार का कर्तव्य प्रजा के अधिकारों की रक्षा करना और उसकी राय का ध्यान रखना है। यह राय सभी क्षेत्रों में दी जाती है। सरकार का कर्तव्य है कि वह हर क्षेत्र में अधिक से अधिक बहुमत से कार्य करे। प्रजा तभी सन्तुष्ट रह सकती है जब राज्य में उसकी सुनाई हो। कोई भी सरकार यह नहीं कह सकती कि लोकमत देशहित के विरुद्ध है। वह ऐसी शिक्षा का प्रचार करे जिससे देशवासियों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति (Patriotism) की भावना पैदा हो। अपने कर्तव्यों का पालन करते समय सरकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह लोकप्रिय हो। प्रजा को सरकार पर और सरकार को अपनी प्रजा पर इस बात का गर्व हो कि दोनों एक दूसरे के हितचिन्तक हैं।

अध्याय ६

सरकार और इसके अंग

(Structure of Government)

राज्य और सरकार—सरकार के गुण—सरकार के अंग—सरकारी अंगों के विभाजन के सिद्धान्त—विभाजन सिद्धान्त पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—व्यवस्थापिका सभा—व्यवस्थापिका सभा में दो सभायें—एक सभा—दो सभायें—बड़ी सभा की आवश्यकता—क़ानून कैसे बनते हैं—इनीशियेटिव और रिफ़रेन्डम—स्विटज़रलैंड—कार्यकारिणी सभा—कार्यकारिणी के विभिन्नरूप—पैत्रिक कार्यकारिणी—निर्वाचित कार्यकारिणी—कार्यकारिणी सभा का संगठन—कार्यकारिणी के कर्तव्य—कार्यकारिणी के दो स्वरूप—कार्यकारिणी विभाग—न्याय समिति—न्यायाधीश की भर्ती—न्याय समिति का संगठन—न्यायाधीशों का समय—आदर्श न्याय विभाग—न्यायाधीश और क़ानून।

राज्य और सरकार

कुछ लेखकों का मत है कि राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं है। दोनों पर्याय वाची शब्द हैं। राज्य कहें अथवा सरकार दोनों का अर्थ एक ही है। इस प्रकार के लेखकों के पास प्रमाण भी काफ़ी हैं। जैसे कोई अँग्रेज़ी सरकार कहता है तो उसका अर्थ अँग्रेज़ी राज्य भी है। इसी प्रकार जर्मन सरकार और जर्मन राज्य एक ही अर्थ रखते हैं। जितने राज्य हैं उतनी ही सरकार हैं। जहाँ राज्य होगा वहाँ सरकार का होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि सरकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो राज्य से अलग अपनी सत्ता रखती हो। इतना एकीकरण होते हुए भी इन दोनों में भेद है। जितना अन्तर शरीर और प्राण में है उतना ही राज्य और सरकार में है। प्राण के बिना शरीर मिट्टी है। इसी प्रकार सरकार के बिना राज्य आदमियों का एक झुण्ड मात्र है। सरकार राज्य की एक मशीन है। राज्य के अवयव El‹ments) सरकार से भिन्न है। सरकार राज्य का वह साधन है जिसके द्वारा वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। राज्य एक स्थूल पदार्थ है। इसका सम्बन्ध किसी विशेष स्थान से रहता है।

सरकार एक परिवर्तनशील भावना है जो अकसर बदलती रहती है। राज्य का नक़शा हम खींच सकते हैं, उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा विस्तार का पता लगा सकते हैं, परन्तु सरकार की कोई शकल नहीं बना सकते। यदि राज्य को हम एक बहुत बड़ा कारख़ाना मान लें तो सरकार उसका सबसे बड़ा एजेण्ट है। राज्य के और भी बहुत से एजेण्ट्स हैं, लेकिन सरकार इन सबमें बड़ी है। 'राज्य' शब्द से हम यह समझते हैं कि उसकी कोई सीमा होगी और कुछ व्यक्ति उसमें निवास करते होंगे, परन्तु 'सरकार' शब्द से हम यह नहीं जान सकते कि उसका क्या स्वरूप और क्या उद्देश्य है। उसके स्वरूप इतने भिन्न हैं कि केवल 'सरकार' शब्द उनके स्पष्टीकरण के लिये काफ़ी नहीं है। कोई राज्य स्वदेशी और विदेशी नहीं हुआ करता। लेकिन सरकार स्वदेशी और विदेशी होती है।

सरकार राज्य के अन्दर एक प्रकार का संगठन है। आर्थिक, धार्मिक, व्यावसायिक, साहित्यिक तथा और भी अनेक संगठन राज्य में होते हैं। सरकार इन सबसे कई मानी में भिन्न है। एक तो वह इन सबका स्वामी है। उसी की मर्ज़ी पर ये संगठन जीवित रहते हैं। किसी संगठन वा समुदाय को वह छिन्न भिन्न कर सकती है। सरकार सबसे बड़ा राजनैतिक संगठन है। वह राज्य को जिस ढाँचे में चाहे ढाल सकती है। चाहे तो राज्य में हद दर्जे की ग़रीबी पैदा कर दे और चाहे तो सोने और चाँदी से अपने देश को मालामाल कर दे। किसी भी समय वह राज्य को टुकड़े टुकड़े कर सकती है। दूसरे राज्यों पर भी अपनी धाक जमा सकती है। सरकार की शक्ति अनन्त है। वह चन्द सरकारी अफ़सरों का एक गिरोह नहीं है। वह एक ऐसी ताक़त है जो मनुष्य की बनाई हुई सभी शक्तियों में महान् है। यद्यपि मनुष्य ने ही इसे जन्म दिया है, और उसी के उद्योग से इसका विकास हुआ है, फिर भी वह व्यक्तियों पर शासन करती है। बड़ा से बड़ा सरकारी अफ़सर सरकार से डरता रहता है। वह किसी भी मनुष्य को फाँसी पर लटका सकती है। दुनियाँ में ऐसी सरकारें मौजूद हैं जिन्होंने अपने मुल्क में हद दर्जे की तबाही पैदा कर रक्खी है। इसके विपरीत चन्द सरकारों ने अपने राज्य से ग़रीबी और बेकारी को उठाकर फेंक दिया है। इन उद्धरणों से यह ज़ाहिर है कि सरकार राज्य के अन्दर वह राजनैतिक शक्ति है जो राज्य को जीवित रखती है।

जब हम अमुक राज्य को अच्छा और दूसरे को बुरा कहते हैं तो

सरकार के गुण हमारा तात्पर्य सरकार से होता है। राज्य अच्छा और बुरा नहीं हो सकता। सरकार अच्छी और बुरी होती है। अच्छी सरकार से अच्छा राज्य बनता है। ऊपर कहा गया है कि सरकार की शक्ति अनन्त है और वह जो चाहे कर सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह एक अनियमित शक्ति है। नियम का उलंघन वह कदापि नहीं कर सकती। उसका सबसे बड़ा गुण यह माना गया है कि वह स्वयं नियमों का पालन करे और दूसरों से कराये। जितने भी क़ानून बनते हैं सरकार उन सबकी रक्षा करती है और जनता को उनके पालन का मार्ग प्रदर्शित करती है। व्यक्ति के अन्दर जितने भी अच्छे गुण हो सकते हैं वे सब सरकार में पाये जाते हैं। व्यक्तियों के गुणों और अच्छी भावनाओं के संगठन से उसकी उत्पत्ति होती है। सरकार न्याय पर क़ायम है। यह मजाल नहीं कि बड़ा से बड़ा सरकारी अफ़सर राज्य का एक पैसा खा जाय। सरकार उसे वही दंड देगी जो एक मामूली चोर को। दंड देने में वह सदैव निष्पक्ष रहती है। समाज की अच्छी प्रवृत्तियों को वह जागृत करती है और बुरी भावनाओं को दबाकर जनता को आगे बढ़ाती है। राज्य में एकता और समानता का भाव फैलाकर विभिन्न कलाओं का जन्म देती है। जो काम व्यक्ति नहीं कर सकता और समाज जिसे करने का अवसर नहीं पाता, उसे सरकार क्षण मात्र में कर सकती है। बाल विवाह की प्रथा रोकने के लिये हमारे देश में वर्षों से कोशिश की जा रही थी। व्यक्ति और समाज दोनों जी जान से इसके पक्ष में थे, किन्तु रूढ़ी वादियों के आगे उनकी एक नहीं चलती थी। लेकिन "सारदा बिल" को पास कर सरकार ने इसे बन्द कर दिया। मैं मानता हूँ कि अब भी चोरी से कुछ लोग इस क़ानून का उलंघन करते हैं फिर भी हम सरकार की शक्तियों का इससे अन्दाज़ लगा सकते हैं।

बुरों से भलों की रक्षा करना, देश देशान्तरों से अनुभवशील व्यक्तियों को बुलाकर अपने देश की उन्नति करना, अच्छे से अच्छे क़ानूनों द्वारा अपने देश वासियों का कल्याण करना, न्याय को बरतना, अमीर ग़रीब के भेदभाव को मिटाते रहना, तथा इसी प्रकार के और भी कामों को सरकार करती रहती है। देश की रक्षा और शान्ति का पूरा भार सरकार पर रहता है। इन कर्तव्यों से यह ज़ाहिर है कि सरकार के गुणों की सूची हम तैयार नहीं कर सकते। उसके एक एक गुण हर क़ानून और करामात में दिखलाई पड़ते हैं। हर व्यक्ति और समाज जहाँ अपनी अपनी भलाई

और ख़ुदग़र्ज़ी की बातें करता है वहाँ सरकार इन सबकी भलाई का उपाय सोचती है। उसकी नज़रों में न कोई अमीर है और न ग़रीब। वह जाति पाँति तथा काले सफ़ेद का फ़रक़ नहीं करती। कुछ सरकार ऐसी हैं जो काले सफ़ेद का फ़रक़ करती हैं, लेकिन हम उसकी तारीफ़ नहीं कर सकते। अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में सफ़ेद और काले का भेद भाव किया जाता है लेकिन इसके लिये दुनियाँ उन्हें कोसती है। सरकारी वसूल राज्य की बेहतरी के लिये हैं। सरकार की रूप रेखा भले ही बदल जाय लेकिन उसके गुणों में क़तई फ़रक़ नहीं पड़ सकता, बशर्ते कि सरकार की नियत ठीक हो।

जहाँ सरकार में इतने गुण हैं, वहाँ थोड़े से अवगुण भी हैं। वह अपनी शक्ति का अन्दाज़ ज़रूरत से ज़्यादा रखती है; स्वभाव से रूढ़ीवादी होने के कारण सभी सामाजिक सुधारों में आरम्भ में अड़चनें डालती है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही सरकार अपने देश में अच्छे और विदेशों के लिये घातक क़ानून बनाती है। कुछ सरकार आज बीसवीं सदी में तलवार और बन्दूक़ों को अपनी शक्ति समझती है। इसकी वजह यह है कि दुनियाँ की हवा आज बदली हुई है। सरकार का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह जनता की राय पर क़ायम रहे, लेकिन आज वे जनता को ठुकरा कर जीवित रहना चाहती है। ऐसी सरकार स्थायी नहीं रह सकती। सरकार में एक और भी दोष है। अपनी कमी और काहिली के कारण कभी कभी वह धनी और स्वार्थी व्यक्तियों की जमात बन जाती है। सरकार परिवर्तन से डरती है। वह अपने ढाँचे को, चाहे वह कितना भी पुराना अथवा निकम्मा क्यों न हो, बदलना नहीं चाहती। अपनी हार का अन्दाज़ लगते ही पैशाचिक शक्तियों का उपयोग करने में वह ज़रा भी हिचक नहीं करती। विदेशी सरकार अपने मुल्क की बेहतरी के लिये दूसरे देशों को बड़ी ख़ुदग़र्ज़ी से लूटती और तबाह करती है।

सरकार के अंग

जिस प्रकार किसी कुटुम्ब की सारी ज़िम्मेवारी उस घर के मालिक पर होती है उसी तरह राज्य का सारा भार सरकार पर निर्भर है। थोड़ी भी असावधानी से राज्य का अन्त हो सकता है। कुटुम्ब को हम ग़ौर से देखें तो पता चलेगा कि व्यक्ति अलग अलग कामों में लगे हुये हैं। घर के मालिक ने उनके कामों को बाँट दिया है। सबके काम का महत्व एक सा है। एक की लापरवाही का असर सारे कुटुम्ब पर पड़ता है। कुटुम्ब की तरह

सरकार ने भी अपने कामों को कई विभागों में बाँट रक्खा है। उसके ऊपर इतनी बड़ी ज़िम्मेवारी है कि कार्य विभाजन के बग़ैर ठीक ठीक काम नहीं हो सकता। उसे इतने कर्तव्यों का पालन करना है कि बिना उनका वर्गीकरण किये वह सुचारु रूप से सबको इंजाम नहीं दे सकती। उसका काम केवल टैक्स वसूल करना और क़ानूनों को पास कर देना नहीं है। उसे यह देखना पड़ता है कि उन क़ानूनों का पालन हो रहा है अथवा नहीं। जो लोग उन्हें भंग करते हैं उनके दंड की व्यवस्था करनी पड़ती है। दंड देने के लिये नियम तथा न्यायालय दोनों बनवाने पड़ते हैं। कुछ लोग इसी लिये नियुक्त किये जाते हैं कि वे इस बात का पता लगाते रहें कि कौन कौन लोग क़ानूनों को तोड़ रहे हैं।

सरकार के कामों की गिनती से हम पार नहीं पा सकते। उसका काम तीन भागों में बँटा हुआ है। इन्हीं तीन भागों को सरकार का तीन अंग कहा गया है। सरकार के जितने भी काम हैं वे सब इन्हीं भागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये उसके तीन मुख्य काम कहे गये हैं। वह देश के लिये क़ानून बनाती है, उनके पालन करने के लिये लोगों को वाध्य करती है और जो कोई उन्हें तोड़ता है उसे दंड देती है। अथवा यों कहना चाहिये कि सरकार रूपी वृक्ष की ये तीन शाखायें हैं, बाकी उपशाखायें, टहनियाँ और पत्ते हैं। सरकार का जो विभाग क़ानून बनाता है उसे व्यवस्थापिका सभा (Legislature) कहते हैं। जो विभाग क़ानूनों की देख रेख करता है वह कार्य कारिणी सभा (Executive) कहलाता है। तीसरा विभाग नियम तोड़ने वालों को दंड देता है, उसे न्याय समिति (Judiciary) कहते हैं। प्रत्येक विभाग का वर्णन अलग अलग करना कई दृष्टियों से अच्छा होगा। कारण यह है कि यद्यपि ये अंग अलग अलग कार्य करते हैं और इनका संगठन भिन्न है, फिर भी इनमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये किसी सिद्धान्त पर अलग किये गये हैं। इन सिद्धान्तों की ओर हमें नज़र डालनी होगी।

सरकारी अंगों के विभाजन के सिद्धान्त

व्यवस्थापिका सभा, कार्य कारिणी सभा और न्याय समिति ये सरकार के तीन अंग हैं। इनके संगठन और कार्य एक दूसरे से भिन्न हैं। प्रश्न यह है कि क्या ये तीनों अंग एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं अथवा कहीं न कहीं इनका सम्बन्ध रक्खा गया है? इसमें कोई शक नहीं कि वे एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र होकर काम नहीं कर सकते। मान

लीजिये व्यवस्थापिका सभा ने कोई क़ानून पास किया। कार्य कारिणी विभाग के कर्मचारी उसकी देख रेख नहीं करते अथवा न्यायालय में जज उस आदमी को दंड देने से इनकार कर देता है जो दिन दहाड़े डाके और चोरी करता है। इसी तरह और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ पर एक विभाग दूसरे की परवाह नहीं करता। नतीजा यह होगा कि देश में अशान्ति फैलेगी और अच्छी से अच्छी सरकार बदनाम हो जायगी।

मानटेस्क्यू (Montesquieu) ने अपनी एक पुस्तक में इन तीनों अंगों के विभाजन पर विचार किया है। वह लिखता है, "प्रत्येक सरकार के अन्तर्गत तीन शक्तियाँ होती हैं। व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सभा और न्याय समिति। पहली शक्ति क़ानून बनाती है, दूसरी उनका पालन करवाती है और तीसरी तोड़ने वालों को दंड देती है। राज्य में स्वतन्त्रता के लिये यह आवश्यक है कि सरकार इस ढंग पर इन तीनों अंगों का विभाजन करे कि एक व्यक्ति दूसरे से भयभीत न हो। यदि क़ानून बनाने और उनके पालन करवाने का भार एक के हाथ में सौंप दिया जाय तो व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इसी प्रकार उस हालत में भी स्वतन्त्रता क़ायम नहीं रह सकती जब कि न्याय समिति और कार्यकारिणी सभा अलग अलग कार्य न करें। यदि उपरोक्त दोनों अंगों के काम मिला दिये जायँ तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन दोनों ख़तरे से ख़ाली नहीं रह सकते।"*

* If the Legislative and Executive powers, says Montesquieu, are united in the same person, or in the same body of persons, there is no liberty, because of the danger that the same monarch or the same senate may make tyrannical laws and execute them tyrannically. Nor, again, is there any liberty if judicial power is not separated from Legislative and the Executive. If it were joined to the legislative power the power of the life and liberty of the Citizens would be arbitrary; for the judge would be the law maker. If it were joined to the executive power, the Judge would have the force of an oppressor."

[The spirit of the laws]

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मानटेस्क्यू इस बात के पक्ष में है कि सरकार के तीनों अंगों को अलग अलग काम करना चाहिये। एक अंग दूसरे के काम में हरगिज़ दख़ल न दे वरन् नागरिक स्वतंत्र नहीं रह सकता। इसी सिद्धान्त के आधार पर अमेरिका की शासन पद्धति का निर्माण किया गया है। कांग्रेस वहाँ की व्यवस्थापिका सभा है। उसका काम केवल क़ानून बनाना है। प्रेसीडेन्ट कार्यकारिणी विभाग का प्रधान है। वह अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि "अमेरिका का प्रेसीडेन्ट केवल स्त्री को पुरुष नहीं बना सकता बाक़ी सब कुछ कर सकता है।" इसी प्रकार वहाँ का सबसे बड़ा न्यायालय सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) पूरी तरह स्वतन्त्र है। अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका में सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से अलग रक्खे गये हैं। एक विभाग का आला से आला अफ़सर दूसरे विभाग में हाथ नहीं डाल सकता। अमेरिका के समान इन तीनों अंगों के इतनी ख़ूबी के साथ विभाजन की मिसाल दुनियाँ के किसी भी राज्य में नहीं पाई जाती।

मानटेस्क्यू की तरह ब्लैक स्टोन (Black Stone) ने भी अपनी एक पुस्तक* में तीनों अंगों के विभाजन पर ज़ोर दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि अरस्तू ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि ये तीनों अंग जहाँ तक हो सके अलग अलग रक्खे जायँ। प्राचीन और मध्ययुग के भारतीय इतिहास से पता चलता है कि सरकार की विभाजन प्रणाली स्पष्ट न थी। राजा और उसके थोड़े से सलाहकार राज्य के लिये क़ानून बनाते थे, वे ही इन्हें पालन कराते और भंग करने वालों को दंड देते थे। फिर भी हम देखते हैं कि उनकी प्रजा आजकल से कहीं स्वतंत्र और ख़ुशहाल थी। आगे चल कर इस बात का वर्णन किया जायगा कि आज भी ये तीनों अंग बिलकुल अलग नहीं हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि सरकार के न केवल तीन बल्कि चार और पाँच अंग हैं। अमेरिका के एक विद्वान् जे. क्यू. डेली (J. Q. Dealey) ने सरकार के सात अंग ठहराया है। लेकिन जिस आधार पर इन्होंने इन अंगों का विभाजन किया है उसके अनुसार हम सरकार को बीसों टुकड़ों में बाँट सकते हैं। कुछ फ्रांसीसी विद्वानों ने सरकार को केवल दो अंगों में विभाजित किया है, व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी विभाग। न्याय समिति को वे कार्यकारिणी का एक टुकड़ा मानते हैं। चाहे कितने भी टुकड़े किये जायँ

---

* Commentaries on the laws of England.

दुनियाँ की हर सरकार तीन विभागों द्वारा अपना काम करती है। इतना ज़रूर है कि उनके सम्बन्ध में काफ़ी अन्तर पाया जाता है।

विभाजन सिद्धान्त पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

कहने को हम सरकार के तीनों अंगों को एक दूसरे से अलग समझते हैं और हर अंग को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, लेकिन कार्य रूप में कुछ और देखते हैं। सबसे पहले हमारी दृष्टि अमेरिका (U. S. A.) की ओर जाती है। वहाँ की शासन पद्धति की यह विशेषता समझी जाती है कि तीनों अंग एक दूसरे से अलग अलग कार्य करते हैं। एक अमेरिकन लेखक ने कहा है "हमारी शासन पद्धति की विशेषता सरकार का अंग विभाजन है और इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि उसमें 'ईश्वर' शब्द का नाम नहीं है।" कांग्रेस, प्रेसीडेन्ट, और प्रधान न्यायालय (Supreme Court) यद्यपि अलग अलग हैं फिर भी इन सबका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कांग्रेस कोई क़ानून ऐसा नहीं पास कर सकती जो प्रेसीडेन्ट की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हो। कांग्रेस द्वारा पास किये गये क़ानून को वह रद कर सकता है। इतनी सुविधा कांग्रेस को ज़रूर दी गई है कि वह प्रेसीडेन्ट के रद किये हुये क़ानून को दो तिहाई बहुमत से पास कर राज्य में लागू कर सके। लेकिन यह दो तिहाई बहुमत कांग्रेस की दोनों सभाओं में अलग अलग होना चाहिये। प्रेसीडेन्ट कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता। इसका अर्थ यह है कि व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी विभाग दोनों अलग अलग हैं। लेकिन जब कोई आवश्यक क़ानून पास कराना होता है तो प्रेसीडेन्ट उसे सन्देश (message) के रूप में कांग्रेस में भेज देता है और वह सन्देश क़ानून के रूप में पास कर दिया जाता है। यद्यपि कांग्रेस उसे पास करने के लिये वाध्य नहीं है, फिर भी प्रेसीडेन्ट का प्रभाव उसे पास करा ही देता है। फिर यह कैसे कहा जाय कि अमेरिका में व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी में कोई सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका (U. S. A.) का प्रधान न्यायालय (Supreme Court) पूर्ण स्वतन्त्र कहा जाता है। सरकार का कोई विभाग उसके कामों में दख़ल नहीं दे सकता। लेकिन हमें मालूम होना चाहिये कि प्रधान न्यायालय के सभी न्यायाधीशों को प्रेसीडेन्ट नियुक्त करता है। इस कार्य में वह सीनेट (Senate) से परामर्श लेता है। अमेरिका में कई राजनैतिक दल (Party System) हैं। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवस्थापिका सभा और प्रेसीडेन्ट के

विचार एक हों और प्रेसीडेन्ट वही बनाया जाय जो कांग्रेस के विचारों से सहमत हो।

इङ्गलैंड में भी ये तीनों अंग अलग अलग किये गये हैं। पार्लियामेंट क़ानून बनाती है, कैबिनेट (Cabinet) प्रधान कार्यकारिणी समिति है और प्रिवी कौंसिल सबसे बड़ा न्यायालय है। लेकिन जब हम गहराई के साथ इनका अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि ये अंग नाम मात्र के लिये अलग किये गये हैं। पार्लियामेंट के दो अंग हैं, लार्ड (House of Lords) और कामन सभा (House of Commons)। लार्ड सभा का सभापति, जो लार्ड चान्सलर (Lord Chancellor) कहलाता है कैबिनेट का सदस्य और प्रिवी कौंसिल का सभापति होता है। इसका अर्थ यह है कि एक ही व्यक्ति व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सभा, और न्याय समिति तीनों में काम कर रहा है। फिर हम क्यों कहते हैं कि तीनों अंग एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। कार्यकारिणी सभा के सभी सदस्य कामन्स सभा के सदस्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त रूप में इङ्गलैंड में ये तीनों विभाग अलग अलग हैं, लेकिन कार्य रूप में इनमें एक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

फ्रांस में ये तीनों अङ्ग काफ़ी मिले जुले दिखलाई देते हैं। वहाँ का प्रेसीडेन्ट, जो कार्य कारिणी विभाग का प्रधान होता है व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा निर्वाचित किया जाता है। उसे यह अधिकार है कि वह सीनेट (Senate) की राय से चेम्बर आफ़ डिप्यूटीज़ (Chamber of Deputies) को बर्ख़ास्त कर दे। जर्मनी की लड़ाई के पहले जर्मन सम्राट का व्यवस्थापिका सभा पर काफ़ी प्रभाव था। आज जिन जिन देशों में तानाशाही (Dictatorship) दिखलाई पड़ती है वहाँ व्यवस्थापिका सभा और न्याय समिति क़रीब क़रीब एक ही अंग बन गये हैं। यूरप के कई देशों में "क़ानूने हुकूमत" (Administrative Laws) की प्रथा प्रचलित है। आख़िर ये क़ानून क्या हैं? इन क़ानूनों को व्यवस्थापिका सभा नहीं बनाती। कार्य कारिणी विभाग के कर्मचारियों को यह अधिकार दिया गया है कि ज़रूरत पड़ने पर वे ऐसे क़ानून बना सकते हैं।

सच्ची बात यह है कि हम इन तीनों अङ्गों को बिलकुल अलग नहीं कर सकते। कार्य रूप में विभाजन का यह सिद्धान्त असम्भव है। सरकार स्वयं एक मशीन है। इसके पुर्ज़े पुर्ज़े अलग कर देने पर यह काम नहीं कर सकती। इसके सभी अङ्ग एक दूसरे से काफ़ी मिले जुले रहने चाहिये।

राज्य एक ऐसी इकाई है कि इसकी भलाई के लिये हम समूचे सरकार पर तो निर्भर रह सकते हैं लेकिन इसके एक एक टुकड़े पर भरोसा नहीं कर सकते। सरकार के तीनों अङ्गों में से कोई भी अङ्ग इतना शक्तिशाली हो सकता है कि वह दूसरे अङ्गों पर हावी हो जाय। यह चीज़ नागरिक स्वतन्त्रता में बाधक सिद्ध होगी। इसलिये इनके विभाजन में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ये अलग अलग काम करते हुये भी आपस में टकराने न पायें। इनका मेल उन जगहों पर ज़रूर रहे जहाँ से राज्य की अधिक भलाई हो सकती है। यह कहना ग़लत है कि न्याय और कार्य-कारिणी सभा का कार्य एक व्यक्ति के हाथ में आ जाने से समाज में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इङ्गलैंड की ओर हम नज़र डालें तो पता चलेगा कि ये दोनों अंग एक व्यक्ति के हाथ में होते हुये भी वहाँ काफ़ी स्वतन्त्रता है। केवल अङ्गों के अलग अलग होने से स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। तीनों अङ्गों के विभाजन में हम कोई दीवार नहीं खड़ी कर सकते। इसका विभाजन प्रत्येक देश में अलग अलग तरीक़े पर हो सकता है। कारण यह है कि विभिन्न देशों में लोगों की अलग अलग मनोवृत्तियाँ हैं और उनकी सामाजिक व्यवस्था में काफ़ी फ़रक़ है। उनके वातावरण और संस्कृति में भी अन्तर है। इन्हीं के अनुसार इन तीनों अङ्गों को शक्ति प्रदान की जा सकती है। कुछ बातें ऐसी ज़रूर हैं जो हर देश में लागू हो सकती हैं। पहली बात तो यह है कि व्यवस्थापिका सभा का स्थान इन तीनों में श्रेष्ठ है। इसलिये इसे सबसे अधिक शक्ति मिलनी चाहिये। आर्थिक अधिकार केवल व्यवस्थापिका सभा को मिलना चाहिये। क्योंकि जनता के पैसे को उसके प्रतिनिधियों को ही खर्च करने का अधिकार है। दूसरी बात यह है कि न्याय समिति पूर्णतया स्वतन्त्र होनी चाहिये। किसी देश में इन्साफ़ तब तक नहीं हो सकता जब तक न्यायालयों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान न की जाय। हमारे देश में अङ्गों के विभाजन में कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें हम बहुत अरसे तक चालू नहीं रख सकते। इनसे नागरिक स्वतन्त्रता में बाधायें पड़ती हैं। पहली कमी तो यह है कि ज़िले का कलेक्टर वहाँ के कार्यकारिणी विभाग का प्रधान भी है और इन्साफ़ भी करता है। कांग्रेस सरकार इसे दूर करने का प्रयत्न कर रही थी। दूसरी कमी यह है कि मुल्की लाट (Viceroy) को क़ानून जारी करने का भी अधिकार दिया गया है। वे किसी भी समय भारतीय व्यवस्थापिका सभा की राय को ठुकरा कर आर्डिनेन्स (Ordinance) जारी कर सकते

हैं। तीसरी कमी यह है कि जनता के धन को उसके प्रतिनिधि नहीं ख़र्च कर सकते। ७५ प्रतिशत रुपया व्यवस्थापिका सभा के हाथ में न होकर लाट साहब (Viceroy) की मर्ज़ी पर रहेगा।

व्यवस्थापिका सभा (Legislature)

व्यवस्थापिका सभा का मुख्य काम क़ानून बनाना है। इस सभा के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने चाहिये। व्यवस्थापिका सभा को "धारा सभा" भी कहते हैं। इस सभा में नामज़द होकर भी लोग आते हैं। हमारे देश में अभी हाल तक काफ़ी लोग नामज़द होकर धारा सभाओं में आते थे। सरकार अपने चुने हुये आदमियों को नामज़द करके इन सभाओं में इसलिये भेजती थी कि हर मामले में वे उसका साथ देंगे। लेकिन नामज़दगी का तरीक़ा अब दुनियाँ के हर मुल्क से निकाल दिया गया है। फिर भी इसकी बू अभी कहीं कहीं बाक़ी है। धारा सभाओं में विभिन्न मत के लोगों को अपना प्रतिनिधि भेजना चाहिये। लीकाक लिखता है* "धारा सभाओं में जनता के अधिक से अधिक प्रतिनिधि आने चाहिये। हर दृष्टिकोण और हर समुदाय के लोगों को उसमें आने का अवसर मिलना चाहिये ताकि समाज के सभी अङ्ग उसमें स्थान पा सकें।" धारा सभा में सदस्यों की संख्या क्या हो इसमें लोगों के मतभेद हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि सदस्यों की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतने ही प्रकार के विचारों का सहयोग प्राप्त होगा। दूसरे प्रकार के राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं कि कम प्रतिनिधि होने से अच्छी तरह विचार करने का मौका मिलेगा। प्रतिनिधियों का बाज़ार लगाने से कोई फ़ायदा नहीं है।

प्राचीन काल में जब कि प्रत्येक मुल्क की आबादी बहुत थोड़ी थी, प्रतिनिधि चुनने का रिवाज़ न था। सारी जनता इकट्ठी होकर अपने लिये नियम बना लिया करती थी। यूनान देश में यह रवाज काफ़ी अरसे तक जारी था। आबादी बढ़ जाने पर सारी जनता का एकत्रित होना असम्भव ही नहीं बल्कि क़ाफ़ी ख़तरनाक है। हिन्दुस्तान को हम मिसाल के तौर पर ले सकते हैं। यह मुल्क काफ़ी लम्बा चौड़ा है फिर भी यहाँ कोई ऐसा

---

* A Legislative body must consist of many persons, representing numerous interests, various points of view, and different sections of the community,

मैदान नहीं है जहाँ चालीस करोड़ आदमी इकट्ठे होकर अपने लिये क़ानून बना सकें। यदि ये आदमी एक दूसरे से मिले हुए खड़े किये जायँ तो कलकत्ते से पेशावर तक उन्हें खड़े होने की भी जगह न मिलेगी। इन्हीं दिक्कतों को दूर करने के लिये प्रतिनिधित्व की प्रथा चलाई गई। जहाँ तक प्रतिनिधियों की संख्या का प्रश्न है, इसमें मध्यम मार्ग सबसे अच्छा होगा। जिस देश की जितनी ही कम वा बेश आबादी हो उसी हिसाब से वहाँ की छोटी बड़ी धारा सभा होनी चाहिये। इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि मुल्क का कोई वर्ग इसमें स्थान ग्रहण करने से वंचित न रह जाय। इससे जनता में असन्तोष और द्वेष की वृद्धि होगी।

धारा सभा के सम्बन्ध में कुछ बातों का ध्यान प्रत्येक देश को रखना चाहिये। पहली बात तो यह है कि इसकी मियाद अधिक नहीं होनी चाहिये। कम से कम ३ वर्ष और अधिक से अधिक ५ वर्ष इसकी आयु हो। संसार के लगभग सभी देशों में इन्हीं के आस पास धारा सभाओं की आयु रक्खी गई है। दूसरी बात यह है कि धारा सभा के सदस्यों को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वे कोई भी क़ानून पेश करें और उन पर अपनी जाती राय व्यक्त कर सकें। इसके अतिरिक्त सदस्यों को कुछ ऐसी सुविधायें मिलनी चाहिये जिनसे वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में जाकर उसका अध्ययन कर सकें। जर्मनी में धारा सभा के सदस्यों को रेलवे का मुफ़्त पास दिया जाता है ताकि वे जहाँ चाहें बिना टिकट आ जा सकें। किसी किसी देश में सदस्यों को माहवारी तनख़्वाह दी जाती है। कहीं कहीं पर यह रवाज़ है कि साल के अन्त में एक निश्चित रक़म जो भी सदस्य चाहे ले सकता है। जो न ले उसे कोई बाध्य भी नहीं कर सकता। इङ्गलैंड में कामन सभा के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार है कि वह साल के अन्त में ६०००) चाहे तो ले सकता है। व्यवस्थापिका सभा भवन के अन्दर कोई सदस्य इङ्गलैंड में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यह प्रथा लगभग सभी सभ्य देशों में पाई जाती है।

धारा सभा सरकार के सभी अङ्गों में प्रधान है। इसकी उपयोगिता सबसे अधिक है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की लिखता है, 'आमतौर से... कार्यकारिणी सभा और न्याय समिति दोनों की शक्तियाँ धारा सभा की मर्ज़ी पर क़ायम रहती हैं"* धारा सभा के द्वारा जनता अपनी राय का

---

* In general......the powers both of executive and

इज़हार कर सकती है। इसलिये कानून बनाने के अलावे यह सभा बाक़ी अङ्गों की टीका टिप्पणी भी करती है।

व्यवस्थापिका सभा में दो सभायें

इस सभा का कार्य इतना वृहत् है कि लगभग सभी देशों ने इसके दो हिस्से कर दिये हैं। इन दोनों हिस्सों के नाम अलग अलग देशों में भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। अमेरिका में एक को सीनेट कहते हैं और दूसरे को हाउस आफ़ रिप्रज़ेन्टेटिव (House of Representative); फ़ान्स में एक को सीनेट और दूसरे को चेम्बर आफ़ डिप्यूटी (Chamber of Deputy) कहते हैं। हमारे देश में नये शासन विधान (Act of 1935) के अनुसार वाइसराय की धारा सभा में एक का नाम कौंसिल आफ़ स्टेट होगा और दूसरे का फेडरल असेम्बली (Federal Assembly)। इसी शासन विधान के अनुसार सात प्रान्तों में दो सभाओं का नियम जारी किया गया है। दो सभाओं से कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी। पहले हम एक पर विचार करें।

एक सभा

जर्मनी की लड़ाई के पहले अधिकतर देशों में व्यवस्थापिका सभाओं में एक ही सभा हुआ करती थी। आज भी बलगारिया, लेटविया, फिनलैंड, पुर्तगाल, टर्की आदि देशों में धारा सभा के एक ही अङ्ग होते हैं। वहाँ दो सभाओं का रवाज़ नहीं है। इतना ज़रूर है कि दुनियाँ का कोई शक्तिशाली और बड़ा देश एक सभा वाला तरीक़ा पसन्द नहीं करता। जहाँ एक सभा का रवाज़ है वहाँ धारा सभा का सभापति प्रेसीडेन्ट (President) कहलाता है।

दो सभायें

ऊपर कहा गया है कि संसार के सभी सभ्य देशों ने दो सभाओं का तरीक़ा स्वीकार किया है। वहाँ पर बड़ी सभा को द्वितिय सभा (Second Chamber or Upper Chamber) और छोटी सभा को प्रथम सभा (First Chamber or Lower Chamber) कहते हैं। आम तौर से बड़ी सभा में प्रतिनिधियों की संख्या कम होती है। उसकी आयु छोटी सभा से अधिक होती है। किसी किसी देश में बड़ी सभा न कभी बर्खास्त की जाती है और न उसका चुनाव होता है। छोटे और बड़े शब्द से यह

Judiciary find their limits in the declared will of the Legislative organ.

तात्पर्य नहीं है कि बड़ी सभा बड़ी होती है और छोटी सभा छोटी। वास्तव में बात बिलकुल उल्टी है। छोटा बड़ा इसलिये कहा जाता है कि बड़ी सभा (Upper Chamber) में देश के बड़े बड़े लोग चुनकर भेजे जाते हैं। लेकिन छोटी सभा (Lower Chamber) में आम जनता के प्रतिनिधि आते हैं। बड़ी सभा एक प्रकार से धनियों की सभा है। उसमें आने के लिये सदस्यों को एक बहुत बड़ी जायदाद का मालिक होना पड़ता है। कोई ग़रीब आदमी बड़ी सभा का सदस्य नहीं बन सकता।

बड़ी सभा का सभापति अधिकतर देशों में प्रेसीडेन्ट और छोटी सभा का स्पीकर (Speaker) कहलाता है। इङ्गलैंड में कामन सभा का सभापति स्पीकर (Speaker) कहलाता है, लेकिन वह सभा भवन में कभी बोलता नहीं। सदस्यों की संख्या में प्रत्येक देश की बड़ी सभा छोटी होती है। उसके मेम्बर थोड़े होते हैं। इङ्गलैंड इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता। वहाँ की बड़ी सभा (House of Lords) छोटी सभा (House of Commons) से बड़ी है। लार्ड सभा में ७०० के लगभग और कामन सभा में केवल ६०० सदस्य हैं। संसार की व्यवस्थापिका सभाओं में इङ्गलैंड की व्यवस्थापिका सभा सबसे बड़ी है। बड़ी सभा वा दूसरी सभा विचारों में आम जनता की विरोधी होती है। वह सदैव धनिकों का पक्षपात करती है। इसीलिये सभी देशों में इसे कम से कम अधिकार दिये गये हैं। अधिकतर शक्तियाँ छोटी सभा को दी जाती हैं। इङ्गलैंड में कामन्स सभा को सब कुछ अधिकार प्राप्त हैं। लार्डस सभा नाम मात्र के लिये है। इसी लिये जब लार्डस सभा की कभी बैठक होती है तो ७०० सदस्यों में से बीस सदस्य भी हाज़िर नहीं होते। जनता से जो कुछ टैक्स वसूल किया जाता है उसे ख़र्च करने का अधिकार सभी देशों में छोटी सभा (Lower Chamber) को दिया गया है। बड़ी सभा उसमें चूँ तक नहीं कर सकती। इसी लिये बड़ी सभा (Second Chamber) को एक लेखक ने "बहली का पाँचवाँ पहिया" कहा है। अर्थात् बड़ी सभा एक बेकार चीज़ है।

बड़ी सभा (Upper Chamber) की आवश्यकता

जब सभी अधिकार छोटी सभा (Lower Chamber) को प्राप्त हैं तो बड़ी सभा (Upper Chamber) की क्या आवश्यकता है? बड़ी सभा से भी कुछ लाभ हैं। पहिला तो यह है कि क़ानून के पास करने में छोटी सभा जल्दी बाज़ी नहीं कर सकती। हर बिल के लिये यह आवश्यक है कि वह तीन बार (Three

Readings) एक सभा में पास हो जाने पर दूसरी सभा में भेजा जाता है। फिर वहाँ भी उसी प्रकार तीन बार उस पर विचार किया जाता है। उसमें बहुत से संशोधन किये जाते हैं। इस प्रकार बिल की सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। यदि बड़ी सभा न होती तो मुमकिन है हर क़ानून में कोई न कोई कमज़ोरी रह जाती। बड़ी सभा से दूसरा लाभ यह है कि अल्प संख्यक वर्ग को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है और उसे अपना दृष्टिकोण पेश करने का अवसर मिलता है। आम जनता अपने प्रतिनिधियों को छोटी सभा (Lower Chamber) में भेजती है। ये प्रतिनिधि जनता की आवश्यकतायें पूरी करने की कोशिश करते हैं। कोई भी साधारण आदमी किसी पूँजीपति को अपना वोट नहीं दे सकता, क्योंकि वह जानता है कि इससे उसे कोई लाभ न होगा। लेकिन बड़ी सभा में रुपये तथा जायदाद की क़ैद लगाकर कुछ ऐसे नियम बनाये गये हैं कि धनिओं को वहाँ प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। उन्हें भी अपनी कठिनाइयों के रखने का अवसर मिलता है। बड़ी सभा से एक तीसरा लाभ यह है कि देश के सबसे तजुरबेकार और योग्य पुरुष इसी सभा में आते हैं। उनके विचारों से आम जनता को लाभ पहुँचता है। बड़ी सभा के अधिकतर सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होकर आते हैं। हर देश में कुछ ऐसे योग्य और विद्वान व्यक्ति होते हैं जो जनता द्वारा नहीं पहचाने जाते। उन्हें आम जनता अपना वोट नहीं देती। इसलिये बड़ी सभा (Upper Chamber) में सरकार उन्हें नामज़द करके भेजती है और वहाँ से वे अपने उच्च विचार प्रकट करते हैं।

क़ानून कैसे बनते हैं

क़ानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये जाते हैं। जब कोई क़ानून बनाना होता है तो धारा सभा का कोई सदस्य उस आशय का एक बिल पेश करता है। वह सभा भवन में उठकर अपने बिल की आवश्यकता और उसका मजमून सबको समझाता है। तब वह बिल सरकारी विज्ञप्ति (Government Gazette) द्वारा जनता में प्रचलित किया जाता है। फिर कोई भी उस पर अपनी राय दे सकता है। सभा भवन में इन रायों पर विचार किया जाता है और तब उसकी टीका टिप्पणी होती है। इसके बाद उसमें कुछ संशोधन किया जाता है। फिर तीसरी बार उस पर प्रतिनिधियों में गरमा गरम बहस होती है और सर्व-सम्मति से वह बिल पास होने पर दूसरी सभा में भेज दिया जाता है। वहाँ भी इसी प्रकार तीन बार विचार किया जाता

है और आवश्यकता होने पर संशोधन भी होता है। फिर वह पहली सभा में भेजा जाता है। यदि दूसरी सभा के सभी संशोधन पहली सभा को मंजूर होते हैं तो बिल पास समझा जाता है और तब उसे ऐक्ट (Act) कहा जाता है। जब कार्यकारिणी सभा के प्रधान की दस्तख़त उस पर हो जाती है तो वह ऐक्ट क़ानून बन जाता है। जब एक सभा के संशोधन दूसरी सभा को मंजूर नहीं होते तो दोनों सभाओं के सदस्य एकत्रित होकर अपने मदभेद का निवारण कर लेते हैं।

इनीशियेटिव और रिफ़रेन्डम (Initiative and Referendum)

आधुनिक प्रजातन्त्रवाद के युग में जनता को अधिक से अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। प्रजातन्त्र का अर्थ ही यह है कि सभी सरकारी अधिकार प्रजा को दे दिये जायँ। क़ानून बनाने और उस पर जनता की राय ज़ाहिर करने के लिये कई देशों में कुछ विशेष नियम बनाये गये हैं। एक नियम यह है कि यदि कुछ निश्चित संख्या में मताधिकारी (यह संख्या सरकार की ओर से निश्चित रहती है) कोई क़ानून पास कराना चाहें तो वे व्यवस्थापिका सभा पर इस बात का दबाव डालें कि अमुक कानून पास कर दिया जाय। जनता अपनी राय लिख कर धारा सभा में भेज देती है और वहाँ उस पर विचार किया जाता है। इस तरीक़े को इनीशियेटिव (Initiative) कहते हैं। दूसरा तरीक़ा यह है कि जो कानून धारा सभा द्वारा पास किये जाते हैं उन पर जनता की राय लेना आवश्यक होता है। जब एक निश्चित तादाद में मताधिकारी अपनी राय उसके पक्ष में दे देते हैं तब वह कानून पास समझा जाता है। इस तरीके को रिफ़रेन्डम (Referendum) कहते हैं। इन दोनों से यह लाभ है कि जनता की राय ज़ाहिर हो जाती है। उसे बाद में यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक क़ानून बुरा है। ये दोनों तरीक़े कोई नये नहीं हैं। प्राचीन काल में यूनान और रोम नगर में क़ानूनों पर जनता की राय ली जाती थी। उसी की नकल कुछ देशों में अब भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

स्विटज़रलैंड

स्विटज़रलैंड में ये दोनों तरीक़े काफ़ी अरसे से प्रचलित हैं। वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देशों में स्विटज़रलैंड का प्रजातन्त्रवाद सबमें श्रेष्ठ समझा जाता है। जिस प्रकार भारतवर्ष कई सूबों में बँटा हुआ है उसी तरह स्विटज़रलैंड छोटे छोटे कैन्टन्स (Cantons) में विभाजित किया गया है। कुछ कैन्टन्स

(Cantons) तो इतने छोटे हैं कि वहाँ सभी लोग एकत्र होकर अपने लिये क़ानून बना लिया करते हैं। स्विटज़रलैंड में ३०,००० मताधिकारी व्यवस्थापिका सभा को इस बात के लिये मजबूर कर सकते हैं कि वह अमुक क़ानून पास कर दे। सरकार को विवश होकर उसे पास करना पड़ता है। शासन पद्धति के बदलने के लिये यदि ५०,००० मताधिकारी सरकार के सामने प्रार्थना पत्र पेश करें तो उनकी बात माननी पड़ती है। अमेरिका (U. S. A.) की कुछ रियासतों (States) में ये तरीके प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् इन तरीकों के पक्ष में हैं और कुछ विपक्ष में। जो पक्ष में हैं वे कहते हैं कि इससे प्रजा को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं और जनता में सन्तोष रहता है। मतदाताओं को अपने मत का मूल्य मालूम पड़ता है। क़ानून को पास करने वा बहिष्कृत करने में कोई उलझन नहीं होती। प्रजा खुले दिल से राजनीति में हिस्सा लेती है। क़ानून जनता के लिये भार न होकर उनकी इच्छाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। वह खुशी खुशी उनका पालन करती है। परन्तु जो लोग इनके विरुद्ध हैं उनका कहना है कि आम जनता में यह शक्ति नहीं होती कि वह क़ानूनों के महत्व को समझ सके। ऐसी दशा में हर क़ानून पर जनता की राय लेना और उसकी मर्ज़ी पर उसे पास करना ठीक नहीं है। इससे क़ानून बनाने की शक्ति प्रतिनिधियों के हाथ से निकल कर मताधिकारियों के हाथ में आ जाती है। फिर प्रतिनिधियों से क्या लाभ है? क़ानून एक टेढ़ी चीज़ है और हर आदमी उसके महत्व को नहीं समझ सकता। इसलिये जनता की राय पर उसे छोड़ देना ठीक नहीं है। कुछ भी हो, स्विटज़रलैंड में ये तरीके निहायत सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं।

कार्यकारिणी सभा (Executive)

कार्यकारिणी सभा से सरकार के उस अंग से तात्पर्य है जो शासन को कार्यान्वित करता है। यह धारा सभा के बनाये हुए क़ानूनों की देख रेख रखता है। वास्तव में देश का शासन कार्यकारिणी सभा ही करती है। शासन के दैनिक जीवन में इसी अङ्ग का हाथ सबसे अधिक होता है। व्यवस्थापिका सभा और न्याय समिति से इसका सीधा सम्बन्ध होता है। जो क़ानून को भंग करता है वह कार्यकारिणी सभा द्वारा दोषी ठहराया जाता है और तब न्यायालय उसे दण्ड देते हैं। लीकाक लिखता है, "कार्यकारिणी सभा से उन सरकारी अफ़सरों से मतलब है जिनका

काम सरकारी क़ानूनों का पालन कराना है।"* गिल क्राइस्ट लिखता है, "कार्यकारिणी सभा सरकार का वह अङ्ग है जो क़ानूनी ढंग पर जनता की राय का पालन कराता है† वास्तव में कार्यकारिणी सभा कोई सभा नहीं है। बादशाह से लेकर छोटा से छोटा सरकारी कर्मचारी इसके अन्तर्गत गिना जाता है। धारा सभा कभी कभी मिलती है, लेकिन कार्यकारिणी सभा हर घड़ी अपना काम करती है। हमारे देश में बड़े लाट (Viceroy) से लेकर एक मामूली चौकीदार तक कार्यकारिणी विभाग का सदस्य है। कार्यकारिणी सभा के दो अर्थ होते हैं। एक तो देश के सबसे प्रधान तथा उसके सहायकों से और दूसरा कार्यकारिणी महकमें के सभी कर्मचारियों से। इङ्गलैंड में प्रधान मंत्री (Prime Minister) और कैबिनेट के सभी सदस्यों को कार्यकारिणी सभा से सूचित किया जाता है। और कभी कभी इसका अर्थ कर्मचारियों से भी होता है। अमेरिका में प्रेसीडेन्ट और कैबिनेट को कार्यकारिणी सभा कहा जाता है।

कार्यकारिणी के विभिन्न रूप

प्रत्येक देश की शासन पद्धति अलग अलग है। वहाँ की कार्यकारिणी भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी किसी देश में कार्यकारिणी के प्रधान को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह नाम मात्र के लिये तनख्वाह लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। इङ्गलैंड का सम्राट् बृटिश साम्राज्य का स्वामी कहलाता है। राज्य के सारे काम उसी के नाम पर होते हैं। लेकिन कार्यरूप में वह कुछ भी नहीं करता। सारा काम कैबिनेट करती है। इसके विपरीत अमेरिका में प्रेसीडेन्ट सब कुछ करता है। उसके सलाहकार उसकी मातहती में काम करते हैं, जिन्हें वह किसी भी समय निकाल बाहर कर सकता है। वही अपने देश की फौज का सबसे बड़ा अफ़सर होता है और समय पड़ने पर बड़े से बड़े तानाशाह (Dictator) को भी मात कर सकता है। न केवल शक्ति में बल्कि स्वरूप

---

* The term 'Executive' is used to designate those officers of the government whose business it is to 'execute' or carry out the law of the land.

† The Executive is that branch of Government which carries out or executes the will of the people as formulated in laws.

और संगठन में भी कार्यकारिणी विभिन्न प्रकार की होती है। इनका अलग अलग वर्णन करना अधिक सुविधाजनक होगा।

पैत्रिक कार्यकारिणी (Hereditary Executive)

इस प्रकार की कार्यकारिणी इङ्गलैंड में पाई जाती है। इसके अनुसार राज गद्दी का हक़दार राजा का जेठा लड़का हुआ करता है। उसके न रहने पर उसका छोटा भाई राज्य का हक़दार होता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ का राजा जनता द्वारा निर्वाचित नहीं किया जाता। उसका हक़ सदैव के लिये अमर कर दिया गया है। एक कहावत है, "ज़मी जुम्मद, ज़मा जुम्मद, न जुम्मद गुल मुहम्मद।" इङ्गलैंड में कितनी ही लड़ाइयाँ हुई; कुछ बादशाहों को फाँसी और देश निकाला तक दे दिया गया। फिर भी वहाँ की गद्दी बराबर चली आ रही है। उसके सच्चे हक़दार को कोई अलग नहीं कर सकता। हाँ, वह स्वयं अपनी खुशी से उसे छोड़ सकता है। इस प्रकार की कार्यकारिणी के अन्दर सारी शक्ति मन्त्रियों को प्राप्त रहती है। इङ्गलैंड क्या, बृटिश साम्राज्य को केवल बीस या इक्कीस मन्त्री (Cabinet Ministers) चलाते हैं। उन्हीं की राय पार्लियामेंट में मानी जाती है। इतना लाभ ज़रूर है कि देश देशान्तरों में राजा की महिमा क़ायम रहती है। ब्रिटेन का सम्राट् चाहे कुछ भी न करे, फिर भी उसकी इज्ज़त दुनिया में सबसे बड़ी समझी जाती है।* ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर ५० करोड़ जन संख्या उसी की प्रजा कहलाती है। क़ानूनों पर आख़ीरी दस्तख़त उसी की होती है। इससे एक और भी लाभ है। राज्य के लिये झगड़े की कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती। जिसका हक़ होता है वह स्वयं गद्दी का हक़दार मान लिया जाता है।

निर्वाचित कार्यकारिणी (Elective Executive)

जहाँ पैत्रिक कार्यकारिणी नहीं है वहाँ निर्वाचित कार्यकारिणी की प्रथा है। जिस देश का राजा, जो आम तौर से प्रेसीडेन्ट कहलाता है, जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है वहाँ की कार्यकारिणी निर्वाचित कार्यकारिणी कहलाती है। इसका दूसरा नाम प्रेसीडेन्सियल कार्यकारिणी (Presidential Executive) भी है। इस प्रकार की कार्यकारिणी तीन प्रकार की होती

---

* He represents the highest social standard in the British Empire.

हैं। एक तो वह जहाँ पर जनता सीधे प्रेसीडेन्ट को चुनती है। चिली (Chile) में प्रेसीडेन्ट सीधे जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। मध्य-काल में जर्मनी का सम्राट् जनता द्वारा नहीं चुना जाता था, परन्तु छोटी छोटी रियासतों में जनता अपना राजा चुन सकती थी। अमेरिका की कुछ रियासतों में आज भी जनता अपना प्रेसीडेन्ट सीधे चुनती है। निर्वाचित कार्यकारिणी का दूसरा रूप वह है जहाँ जनता सीधे तौर पर प्रेसीडेन्ट को नहीं चुन सकती। पहले वह चन्द प्रतिनिधियों को चुनती है और फिर ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। अमेरिका (U. S. A.) में इसी प्रकार की कार्यकारिणी है। पहले जनता चन्द प्रतिनिधियों को (College of Electors) चुनती है और ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। तीसरे प्रकार की निर्वाचित कार्यकारिणी वह है जहाँ का प्रेसीडेन्ट व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता है। फ्रांस में इसी प्रथा का रवाज़ है। वहाँ की प्रतिनिधि सभा (National Assembly) फ्रांस का प्रेसीडेन्ट चुनती है।

कार्यकारिणी सभा का संगठन

केवल बादशाह वा प्रेसीडेन्ट को कार्यकारिणी कहना ठीक नहीं हैं। किसी मानी में वे इसके प्रधान कहे जा सकते हैं। कुछ देशों में सारी शक्ति मन्त्रिमंडल के हाथों में केन्द्रीभूत होती है। इङ्गलैंड, फ्रांस तथा आस्ट्रेलिया में सारी शक्ति कैबिनेट (Cabinet) के हाथों में होती है। यह कैबिनेट उस पार्टी के सदस्यों से बनाई जाती है जिसकी धारा सभा में बहुमत होती है। इसके सदस्य जो मन्त्री (Minister) कहलाते हैं तब तक कार्य कर सकते हैं जब तक धारा सभा का इसमें विश्वास होता है। किसी भी समय धारा सभा अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of No-confidence) पास कर मन्त्रि मंडल को ख़तम कर सकती है और नये मन्त्रियों को उनकी जगह बुला सकती है। मन्त्रि मंडलों में यह रवाज़ सा हो गया है कि सबकी ज़िम्मेवारी सम्मिलित (Joint Responsibility) समझी जाती है। कोई मन्त्री ग़लती करता है तो सारा मन्त्रि मंडल उसके लिये ज़िम्मेवार ठहराया जाता है। एक मन्त्री इस्तीफ़ा देता है तो पूरे मन्त्रि मंडल को हटना पड़ता है। मन्त्रि मंडल का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी विभाग का प्रधान होता है।

कैबिनेट से पार्टी प्रथा की नींव पड़ी है। हर पार्टी इस बात की कोशिश करती है कि वह कैबिनेट पर अपना अधिकार जमाये। अमेरिका

(U. S. A.) में कैबिनेट का संगठन किसी और प्रकार का है। वहाँ पर प्रेसीडेन्ट स्वयं मन्त्रियों को चुनता है और जब चाहे उन्हें हटा सकता है। व्यवस्थापिका सभा का उसमें कोई हाथ नहीं होता। यहाँ भी मन्त्रियों को एक एक विभाग सौंप दिया जाता है। वास्तव में यही कैबिनेट सारा काम करती है। राज्य के सारे कर्मचारी इसी की मातहती में काम करते हैं। सरकार की बागडोर इसी के हाथों में होती है।

कार्यकारिणी के कर्तव्य

न्याय समिति के कर्मचारियों और धारा सभा के सदस्यों को छोड़कर बाक़ी सभी सरकारी कर्मचारी कार्यकारिणी के सदस्य माने जाते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी का दर्जा बड़ा होता है और किसी का छोटा। सरकार के इस अंग का कर्तव्य वही है जो राज्य का कर्तव्य कहा जाता है। देश में शान्ति रखना, जान माल की रक्षा करना, विदेशियों के आक्रमण से देश को बचाना, शिक्षा प्रचार करना, कारोबार की वृद्धि करना, क़ानूनों की रक्षा करना, राज्य की हर प्रकार से बेहतरी करना इत्यादि इत्यादि कार्यकारिणी के कर्तव्य कहे गये हैं। इन कामों को मोटे तौर पर आठ या दस विभागों (departments) में बाँट दिया जाता है। हर विभाग एक मन्त्री के हवाले कर दिया जाता है। नीचे से ऊपर तक सभी कर्मचारी अपने अपने विभाग की मातहती में काम करते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, विदेशी विभाग, फ़ौज तिजारत, इमारत, पोस्ट आफिस और तार, आवागमन, तथा मज़दूर आम तौर पर अलग अलग विभाग होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर नये विभाग बना लिये जाते हैं।

कार्यकारिणी के दो स्वरूप

कार्यकारिणी की दो किस्में होती हैं। संसार की सभी कार्यकारिणी सभायें इन्हीं दोनों के अन्तर्गत आ जाती हैं। एक को अकेली कार्यकारिणी (Single Executive) और दूसरी को बहुसंख्यक कार्यकारिणी (Plural Executive) कहते हैं। पहिले प्रकार में राज्य की पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है। इस प्रकार की कार्यकारिणी किसी भी देश में नहीं दिखाई पड़ती। प्राचीन तथा मध्यकाल में राजाओं को सारी शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। लेकिन आजकल यह सम्भव नहीं है। १६१७ के पहले रूस का ज़ार सारी शक्तियों को अपने हाथों में रखता था। यह युग बहुसंख्यक कार्यकारिणी के लिये उपयुक्त है। इसके अनुसार राज्य का भार दो या दो से अधिक व्यक्तियों पर रहता है। किसी समय

स्पार्टा नगर में दो बादशाह हुआ करते थे। दोनों मिल कर राज्य करते थे और दोनों की शक्ति बराबर होती थी। लोगों का विश्वास था कि दो राजा होने से एक की शक्ति अधिक नहीं बढ़ने पायेगी। स्विटज़रलैंड में अब भी बहुसंख्यक कार्यकारिणी की प्रथा प्रचलित है। प्रधान कार्यकारिणी (Federal Council) ७ सदस्यों का एक गिरोह है। यह कौंसिल हर ३ वर्ष के लिये धारा सभा द्वारा निर्वाचित की जाती है। ये सातों सदस्य राज्य के कामों को ७ विभागों में बाँट लेते हैं। हर एक किसी विभाग का प्रधान होता है। नाम मात्र को इन्हीं में से कोई इनका सभापति बन जाता है, लेकिन वास्तव में वह इन्हीं का एक सहकारी होता है। इङ्गलैंड की कैबिनेट बहुसंख्यक कार्यकारिणी का एक ख़ासा उदाहरण है।

कार्यकारिणी विभाग (Executive Department)

कार्यकारिणी विभाग में सरकार के सबसे अधिक कर्मचारी काम करते हैं। इसमें बड़े अफ़सर से लेकर छोटा से छोटा चपरासी तक आ जाता है। बड़े बड़े अफ़सरों को, जो अमूमन सिविल सर्विस (Civil Service) के सदस्य होते हैं, सरकार स्थायी रूप से (Permanent) भर्ती करती है। इनकी भर्ती के लिये एक सरकारी महकमा होता है जो पबलिक सर्विस कमीशन (Public Service Commission) कहलाता है। राज्य के लगभग सभी कर्मचारी इसी कमीशन द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। उनकी जगह स्थायी समझी जाती है। सरकार बदलती रहती है, लेकिन ये कर्मचारी अपनी अपनी जगह काम करते रहते हैं। छोटे छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति 'कमीशन' की ओर से नहीं होती। इसलिये वे किसी भी समय अलग किये जा सकते हैं। अमेरिका (U. S. A.) में एक विचित्र प्रथा है जो दुनिया के किसी भी हिस्से में नहीं पाई जाती। जब कोई नया प्रेसीडेन्ट चुना जाता है तो वह पिछले सभी कर्मचारियों को निकाल कर अपनी पार्टी के नये नये कर्मचारी भर्ती कर लेता है। परिणाम यह होता है कि सरकारी कर्मचारी अपने आपको स्थायी नहीं समझते। उन्हें इस बात का भय रहता है कि मालूम नहीं किस पार्टी का प्रेसीडेन्ट चुना जायगा। इस प्रथा को विनाशी नीति' (spoil system) कहते हैं। इससे सबसे बड़ी दो हानियाँ होती हैं। एक तो सरकारी काम में बाधा पड़ती है और दूसरे कितने ही व्यक्ति बेरोज़गार हो जाते हैं।

न्याय समिति
Judiciary

सरकार का तीसरा अङ्ग न्याय समिति है। क़ानून की परख न्यायालयों में होती है। इस अङ्ग का मुख्य कर्तव्य क़ानून भंग करने वालों को दंड देना है। राज्य में जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोहों में झगड़ा होता है तो यह विभाग उसका फ़ैसला करता है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं। ऐसा भी होता है कि राज्य और व्यक्ति में झगड़ा हो जाय। न्यायालय उसका फ़ैसला करते हैं। यदि राज्य दोषी है तो उसके उस कर्मचारी को दंड दिया जाता है, जिसने राज्य के नाम पर ग़लती की थी। सरकार को नागरिकों की स्वतन्त्रता और अधिकारों का उतना ही ध्यान रखना पड़ता है, जितना प्रत्येक नागरिक को क़ानून की रक्षा का। कितने ही गुनाहों में सरकार को जुर्माने देने पड़ते हैं। सरकार इस बात को पसन्द करती है कि कचहरियों में पूरा पूरा इन्साफ़ किया जाय। न्याय के ही बल पर राज्य क़ायम रह सकता है। अफ़लातून (Plato) का कहना है, "न्याय मनुष्य के मस्तिष्क का सबसे बड़ा गुण है।"* अच्छे से अच्छे कानून तोड़े जाते हैं। लोग अपनी कमज़ोरियों के कारण उनके महत्व को नहीं समझते। इस प्रकार के गुनाहगार जब कचहरियों में लाये जाते हैं तो जज उन्हें उसी मात्रा में दंड देता है जितने में उसकी बुद्धि ठीक हो जाय। दंड क्यों दिया जाता है, और इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कहाँ तक बाधा पड़ती है, इसका वर्णन क़ानून वाले अध्याय में सविस्तर किया जायगा। यहाँ पर इतना कहना काफ़ी होगा कि कचहरियों में दंड नागरिक की भलाई के लिये दिया जाता है। दंड देते समय सरकार धनी-ग़रीब तथा छोटे-बड़े का ध्यान नहीं रखती है। उसकी नज़रों में सभी बराबर हैं।

न्यायाधीश की भर्ती

जिस प्रकार कार्यकारिणी विभाग का संगठन चपरासी से लाट तक है उसी प्रकार कचहरियाँ भी छोटी से बड़ी तक राज्य में फैली होती हैं। छोटी कचहरियों में न्यायाधीश की उतनी ही ज़िम्मेवारी है जितनी बड़ी से बड़ी कचहरी में। आमतौर से न्यायाधीशों की भर्ती तीन प्रकार से की जाती है। जो देश जैसा चाहे किसी एक तरीक़े को अपना ले। न्यायाधीश का काम बड़ी ज़िम्मेवारी का है। इसलिये

---

* Justice is the virtue of the mind.

उसकी भर्ती काफ़ी परख के साथ होनी चाहिये। जब कि जजों को जीवन भर न्याय करना है तो उनकी भर्ती निहायत इन्साफ़ के वसूल पर होनी चाहिये। ऐसा नहीं कि कोई आदमी घूस देकर न्यायाधीश बन बैठे। जब आरम्भ में ही उसने इतनी बड़ी बेइन्साफ़ी की तो उससे आगे चल कर इन्साफ़ की क्या उम्मीद की जा सकती है। इसीलिये भर्ती होने से पहले हर न्यायाधीश में दो गुणों की परीक्षा की जाती है। एक तो यह कि उसे क़ानूनों का पूरा ज्ञान हो। जो क़ानून न जानेगा वह इन्साफ़ नहीं कर सकता। क़ानून की जानकारी के साथ न्यायाधीश को निष्पक्ष और स्वतन्त्र विचार का होना चाहिये। पक्षपात और इन्साफ़ इन दोनों में शत्रुता है। जो व्यक्ति पक्षपात करेगा वह न्याय नहीं कर सकता। जिन व्यक्तियों में ये दोनों गुण पाये जाते हैं वे न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जाते हैं।

अब सवाल यह है कि आख़िर उनकी भर्ती का तरीक़ा क्या है। ऊपर कहा गया है कि तीन प्रकार से इनकी नियुक्ति की जाती है। एक तो यह कि व्यवस्थापिका सभा जजों को चुनती है। लेकिन यह तरीक़ा दुनिया के किसी भी देश में नहीं पाया जाता। केवल स्विटज़रलैण्ड में धारा सभा जजों का निर्वाचन करती है। जहाँ अङ्ग विभाजन का सिद्धान्त पूरी तरह बर्ता जाता है वहाँ इस तरीक़े को बुरा ठहराया गया है। लोगों का कहना है कि जब न्ययाधीश व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुने जायेंगे तो न्याय ससिति और व्यवस्थापिका सभा दोनों अलग अलग नहीं रह सकते। अमेरिका में यह तरीका बुरा ठहराया गया है। जजों की भर्ती का दूसरा तरीका यह है कि आम जनता उनका निर्वाचन करे। इससे जनता उन्हीं व्यक्तियों को चुनेगी जिनमें उसका विश्वास होगा। अमेरिका (U. S. A.) के कुछ देशों में जजों की भर्ती इसी तरीक़े पर होती है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि कितनी ही बार अच्छे से अच्छे व्यक्ति चुनाव में सफल नहीं होते। जिस प्रकार धारा सभाओं के चुनाव में कितने हीं योग्य व्यक्ति हरा दिये जाते हैं उसी प्रकार बहुत से योग्य व्यक्ति न्यायाधीश नहीं बन पाते। जजों की भर्ती का तीसरा तरीक़ा यह है कि कार्यकारिणी सभा द्वारा उनकी नियुक्ति की जाय। यह तरीका सबसे उत्तम ठहराया गया है। दुनियाँ के लगभग सभी सभ्य देशों में इसी का आश्रय लिया गया है। कार्यकारिणी आसानी से उन व्यक्तियों को चुन लेती है जिन्हें वह सबसे योग्य समझती है।

सरकार का न्याय विभाग सीढ़ी की तरह नीचे से ऊपर तक संगठित है।

न्याय समिति का संगठन

हमारे देश में सब से छोटी कचहरी गाँव की पंचायत कहलाती है। गाँव के छोटे मोटे मुक़दमे इसी पंचायत द्वारा फैसल किये जाते हैं। यह पंचायत हर गाँव में होती है और फिर आठ या दस गाँवों की एक बड़ी पंचायत रहती है। पंचायत में आमतौर से पाँच या दस आदमी होते हैं। इसका सभापति सरपंच कहलाता है। पंचायत से ऊपर तहसील होती है। फिर ज़िले की छोटी और बड़ी अदालतें होती हैं। इसके बाद हाईकोर्ट होती है। यह हमारे देश की सबसे बड़ी अदालत है। १६३५ के शासन विधान के अनुसार एक फेडरल न्यायालय (Federal Court) स्थापित किया गया है। इसका दफ़्तर दिल्ली में है और यह देश की सबसे बड़ी अदालत कहलाती है। लेकिन इसका मुख्य काम शासन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करना तथा दो सूबों वा रियासतों के झगड़ों को फैसला करना है। हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी अपील की कचहरी अब भी इङ्गलैण्ड में है, जिसे प्रिवी कौंसिल (Privy Council) कहते हैं। बड़े बड़े मुक़दमें हाईकोर्ट के फ़ैसले के बाद इसी जगह जाते हैं। लेकिन उन्हें अपील करने के लिये हाईकोर्ट से इजाज़त लेनी पड़ती है।

कचहरियों में जितने भी मुकदमे आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं। एक तो माल के मुकदमें (Civil Cases) और दूसरे जान या अपराध के (Criminal Cases)। इसीलिये क़ानून भी दो प्रकार के होते हैं, फ़ौजदारी के क़ानून और माल के क़ानून (Criminal Law and Civil Law)। न्यायालयों में इन दोनों प्रकार के क़ानूनों का उपयोग किया जाता है। अमेरिका (U. S. A) की सबसे बड़ी कचहरी प्रधान न्यायालय (Supreme Court) कहलाता है। वहाँ का प्रेसीडेन्ट जजों को नियुक्त करता है। सभी देशों में न्याय विभाग का प्रधान कार्यकारिणी का कोई सदस्य (Cabinet Minister) होता है। हमारे देश में बड़े लाट (Viceroy) की कौंसिल में एक मेम्बर (Law Member) न्याय विभाग का प्रधान होता है। फ्रान्स में इसी मेम्बर की सहायता से वहाँ का प्रेसीडेन्ट न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। लगभग सभी सभ्य देशों में जुरी (Jury) की प्रथा प्रचलित है। न्यायाधीशों की सहायता के लिये कुछ अन्य ५ या ७ व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं। कुछ मामलों में

ये अपनी राय न्यायाधीश को देते हैं। हमारे यहाँ भी जुरी की प्रथा है। लोगों का अनुमान है कि इस प्रथा से इन्साफ़ में सहूलियत होती है।

न्यायाधीशों का समय

न्यायाधीश कितने साल के लिये नियुक्त किये जायँ इस पर लोगों की भिन्न भिन्न रायें हैं। कुछ लोगों का विचार है कि ये जीवन पर्यन्त के लिये नियुक्त होने चाहिये। एक बार नियुक्त होने पर फिर उन्हें कोई हटा नहीं सकता। लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि न्यायाधीशों को तभी तक काम करना चाहिये जब तक उनका बर्ताव कार्यकारिणी और धारा सभा के साथ ठीक हो। परन्तु इन्हें जल्दी से निकाल देना भी ठीक नहीं है। इङ्गलैण्ड में न्यायाधीश तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक पार्लियामेन्ट उन्हें निकालने का प्रस्ताव बहुमत से पास न कर दे। हमारे देश में ये तब तक काम कर सकते हैं जब तक सम्राट (Crown) से सहमत रहते हैं। इनकी नियुक्ति काफ़ी परख के बाद होती है। हाईकोर्ट के जज वे ही नियुक्त किये जाते हैं जो कम से कम १० वर्ष तक हाईकोर्ट में वकालत किये हों। न्याय विभाग को पाक साफ़ रखने के लिये यह आवश्यक है कि जजों को अच्छी तनख्वाहें दी जायँ, ताकि वे आर्थिक कठिनाइयों में न रहें। कम तनख्वाहों में सबसे बड़ी बुराई यह होती है कि घूसख़ोरी का रवाज़ चल पड़ता है। कई महकमों में लोग कम तनख़ाह होते हुये भी काम करने के लिये लालायित रहते हैं। इसकी वजह यह होती है कि उन्हें बेजा तरीक़े से पैसे की आमदनी होती है। यदि न्याय विभाग में यह गन्दगी पैदा हो जाय तो इन्साफ़ नहीं हो सकता। अदालतें धनियों के हाथ की कठपुतली बन जायेंगी।

आदर्श न्याय विभाग

निष्पक्षता न्याय की कसौटी है। जिस न्यायालय में कोई भेद भाव नहीं किया जाता और क़ानून के आधार पर लोगों को उचित दंड दिया जाता है वही इन्साफ़ कर सकता है। न्यायालयों का कर्तव्य केवल दंड देना नहीं बल्कि उचित और अनुचित में फरक करना है। जहाँ अनुचित ढंग से कोई व्यक्ति एक दूसरे का हक़ छीन लेता है वहाँ न्यायालय उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। आदर्श न्याय के लिये आदर्श व्यक्तियों की आवश्यकता है। आदर्श व्यक्ति अच्छे

वातावरण में उत्पन्न होते हैं। इसीलिये शिक्षा का प्रचार राज्य का मुख्य कर्तव्य ठहराया गया है। जजों को इतनी अधिक तनख़्वाहें दी जायँ कि उन्हें अपने भरण पोषण के लिये औरों पर भरोसा न करना पड़े। राज्य के किसी विभाग का कर्मचारी न्याय विभाग के कामों में क़तई दख़ल न दे। जजों को क़ानून के अलावे किसी प्रकार की सिफ़ारिश सुनने से इन्कार कर देना चाहिये। उनके दिल में जो निष्पक्ष भाव से बात बैठे उसी की सहायता से फ़ैसला दें। देश काल और पात्र का ध्यान न्यायालयों को रखना चाहिये। जजों को कोमल और कठोर दोनों होना चाहिये। सख़्त से सख़्त दंड देने में उनका हृदय पिघलना नहीं चाहिये।

न्याय तभी हो सकता है जब क़ानून सुलझे हुये हों। यदि क़ानून साफ़ नहीं है और इसका कई अर्थ लगाया जा सकता है तो ठीक ठीक इन्साफ़ नहीं हो सकता। इसलिये व्यवस्थापिका सभा का कर्तव्य है कि वह क़ानूनों को जितना हो सके स्पष्ट करके न्यायालयों को दे। सरकार का कोई अंग अकेले तब तक ठीक काम नहीं कर सकता जब तक बाक़ी अंग अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन न करें। यदि कार्य कारिणी बे गुनाह लोगों को फँसा कर न्यायालयों में पेश करेगी तो जजों को इन्साफ़ करने में काफ़ी कठिनाई होगी। कितने ही निरपराध व्यक्ति जेलों में भेज दिये जायेंगे। इसलिये आदर्श न्याय विभाग के लिये जजों की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता के अतिरिक्त आदर्श कार्यकारिणी और आदर्श व्यवस्थापिका सभा की आवश्यकता है।

न्यायाधीश और क़ानून

व्यवस्थापिका सभा क़ानून बनाने में कितना भी सावधान क्यों न रहे थोड़ी बहुत कमी का रहना अनिवार्य है। क़ानूनों के दो दो और तीन तीन अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी मौक़े न्यायालयों में आ जाते हैं जिनके लिये उचित क़ानून का कोई विधान नहीं रहता। कारण यह है कि व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को मतभेद के सारे पहलुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। यह मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इस लिये जज को इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वह अपनी बुद्धि का प्रयोग इन अवसरों पर करता है। जब एक क़ानून के कई अर्थ लगाये जाते हैं तो वह उसी अर्थ का प्रयोग करता है जो उसकी बुद्धि में सबसे उचित होता है। कभी कभी तो लट्ठे और लकड़ी

में उसे फ़रक करना पड़ता है। ऐसे भी अपराध सामने आ जाते हैं जिनके लिये कोई क़ानून नहीं होता। ऐसी दशा में जज यह नहीं कह सकता कि वह इसका फ़ैसला नहीं करेगा, क्योंकि क़ानून की कमी है। उसे कोई न कोई मार्ग निकालना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर वह कुछ तो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और कुछ अन्य क़ानूनों का। इन दोनों का परिणाम यह होता है कि एक ओर तो क़ानून का मतलब साफ़ होता है और दूसरी ओर नये नये क़ानून बनते जाते हैं। न्यायालयों में कितने ही नये क़ानून बनते रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि न्याय विभाग धारा सभाओं के अधिकार का दुरुपयोग करता है बल्कि उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। धारा सभा इसे बुरा नहीं मानती। लगभग सभी देशों में इस प्रकार के क़ानूनों का प्रचार है। ये क़ानून अधिक सुलझे हुये और साफ़ होते हैं, क्योंकि जजों के वर्षों अनुभव के बाद बनते हैं। साथ ही कार्य रूप में इन्हें परिणत करना रहता है। इन क़ानूनों को न्यायाधीशों का क़ानून (Judge made-law) कहते हैं।

अध्याय १०

राजसत्ता (Sovereignty)

राजसत्ता की परिभाषा—राजसत्ता का स्वभाव—राजा कौन है या राजसत्ता कहाँ पाई जाती है ? सरकार और राजसत्ता – राजसत्ता के भेद— राजसत्ता का इतिहास—व्यापक वाद – क़ानून और राजसत्ता—राजसत्ता की सीमा—जान आस्टिन का सिद्धान्त ।

राजसत्ता की परिभाषा

प्रत्येक राज्य में एक ऐसी शक्ति होती है जहाँ सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत होती हैं। सरकार की बागडोर इसी शक्ति के हाथ में होती है। यही शक्ति राजसत्ता कहलाती है। वैसे तो सरकार की शक्तियाँ बिखरी हुई होती हैं और किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होतीं फिर भी कोई न कोई प्रधान अवश्य होता है। यही प्रधान व्यक्ति राजा (Sovereign) कहलाता है और उसकी शक्ति राजसत्ता (Sovereignty) कहलाती है । इंगलैण्ड का बादशाह वहाँ का सबसे प्रधान व्यक्ति है। हमारे देश में बड़े लाट साहब सबसे बड़े अफ़सर कहे जाते हैं। एक प्रकार से वे ही हिन्दुस्तान के राजा हैं। राजसत्ता उन्हीं के हाथ में है। लेकिन आगे चलकर यह विचार किया जायगा कि वास्तव में राजा कौन है और राज सत्ता कहाँ निवास करती है। इस प्रश्न पर लोगों के अनेक विचार हैं। राज सत्ता की परिभाषा करते हुये जान आस्टिन (John Austin) लिखता है, "यदि किसी राजनैतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति है जो किसी के मातहत नहीं है और सारा संगठित समाज उसकी आज्ञाओं का पालन करता है तो वह व्यक्ति राजा और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।"* प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ

---

* If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent.

बोदाँ (Bodin) लिखता है, "राजसत्ता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ी शक्ति है जिसे बड़ा से बड़ा क़ानून नहीं दबा सकता ।*

राजसत्ता राज्य में सबसे बड़ी राजनैतिक शक्ति है । उसे न तो कोई दबा सकता है और न राज से बाहर निकाल सकता है । राजसत्ता के बिना कोई राज्य जीवित नहीं रह सकता । राजसत्ता राज्य का प्राण है । जैसे कुटुम्ब में किसी मालिक की आवश्यकता होती है उसी तरह राज्य में एक स्वामी की आवश्यकता है । यही स्वामी राजा कहलाता है । भिन्न भिन्न देशों में वह अलग अलग नामों से सूचित किया जाता है । कहीं तानाशाह (Dictator), कहीं बादशाह (King or Emperor), और कहीं सभापति (President) कहलाता है । इनके नाम में भिन्नता भले ही हो परन्तु इन्हें जो शक्ति प्राप्त है उसका स्वरूप एक सा है । वह शक्ति राजसत्ता (Sovereignty) कहलाती है । कुछ राज्यों में यह शक्ति विशेष प्रबल होती हैं और कुछ में साधारण ।

राजसत्ता का स्वभाव

कोई चीज़ गुण-दोष से परे नहीं है । राजसत्ता के कुछ ऐसे गुण हैं जो अन्य सत्ताओं में नहीं पाये जाते । आमतौर पर इसके पाँच गुण कहे गये हैं । पहिला यह कि स्वभाव से ही राजसत्ता सर्व प्रधाने है वह किसी दूसरी सत्ता की मातहती में नहीं रह सकती । राज्य की जितनी भी शक्तियाँ होती हैं, राजसत्ता इन सबके ऊपर अपना सिक्का जमाये रहती है । उसकी इस मर्यादा में कमी पड़ते ही सरकार तितर-बितर हो जाती है । इसीलिये कहा गया है कि राज्य के बिना राजसत्ता और राजसत्ता के बिना राज्य जीवित नहीं रह सकते । राज्य के अन्दर सभी संगठनों वा समुदायों को राजा का हुक्म मानना पड़ता है । राजसत्ता का दूसरा गुण इसका स्थायीपन है । जब तक राज्य की नींव क़ायम है तब तक राजसत्ता दृढ़ बनी रहती है । ऐसा कहीं भी नहीं सुना गया कि राज्य क़ायम रहे और राजसत्ता नष्ट हो जाय । यह कहना कठिन है कि पहले राज्य हुआ या राजसत्ता । जिस तरह हम यह नहीं बतला सकते कि पहले मुर्ग़ी हुई या मुर्ग़ी का अंडा, उसी तरह राज्य और राजसत्ता की तिथि हम निश्चय नहीं कर सकते । राजसत्ता का तीसरा गुण इसकी

* Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws.

व्यापकता है। यह कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो एक ही स्थान पर कायम रहती है। राज्य के कोने कोने में यह ताकत बिखरी हुई है। हर व्यक्ति, हर संगठन इसकी ताकत से भयभीत रहता है। कोई भी अनियमित काम करते हुये इस शक्ति से डरता है। चोरी करने वाला शंकित रहता है कि कहीं राजसत्ता उसे दंड न देवे। राजसत्ता का चौथा गुण उसका अटूट सम्बन्ध है। दो व्यक्ति इसे आपस में बाँट नहीं सकते। एक राज्य में एक से अधिक राजसत्ता नहीं रह सकती। एक मुल्क के न दो बादशाह हो सकते हैं और न एक कुटुम्ब के दो स्वामी। इसी तरह राजसत्ता भी दो नहीं हो सकती। भ्रम से हम दो शक्तियों को राजसत्ता भले ही कह लें लेकिन यह बात असम्भव है। जैसे एक मियान में दो तलवार नहीं रहती उसी तरह एक देश में दो प्रधान शक्तियाँ निवास नहीं कर सकतीं।

राजसत्ता का अन्तिम गुण यह है कि वह अपनी शक्ति किसी और को प्रदान नहीं कर सकती। यदि यह शक्ति किसी अन्य को प्रदान कर दी गई तो वह स्वयं जीवित नहीं रह सकती। स्वाभाविक तरीके पर राजसत्ता स्वयं अपनी शक्ति किसी और को प्रदान कर ही नहीं सकती। एक अमेरिकन विद्वान् लीबर (Lieber) लिखता है, 'जिस प्रकार कोई मनुष्य अपना प्राण किसी और के शरीर में नहीं डाल सकता और न कोई पेड़ अपनी हरियाली किसी दूसरे पेड़ को दे सकता है, उसी प्रकार राजसत्ता अपनी शक्ति किसी अन्य को प्रदान नहीं कर सकती।"* इस मानी में राजसत्ता विवश है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक राजा को हटा कर कोई दूसरा राजा नहीं बन सकता। राजसत्ता किसी भी व्यक्ति के हाथ में दी जा सकती है। रूसो (Rousseau) के कथनानुसार राजसत्ता एक प्रकार की इच्छा है। इसलिये शक्ति तो हम बदल सकते हैं लेकिन इच्छा नहीं बदल सकते।†

---

* Sovereignty, says Lieber, can no more be alievated than a tree can alievate its right to sprout or a man can transfer his life and personality without self-destruction.

† The power indeed may be transmitted, but not the will.

राजा कौन है? या राजसत्ता कहाँ पाई जाती है?

राजा कौन है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि जो राज करता है वह राजा कहलाता है। फिर दूसरा प्रश्न उठता है, कि राज कौन करता है? किसी ऐसे देश को ले लीजिये जो एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। इङ्गलैंड में वहाँ का सम्राट राज्य करता है। वही बृटिश साम्राज्य का स्वामी है, उसी की फ़ौज है और ख़ज़ाने पर उसी का अधिकार है। छोटे से बड़े सभी अफ़सरों की नियुक्ति वही करता है। क़ानून बनाने के अधिकार उसी के हाथ में हैं। देश विदेशों से सुलह और लड़ाई वही कर सकता है। पार्लियामेंट को भंग कर उसके स्थान पर नई पार्लियामेंट बुला सकता है। इसे देखते हुये यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि क्या एक व्यक्ति इतने कामों को कर सकता है? यदि वह अपनी इच्छा से यह सब कुछ करता है तो क्या जनता भेंड़ है जो चुपचाप उसके पीछे पीछे चलती रहती है? बादशाह सब कुछ कर लेता है तो पार्लियामेंट और कैबिनेट की क्या आवश्यकता है? क्या ये सब उसके हाथ की कठपुतली हैं? इसीलिये यह बतलाना कठिन है कि राजसत्ता कहाँ निवास करती है। अकेले राजा के हाथ में सारी शक्ति नहीं रह सकती। राज्य में सभी कर्मचारियों को थोड़े बहुत अधिकार प्राप्त होते हैं। इन्हीं की सहायता से सरकार का काम चलता है। इसलिये किसी न किसी अर्थ में सभी कर्मचारी राज करते हैं। ज़िले का कलक्टर और प्रान्त का गवर्नर दोनों अपने अपने क्षेत्र में राजा हैं।

इससे स्पष्ट है कि राजसत्ता किसी एक के हाथ में नहीं रहती। प्राचीन काल में राजाओं को अपने राज्य में प्रजा पर पूरा अधिकार होता था। क़ानून बनाना, टेक्स लगाना, अपराधियों को दंड देना, सरकारी कर्मचारियों को नियुक्त करना, आदि कार्य राजा के हाथ में रहते थे। फिर भी यह कहना कठिन है कि सम्पूर्ण राजसत्ता उसी के हाथ में रहती थी। राजा किसी न किसी से सलाह लेते रहे होंगे। मन्त्री अथवा उनके मित्र राजकीय कामों में उनकी मदद अवश्य करते होंगे। वे पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि धार्मिक तथा सामाजिक नियम उन्हें मानने पड़ते थे। उनकी निजी शक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधक थी। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि राजा न तो पूर्ण स्वतन्त्र होता है और न सारी शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है।

ये दोनों बातें असम्भव हैं। इङ्गलैंड में राजा, पार्लियामेंट, कैबिनेट तथा और छोटे छोटे अफ़सर वहाँ का शासन करते हैं। वे सभी वहाँ के राजा कहे जा सकते हैं। थोड़ी बहुत राजसत्ता इन सबके हाथ में है। ऊपर कहा गया है कि राजा सब कुछ करता है और सारी शक्ति उसी के हाथ में है। लेकिन कार्य रूप में यह बात नहीं है। न तो बादशाह के हाथ में कोई शक्ति है और न ख़ुद वह कुछ करता है। वह प्रधान मन्त्री (Prime Minister) के हाथ की कठपुतली है। बिना उसकी मर्ज़ी के वह विदेश यात्रा तक नहीं कर सकता। क़ानूनों पर दस्तख़त उसी की मर्ज़ी से करता है। बिना उसकी सलाह के किसी दावत में शरीक तक नहीं हो सकता। वह जिस स्त्री से चाहे विवाह नहीं कर सकता। इसी स्वतन्त्रता के कारण इङ्गलैंड के एक बादशाह को गद्दी छोड़ देनी पड़ी। किसी पत्र पत्रिका में बादशाह कोई स्वतन्त्र लेख नहीं लिख सकता और न कहीं एक शब्द बोल सकता है। वह जिससे चाहे मिल भी नहीं सकता।

ये उदाहरण इस बात के लिये काफ़ी हैं कि राजा के हाथ में कोई शक्ति नहीं है। वह नाम के लिये राजा है। असली राजा पार्लियामेंट, कैबिनेट और प्रधान मन्त्री हैं। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या इनके ऊपर कोई अनुशासन नहीं है? क्या पार्लियामेंट जो क़ानून चाहे बना सकती है? ऐसी बात नहीं है। जनता का उसे प्रतिक्षण भय रहता है। पार्लियामेंट के सदस्य जनता के प्रतिनिधि हैं। वे उसकी मर्ज़ी के विपरीत नहीं जा सकते। जनता की जो आवश्यकता होती है उसी पर पार्लियामेंट के सदस्य विचार करते हैं। कैबिनेट स्वयं पार्लियामेंट की एक कमेटी है। इसलिये जनता सर्वोपरि है। इसीलिये कहा जाता है कि इंगलैंड में प्रजा-तन्त्रवाद का ज़ोर है। वहाँ का असली राजा जनता है। लेकिन यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि जब प्रजा स्वयं अपना राज करती है तो राजा प्रजा में भेद क्या है? इस दशा में यह पता लगाना और भी कठिन है कि राजसत्ता किसके हाथ में है। न तो वह बादशाह के हाथ में है, न कैबिनेट के, न पार्लियामेंट के, और न किसी ख़ास अफ़सर के। यदि यह कहें कि राजसत्ता प्रजा के हाथ में है तो 'राजा' और 'राजा' की आवश्यकता ही क्या है? अच्छा होगा कि हम उस शक्ति को "प्रजासत्ता" कहें। इस लम्बी व्याख्या के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि न कोई राजा है और न 'राजसत्ता' कोई चीज़ है। फिर यह प्रश्न ही क्यों उठाया गया। यही बात अन्य देशों में भी पाई जाती है।

लोग यह समझते हैं कि अमेरिका का प्रेसीडेन्ट वहाँ का राजा है और सारी राजनैतिक शक्तियाँ उसी के हाथ में हैं। लेकिन कार्य रूप में बात ऐसी नहीं हैं। लीकाक लिखता है, "अमेरिका का प्रेसीडेन्ट, कांग्रेस, रियासतों की सरकार, इनमें से कोई भी वहाँ का राजा नहीं है। प्रधान राजनैतिक शक्ति किसी और जगह है"।*

हमारे देश में भी वाइसराय, उसकी कौंसिल, गवर्नर आदि यहाँ के राजा नहीं कहे जा सकते। स्वयं शासन विधान इस बात को स्वीकार करता है कि असली राजसत्ता इंगलैंड में है जो बादशाह, पार्लियामेंट और कैबिनेट के हाथों में निवास करती है। लेकिन ऊपर इस बात की चर्चा की गई है कि ये तीनों शक्तियाँ जनता की शक्ति के नीचे काम करती हैं, इसलिये हम इन्हें राजसत्ता नहीं कह सकते। जब ये अपने ही देश के राजा नहीं हैं तो हमारे देश के राजा कैसे बन सकते हैं। किसी शासन पद्धति के अन्दर यह पता लगाना कठिन है कि राजसत्ता कहाँ निवास करती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि राजसत्ता हर मुल्क में जनता के हाथ में होती है। वह जब चाहे शासन पद्धति को बदल सकती है और राजा को निकाल बाहर कर सकती है। शासन-व्यवस्था प्रजा की बनाई हुई चीज़ है। सरकारी नौकर जनता के पैसे से जीवित रहते हैं, इसलिये वे उसी के नौकर हैं। लेकिन हमें एक बात याद रखनी चाहिये कि 'जनता' शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। इसका अर्थ केवल 'मतदाताओं' से है। इसमें भी एक कठिनाई है। जनता स्वयं कोई चीज़ नहीं है। न तो इसका कोई निश्चित स्वरूप है और न कुछ ख़ास व्यक्ति अपने को जनता कह सकते हैं। तो फिर राजसत्ता कहाँ रहेगी। जान आस्टिन (John Austin) के कथनानुसार यह किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति में होनी चाहिये। रूसो की तरह यह कोई अप्रत्यक्ष (General Will) वस्तु नहीं है। एक दूसरे प्रकार के राजनीतिज्ञ यह दलील पेश करते हैं कि राज्य में सर्व शक्तिमान वही व्यक्ति वा समूह है जो शासन-विधान को बदल सकता है।

---

* Neither the president nor the congress nor the state government is the body invested with the sovereign power of the state. The supreme authority lies elsewhere.

उसी शक्ति को राजसत्ता कहना ठीक है। लेकिन यह कैसे कहा जाय कि अमुक शक्ति शासन पद्धति को बदल सकती है। जनता क्रान्ति द्वारा मालूम नहीं कितनी बार शासन पद्धति को पलट देती है। रूस की १९१७ ई० की क्रान्ति इस बात का सबूत है। तो क्या हम कह सकते हैं कि 'क्रान्ति' ही एक ऐसी शक्ति है जिसे 'राजसत्ता' कहा जा सकता है? इस प्रकार की दलीलों से हम पार नहीं पा सकते।

सरकार और राजसत्ता

पिछले अध्याय में यह कहा गया है कि सरकार स्वयं कोई चीज़ नहीं है। वह समस्त सरकारी कर्मचारियों से मिलकर बनी हुई एक शक्ति है। इन कर्मचारियों को राज्य की ओर से किसी न किसी प्रकार की शक्ति प्राप्त रहती है। इन शक्तियों की देख-रेख के लिये एक प्रधान शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। वही प्रधान शक्ति राजसत्ता कहलाती है। जिस प्रकार हम सरकार को देख नहीं सकते और न उसकी कोई शकल खींच सकते हैं उसी तरह राजसत्ता को भी हम नहीं देख सकते। इसी के बल पर सरकार चलती रहती है। इन दोनों को एक दूसरे से शक्ति मिलती है। इसलिये राजसत्ता सरकार का एक विशेष गुण है। इसे क़ायम रखने के लिये सरकार को भीतर और बाहर दोनों तरफ़ से देश को स्वतन्त्र रखना पड़ता है। परतन्त्र सरकार की कोई राजसत्ता नहीं होती। इसी बलपर सरकार किसी के सामने अपना सर नहीं झुकाती। कभी कभी सरकार और राजसत्ता ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। जब हम कहते हैं कि पोलैंड की सरकार का अन्त हो गया तो इसका यह भी अर्थ है कि वहाँ की राजसत्ता ख़तम हो गई। स्पेन की सरकार कमजोर है अर्थात् वहाँ की राजसत्ता कमज़ोर है। अमुक देश की सरकार बदल गई का अर्थ यही है कि वहाँ की राजसत्ता एक के हाथ से निकल कर किसी दूसरे के हाथ में चली गई। इतनी एकता होते हुये भी दोनों दो चीज़ें हैं। सरकार राज्य की एक मशीन है और राजसत्ता राज्य का एक विशेष गुण है। सरकार एक संगठन है और राजसत्ता एक शक्ति है। सरकार का रूप बदलता रहता हैं, कभी वह कमज़ोर और कभी मज़बूत रहती है, लेकिन राजसत्ता सदैव प्रधान और एक सी बनी रहती है।

राजसत्ता के भेद

वास्तव में राजसत्ता बाँटी नहीं जा सकती। किसी देश में दो राज सत्ता साथ साथ नहीं रह सकती। कुछ विद्वानों ने इसके भेद किये हैं, परन्तु हम उसे भेद नहीं

कह सकते । व्यापक रूप से इसे समझाने के वे विभिन्न प्रकार हैं। पहिला भेद यह किया जाता है कि राजसत्ता दो प्रकार की होती है। एक झूठी और दूसरी सच्ची। इङ्गलैंड का बादशाह झूठी राजसत्ता रखता है। वह कहने को तो बादशाह है, लेकिन उसे अधिकार कुछ नहीं है। लेकिन बादशाह और पार्लियामेंट एक साथ मिलकर सच्ची राजसत्ता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। दूसरा भेद क़ानूनी और राजनैतिक राजसत्ता है। कानूनी राजसत्ता वह है जो कानूनन सर्व श्रेष्ठ ठहराई जाती है, लेकिन दैनिक और प्रत्यक्ष राजनीति में उसका कोई हाथ नहीं होता। उसकी आवश्यकता इतनी ज़रूर है कि लोग उसे देखते रहें और यह न समझें कि उनका कोई राजा नहीं है। इङ्गलैंड में बादशाह और पार्लियामेंट दोनों क़ानूनी राजा समझे जाते हैं। परन्तु असली राजसत्ता जनता के हाथों में रक्खी गई है। वही राजनैतिक राजसत्ता का स्वरूप है। कभी कभी एक ही व्यक्ति में क़ानूनी और राजनैतिक दोनों प्रकार की राजसत्ता पाई जाती है। यदि कोई बादशाह सारी शक्ति अपने हाथ में रखता है तो वह क़ानूनी और राजनैतिक दोनों प्रकार की राजसत्ता का अधिकारी है। क़ानून उसे राजा घोषित करते हैं और दैनिक जीवन में भी वह सभी कार्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। राजसत्ता का तीसरा भेद असली और नकली राजसत्ता है। इसका उदाहरण हमें अफ़ग़ानिस्तान में दिखलाई पड़ता है। अमानुल्लाह वहाँ का असली राजा था। क़ानूनन और जनता की ओर से वह राजा स्वीकार किया गया था। अफ़ग़ानिस्तान में बलवा हुआ। अमानुल्लाह निकाल दिया गया और बच्चा शक़ा वहाँ का राजा बन बैठा। न तो जनता उसे चाहती थी और न क़ानून से ही वह राजा था। लेकिन उसने अपने को राजा घोषित कर दिया। अन्त में नादिर खाँ ने उसे भी निकाल दिया और ख़ुद अफ़ग़ानिस्तान का राजा बन बैठा। इसलिये बच्चा शक़ा और नादिर खाँ दोनों नकली राजा थे। बाद में नादिर खाँ को जनता ने राजा स्वीकार कर लिया और वह नकली से असली राजा बन गया। राजसत्ता की असलियत को समझने के लिये ये भेद बड़े काम के हैं।

राजसत्ता का इतिहास

राजसत्ता उतनी ही पुरानी है जितना राज्य। इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ हुई है। अरस्तू और अफ़लातून ने इस सत्ता का ज़िक्र किया है। अफ़लातून ने राजा को दार्शनिक तथा रक्षक (Philosopher King

or the Guardian) कहा है। अरस्तू ने इसी राजसत्ता के आधार पर राज्य को तीन भागों में विभाजित किया है। यूनान में राजसत्ता एक महत्वपूर्ण और पवित्र शक्ति समझी जाती थी और वह अपने रंग में राज्य के ढाल सकती थी। वहाँ की रियासतों का अन्त होते ही रोमन साम्राज्य की नीव पड़ी। रोम नगर बढ़ते बढ़ते रोमन साम्राज्य हो गया। रोम सम्राट और सीनेट अपने को इसका कर्ता धर्ता समझते थे। लेकिन क़ानूनन राजसत्ता जनता की चीज समझी जाती थी। वह उन्हीं के हाथों में रक्खी गई थी।

आधुनिक युग में जो राजसत्ता का अर्थ लगाया जाता है उसका जन्म फ़्यूडल काल में हुआ था। जो राजा अपनी भूमि को छोटे छोटे राजाओं में बाँटता वह इन सब का सिरताज समझा जाता था। वही सब का राजनैतिक गुरु माना जाता था। वैसे तो राज्य में छोटे छोटे कई राजा थे लेकिन सर्व प्रधान एक ही समझा जाता था। तभी से आज तक यह परिभाषा चली आ रही है कि "राजसत्ता सर्व प्रधान राजनैतिक शक्ति है।" छोटे छोटे राजाओं को उसकी आज्ञा माननी पड़ती थी। उसकी सर्व प्रधानता में किसी को शक़ नहीं था। हुक्म और आज्ञा पालन की जो जड़ फ़्यूडल काल में डाली गई थी वह बढ़ती गई। उसका रूप बदलते बदलते आज क़ानून और आज्ञा पालन हो गया। गिर्क (Gierke) लिखता है कि आधुनिक राजसत्ता का जन्म उस समय हुआ जब कि पोप और सम्राट में राज्य के लिये लड़ाइयाँ हुई थीं।* इसके बाद हाब्स (Hobbes) और बोदाँ (Bodin) ने राजसत्ता पर और अधिक प्रकाश डाला। बाद में इस पर पोथे के पोथे लिखे गये। बीसवीं सदी के कुछ राजनीतिज्ञों ने राजसत्ता के अर्थ को एकदम पलट दिया है। उनका कहना है कि व्यावसायिक क्रान्ति ने जैसे मनुष्य के जीवन के सारे पहलुओं को बदल दिया उसी तरह राजसत्ता भी अब वह नहीं रही जो बीसवीं सदी के पहले थी। इस सिद्धान्त को व्यापकवाद (Pluralism) कहते हैं।

राजसत्ता में व्यापकवाद के प्रचारक मुख्य तीन व्यक्ति हैं। जी० डी० एच० कोल, डूगिट और लास्की (G. D. H. Cole, Duguit

---

* "......It was in this struggle of the church...... with the feudal lords......that the modern conception of sovereignty was developed."

व्यापकवाद (Pluralism)

and Laski)। इनका कहना है कि राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है किसी एक व्यक्ति या गिरोह के हाथों में रक्खी जाय। राज्य के अन्दर बहुत से संगठन होते हैं। प्रत्येक संगठन राज्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना बड़ा से बड़ा सरकारी अफ़सर। दैनिक जीवन में उन संगठनों से व्यक्ति को सरकारी अफ़सरों से कहीं अधिक लाभ पहुँचता है। इसलिये राजसत्ता का कुछ अंश उन संगठनों के हाथ में भी होना चाहिये। वे शक्ति को लिये बिना नहीं रह सकते। राज्य किसी हिन्दू को मुसलमान नहीं बना सकता। दोनों को अपने अपने मज़हब प्रिय हैं। इसलिये राज्य की बड़ी से बड़ी सत्ता यह कहने की अधिकारी नहीं है कि वह सब कुछ कर सकती है। कल्याण तभी होगा जब सरकार राजसत्ता को नीचे से ऊपर तक बाँट दे। वह हर संगठन की वास्तविकता को समझे और उसे शक्ति प्रदान करने में थोड़ी भी हिचक न करे। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद न केवल व्यावसायिक बल्कि विचार तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के संगठनों की बेतरह वृद्धि हुई है। सरकार इन्हें शक्ति प्रदान करके इनके कार्यों को उत्साहित करे। वह यह न डरे कि अमुक संगठन बढ़ते बढ़ते राज्य पर हावी हो जायगा। यदि राज्य का उद्देश्य प्रजा की सेवा और उन्नति करना है तो ये संगठन भी आज काफ़ी सेवा कर रहे हैं। मज़दूर दल, किसान दल, शिक्षा संगठन, विश्वविद्यालय, स्वास्थ्य गृह, ये सब अपने अपने मार्ग में स्वतन्त्र होने चाहिये। सरकार केवल इन्हें आपस में संयोजित करती रहे। ये सभी राज्य के अंग हैं। जैसे शरीर में हाथ का महत्व कम नहीं है उसी तरह इन संगठनों का महत्व राज्य में काफ़ी बड़ा है। किसी वस्तु का हिस्सा उतना ही आवश्यक है जितना सम्पूर्ण वस्तु। इसलिये इन संगठनों को थोड़ी बहुत राजसत्ता प्राप्त है और होनी भी चाहिये।

आधुनिक युग प्रजातन्त्रवाद का युग है। प्रजा को अधिक से अधिक शक्ति और अधिकार मिलते जायँ यह इस युग की एक विशेषता है। व्यापकवादियों (Pluralists) का उद्देश्य है कि जनता के सभी उचित कार्यों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यदि आज भी राजसत्ता किसी ख़ास जमाअत के हाथों में पड़ी रहे तो प्रजातन्त्रवाद का कोई अर्थ नहीं है। जब स्वयं प्रजातन्त्रवादी देश इस बात का एलान करते हैं कि उनका उद्देश्य प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्र कर समस्त राजकीय शक्तियों को जनता में वितरण कर देना है तो उन्हें इसी ओर बढ़ना चाहिये। व्यापकवाद प्रजा की शक्ति

को बढ़ाने का एक आधुनिक आन्दोलन है। इससे न केवल प्रजातन्त्रवाद की उन्नति होगी बल्कि और वाद भी इस सिद्धान्त की नकल करेंगे। प्रजा की शक्ति के साथ उनकी स्वतन्त्रता और क्रियायें बढ़ती जायँगी। बहुत मुमकिन है किसी समय ये संगठन जनता की सच्ची भलाई के हकदार बन बैठें और राजसत्ता कोई चीज़ न रह जाय।

जो लोग राजसत्ता के एकीकरण वाले सिद्धान्त में विश्वास करते हैं वे व्यापकवाद को ख़तरनाक और बेकार कहते हैं। उनका कहना है कि यदि इन संगठनों में व्यक्ति अपने आप को भुला देगा तो क़ानून के आज्ञापालन की आवश्यकता नहीं रह जायगी। राज्य सरीखे बड़े संगठन को, जो सदियों से बड़ी छान बीन के साथ बनाया गया है, छोटे छोटे संगठनों के लिये नेस्त नाबूद कर देना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। आलोचकों की यह दलील है कि मौजूदा मज़दूर संगठन के हल्ला तूफ़ान को देखते हुये कोई कहने की हिम्मत न करेगा कि इस प्रकार के संगठनों को सरकार प्रोत्साहन देती रहे। जो कुछ भी हो, यह स्वीकार करना अच्छा होगा कि संगठनों का काफ़ी महत्व है और उन्हें राज्य की ओर से शक्ति मिलनी चाहिये।

क़ानून और राजसत्ता

कहा जाता है कि, "कानून एक प्रकार का हुक्म है जिसे राजसत्ता जारी करती है।"* इसका तात्पर्य यह है कि राजसत्ता और क़ानून दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक राजसत्ता की आज्ञा न हो। राजसत्ता चाहे राजा में हो, या पार्लियामेंट में, अथवा जनता में, क़ानून पर उसका एक सा असर पड़ता है। उस व्यक्ति वा गिरोह के अलावे, जिसे राजसत्ता प्राप्त है, कोई क़ानून बनाने का अधिकारी नहीं है। क़ानून स्वयं एक प्रकार की शक्ति है जो राजसत्ता से प्राप्त होती है। यदि राजसत्ता का भय न हो तो रोज़ क़ानून तोड़ने वालों की भरमार लग जाय। जब कानून बनाने का अधिकार राजा को प्राप्त है तो क्या वह सभी तरह के कानून बना सकता है? प्रजा राज्य के उन क़ानूनों को नहीं मान सकती जो उसकी भलाई और उन्नति में बाधक हों। राजसत्ता के अभिमान में कोई राजा अन्याय नहीं कर सकता। राजसत्ता

---

* Law is a command issued by the supreme political authority.

को धर्म और व्यक्तिगत मामले में दख़ल देने का अधिकार नहीं है। वह उन्हीं कानूनों का पालन करा सकती है जो प्रजा की इच्छा के अनुकूल उसकी मर्ज़ी से बनाये गये हों।

ऊपर कहा गया है कि राजसत्ता की शक्ति अनन्त है। उसकी सीमा का कहीं अन्त नहीं है। लेकिन कार्य रूप में उसके लिये भी अनेक रुकावटें हैं। वह किसी ऐसे क़ानून का प्रचार नहीं कर सकती जो किसी धर्म वा न्याय के विरुद्ध हो। इस प्रकार के कानूनों का विरोध जनता खुले दिल से करेगी, और राजसत्ता को उसके सामने झुकना होगा। उसके अन्दर प्रजा पर शासन करने की जितनी शक्ति होगी, चाहे वह शक्ति शारीरिक, मानसिक, वा आध्यात्मिक हो, उसी हद तक वह प्रजा को दबा सकती है। बड़े बड़े तानाशाहों की शक्ति का कहीं न कहीं हद है। वे ज़मीन और आसमान एक भले ही कर देना चाहें लेकिन ऐसी शक्ति उनके पास नहीं होती। अपने राज्य में वे जो कुछ करना चाहते हैं सब नहीं होता। कारण यह है कि शक्ति से हर चीज़ परिमित है। हर व्यक्ति वा संगठन का एक व्यक्तित्व होता है। वह जितना बड़ा होगा उसी हद तक मनुष्य अपनी योजना में सफल होगा। डाइसी (Dicey) लिखता है, 'राजसत्ता प्राकृतिक नियमों का उलंघन नहीं कर सकती।' इसका तात्पर्य यह है कि कुछ दैवी तथा प्राकृतिक बन्धन राजसत्ता को सब कुछ करने से रोकते हैं। ब्लन्चली (Bluntschli) लिखता है, "ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है जो सर्वथा स्वतन्त्र हो। यहाँ तक कि राज्य का पूरा हंगामा सर्वशक्तिमान नहीं है। यह बाह्य, आन्तरिक, अन्य राज्यों के अधिकार, अपनी शक्ति तथा व्यक्तिगत अधिकारों से घिरा हुआ है।"* जैसे व्यक्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता समाज में सम्भव नहीं है उसी तरह राजसत्ता भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती। उसे प्रजा की शक्ति और नीयत का ध्यान रखते हुए काम करना पड़ता है।

राजसत्ता की सीमा

---

* There is no such thing as absolute independence, even the state as a whole is not almighty; for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and the rights of its individual members.

राजसत्ता की शक्ति चार प्रकार से घिरी हुई है। वह इनकी सीमा का उलंघन नहीं कर सकती। सबसे पहली रुकावट तो दैवी शक्ति है। इसका दूसरा नाम प्राकृतिक नियम है। जिस प्रकार ये शक्तियाँ व्यक्ति के लिये पथ प्रदर्शक हैं उसी तरह राजसत्ता भी इनके प्रतिकूल नहीं जा सकती। जड़ और चेतन सभी पदार्थ इस दैवी शक्ति के आश्रित हैं, राजसत्ता इसमें अपवाद नहीं है। दूसरी रुकावट शासन पद्धति की है। सरकार जो नियम एक बार बनाती है उसका वह स्वयं उलंघन नहीं कर सकती। राजसत्ता अपनी ही बनाई हुई शासन पद्धति को कैसे तोड़ सकती है। प्रजा की अनुमति लेकर वह उसमें परिवर्तन कर सकती है। सरकारी कर्मचारी शासन पद्धति की भले ही अवहेलना करें, परन्तु राजसत्ता ऐसा नहीं कर सकती।* उसकी तीसरी रुकावट अन्तर्राष्ट्रीय नियम हैं। कोई भी राजसत्ता इनका उलंघन नहीं कर सकती। विश्व शान्ति के लिये इनका पालन अनिवार्य है। जापान, जर्मनी, इटली आदि देशों की राजसत्ता ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की खुले आम अवहेलना की है फिर भी वे राज्य राष्ट्रों की उच्च श्रेणी में गिने जाते हैं। परन्तु इन नियमों के उलंघन से विश्वव्यापी युद्ध के रूप में संसार को एक बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी है। राजसत्ता अपने देश के रीति रवाजों से घिरी होती है। धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध वह आवाज़ नहीं उठा सकती। रसम रवाज़ का बन्धन राजकीय क़ानूनों से बढ़कर होता है। बड़ी से बड़ी शक्ति इनका तिरस्कार नहीं कर सकती। वह कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो जाय, इन्हें बचा कर ही उसे चलना पड़ता है। इतिहासकारों ने औरंगज़ेब को स्वेच्छाचारी और सख़्त कहा है। उसके तलवार की धाक हिन्दू और मुसलमान दोनों मानते थे। फिर भी धर्म में वह इतना विश्वास करता था कि क़ुरान की आयतों का कभी विरोध नहीं करता। इसलाम को वह अपनी ताक़त से बढ़कर समझता था।

जान आस्टिन का सिद्धान्त

राजसत्ता के समस्त सिद्धान्तों में जान आस्टिन (John Austin) का सिद्धान्त बड़े मार्के का है। वह इङ्गलैण्ड में एक प्रसिद्ध वकील था। उसने १८३२ ई० में अपनी एक पुस्तक "लेक्चर्स आन जूरिस प्रूडेन्स (Lectures on jurisprudence) में राजसत्ता पर अपना

* The constitution limits the government, not the state.

विचार प्रकट किया था। तब से बराबर उस पर टीका टिप्पणी होती आ रही है। आस्टिन के ही शब्दों में उसका सिद्धान्त रखना अच्छा होगा। वह लिखता है। "राजसत्ता और राज्य की व्याख्या हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं·········जो मनुष्य औरों पर हुक्म चलाते हुये, स्वयं किसी के आज्ञा-पालन के लिये बाध्य नहीं है, वही राजा है। जिस समाज वा क्षेत्र में उसकी आज्ञा का निर्विरोध पालन होता है वह राज्य कहलाता है। राजा और प्रजा का स्पष्टीकरण उसी स्वतन्त्र समाज वा राज्य में होता है।"*

आस्टिन के इस सिद्धान्त की व्याख्या करने पर इसमें तीन ख़ास बातें दिखाई पड़ती हैं :—

१—प्रत्येक राज्य में एक प्रत्यक्ष राजसत्ता का होना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना सरकारी क़ानून नहीं बन सकते। क्योंकि आस्टिन स्वयं लिखता है कि राजसत्ता चाहे किसी व्यक्ति अथवा समूह के हाथों में, उसका स्वरूप प्रस्यक्ष होना चाहिये।

२—राजसत्ता की शक्ति किसी भी तरह से सीमित नहीं है। वह किसी दूसरी शक्ति से घिरी नहीं रह सकती। वह पूर्ण स्वतन्त्र और असीम है।

३—राजसत्ता के टुकड़े नहीं किये जा सकते। एक राज्य में दो राजसत्ता नहीं रह सकती। एकीकरण राजसत्ता का प्रधान गुण है।

आस्टिन के इस सिद्धान्त में कानूनी दृष्टि से काफ़ी सचाई मौजूद है, लेकिन कार्य रूप में यह सिद्धान्त असम्भव है। संसार में ईश्वर के अतिरिक्त

---

* "The notions of sovereignty and independent political society may be expressed thus......If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receive habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society, and the society including the superior, is a society political and independent. To that determinate superior the other members of the society are subjects........"

किसी असीम शक्ति का अनुमान ही ग़लत है। एक भी राजा इतिहास के किसी युग में दिखाई नहीं पड़ता जो सभी प्रकार से स्वतन्त्र रहा हो। आज भी संसार के किसी देश अथवा गिरोह में ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसकी ताकत की सीमा न हो। संघ शासन में आस्टिन का सिद्धान्त फेल कर जाता है। अमेरिका में हम यह नहीं कह सकते कि राजसत्ता कहाँ है। उसने अँग्रेजी शासन विधान की बिलकुल ग़लत व्याख्या की है। यदि वह राजसत्ता को क़ानूनी और राजनैतिक दो भागों में न बाँटे होता तो उसके सिद्धान्त की और भी छीछालेदर होती।

अध्याय ११

शासन-विधान

(Constitution of the state)

परिभाषा शासन-विधान की आवश्यकता—शासन-विधान के गुण—स्पष्टता—व्यापकता—सरलता—परिवर्तन-शीलता—शासन-विधान का वर्गीकरण—लिखित और अलिखित शासन-विधान—विकसित और बनावटी शासन विधान—परिवर्तन-शील और अपरिवर्तनशील शासन-विधान—एकात्मक और संघात्मक शासन-विधान—उपसंहार।

कोई राज्य ऐसा नहीं हो सकता जहाँ किसी प्रकार का शासन विधान न हो। इसे पहचानने के लिये राज्य के सम्पूर्ण सरकारी संगठन की जानकारी रखनी होगी। इसकी परिभाषा के विषय में लेखकों के भिन्न भिन्न मत हैं।

परिभाषा

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डाइसी लिखता है, "शासन-विधान उन राजकीय नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से राजसत्ता पर अपना प्रभाव डालते हैं*।" नीतिशास्त्र का विद्वान् आस्टिन लिखता है, "शासन-विधान उस नियम को कहते हैं जो सरकार की रूप रेखा का निर्माण करता है†।" यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का कहना है, "शासन-विधान वह पद्धति है जिसके द्वारा राज्य के सभी नागरिक एक सूत्र में बाँधे जाते हैं‡।"

---

* All rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of sovereign power in the state.

† That which fixes the structure of the supreme government.

‡ The constitution is the way in which citizens, who are the component parts of the state, are arranged in relation to one another.

लीकाक ने इसकी परिभाषा केवल ६ शब्दों में की है। वह लिखता है "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन-विधान कहते हैं।"* ब्राइस के कथनानुसार "शासन-विधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकार के आकार का निर्माण और उसके प्रति नागरिक के अधिकार और कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं†।"

इन परिभाषाओं में थोड़ा बहुत भेद अवश्य है परन्तु गहराई के साथ विचार करने पर सबमें एक घनिष्ठ एकता पाई जाती है। शासन-विधान और सरकारी संगठन दोनों एक हैं। केवल नाम का भेद है। यह विचार करना ग़लत है कि कोई देश बिना शासन-विधान के जीवित रह सकता है। वैसे तो देश में आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के संगठन होते हैं;. सबकी उपयोगिता कम नहीं है; परन्तु राजनैतिक संगठन इन सबके ऊपर होता है। इसी के नियन्त्रण में अन्य संगठन अपना कार्य करते हैं। इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए शासन-विधान की परिभाषा एक और प्रकार से की जा सकती है। राजनैतिक संगठन देश में सबसे महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है। इसी से देश की उन्नति अवनति का प्रश्न हल होता है। यदि शासन-विधान देश की जलवायु तथा परम्परा के अनुकूल है तो उससे नागरिकों को अधिक लाभ पहुँचेगा। इसके विपरीत यदि वह लोकमत के विरुद्ध है तो राज्य में सभी प्रकार की अशांति रहेगी। नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य बहुत कुछ शासन-विधान द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। यदि इसकी विस्तृत व्याख्या की जाय तो हमें इसी नतीजे पर पहुँचना होगा कि शासन-पद्धति उस राजनैतिक विधान को कहते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक संगठन होते हैं, जिसमें सरकार के प्रति नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्याख्या होती है और जिससे सरकार की रूपरेखा का निर्माण किया जाता है।

जिस संगठन से राज्य में शांति की स्थापना हो और व्यक्ति उसके अन्तर्गत अपने अधिकारों और कर्तव्यों को पहचाने, उसकी

* The form of any particular state.

† The constitution of a state or a nation consists of those of its rules or laws which determine the form of the government and the respective rights and duties of the citizens towards the government.

शासन-विधान की आवश्यकता

आवश्यकता कितनी अधिक है, पाठकगण स्वयं इस पर विचार कर सकते हैं। नीचे से ऊपर तक सारे देश में सरकारी संगठन का एक जाल फैला रहता है। गाँव के चौकीदार से लेकर गवर्नर-जनरल तक अनेक कर्मचारी इसके अन्दर कार्य करते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि इन सबके अधिकार भली भाँति स्पष्ट किये गये हों। प्रत्येक को इस बात की पूरी जानकारी हो कि जनता तथा सरकार के प्रति उसके क्या कर्तव्य हैं। शासन-विधान में इसकी पूरी व्याख्या की जाती है। इसकी अनुपस्थिति में सरकार के सभी काम उलझन में पड़ सकते हैं। यह कैसे सम्भव है कि कोई मनुष्य शरीर की सुडौल बनावट के बिना अपने को सर्वांग पूर्ण और स्वस्थ बना सके? यदि राज्य में राजा ही सब कुछ है तब भी कुछ विषयों को स्पष्ट करने के लिये इस बात की आवश्यकता पड़ेगी कि शासन की सुविधा के लिये कुछ लिखित नियम मौजूद हों। छोटा या बड़ा, प्रजातंत्र या एकतंत्र कैसा भी राज्य हो, शासन-विधान के बिना उसका कार्य नहीं चल सकता।

सम्भव है किसी देश का शासन-विधान लिखित न हो। फ्रांस के इतिहास में एक लम्बा समय बिना किसी शासन-विधान के पाया जाता है। कुछ फ्रेंच राजनीतिज्ञ आज भी यह कहते हैं कि फ्रांस में कोई शासन-विधान नहीं है। हिन्दोस्तान के सूबों में आज जिस प्रकार का शासन-विधान चल रहा है उसे देखते हुये हम कह सकते हैं कि उनमें कोई शासन नहीं है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। शासन-विधान के बिना सरकार का कार्य एक दिन भी नहीं चल सकता। कोई संगठन तब तक नहीं बनाया जा सकता जब तक इसका एक स्वरूप निश्चित न कर लिया जाय। शासन-विधान सरकारी ढाँचे का एक स्वरूप है।

शासन विधान के गुण

यह कहना कठिन है कि कौन सा शासन-विधान सबसे अच्छा है। एक ही शासन पद्धति, जो किसी देश के लिये अच्छी है, दूसरे देश में बुरी हो सकती है। सामाजिक संगठन और भौगोलिक परिस्थिति के अनुकूल विभिन्न देशों में अलग अलग प्रकार की शासन पद्धतियाँ होती हैं। प्रत्येक शासन-विधान के अन्दर अपनी एक विशेषता होती है। अफ़लातून के कथनानुसार एक आदर्श शासन-विधान तभी सम्भव है जब

कि शासक निःस्वार्थ भाव से शासन करे*। अर्थात् शासन में उसकी अनाशक्ति हो। शासन-विधान से जनता में न्याय का बीजारोपण होता है। यही हमें सामाजिक कर्तव्यों का पथ प्रदर्शित करता है। इसी को देखकर जनता की राजनैतिक परिस्थिति का अनुमान किया जाता है। यदि किसी देश के शासन-विधान के अन्दर राजनैतिक विषयों में सरकारी कर्मचारियों को छोड़ कर आम जनता को चूँ तक करने का अधिकार नहीं है तो यह सर्वथा निन्दनीय समझा जायेगा। बृटिश शासन-विधान की जो लोग सराहना करते हैं उनका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका ढाँचा सोने और चाँदी का बना हुआ है। इसकी वजह यह है कि इसके अन्दर एक ऐसी भावना है जिससे आम जनता सन्तुष्ट रहती है। इंगलैंड के शासन-विधान की यह एक विशेषता है कि वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के समय में भी वहाँ की जनता सरकार की टीका टिप्पणी कर सकती है।

शासन विधान में प्रादेशिक अन्तर होते हुए भी कुछ बातें ऐसी हैं जो अनिवार्य रूप से सबमें होनी चाहिये। इनके बिना अच्छा से अच्छा शासन-विधान नीरस और निस्सार प्रतीत होगा। ये गुण निम्नलिखित हैं:—

स्पष्टता

१—प्रत्येक शासन-विधान निहायत सुलझा हुआ और साफ़ होना चाहिये। इसमें किसी प्रकार की संदेह युक्त बातें नहीं रहनी चाहिये। कोई भी इसे पढ़ कर अच्छी तरह समझ ले और उसके मन में दोअमली बात पैदा न हो। शासन-विधान जितना ही स्पष्ट होगा सरकार को उतनी ही कम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। इसीलिये लिखित शासन विधानों की महत्ता अधिक मानी जाती है। जब चीज़ें लिखित होती हैं तो उनमें दोहरे अर्थ का भय कम रहता है।

व्यापकता

२—शासन-विधान ऐसा होना चाहिये जिसमें राजनैतिक संगठन की सभी बातें पाई जायँ। उसके अध्ययन से सरकार की पूरी जानकारी हो जानी चाहिये। यदि इसमें सरकार के किसी विभाग पर प्रकाश नहीं पड़ता अथवा किसी विभाग के कर्मचारियों का अधिकार निहित नहीं होता तो ऐसा शासन-विधान अपूर्ण समझा जायेगा। न्याय, कार्यकारिणी, तथा धारा-सभा,

---

* A good constitution is only possible, when the ruler does not want to rule.

इनके क्षेत्रों की व्याख्या भली भाँति होनी चाहिये। यही शासन पद्धति की व्यापकता कहलाती है। इसी से सरकारी कर्मचारियों को कार्य करने की शक्ति मिलती है। संकुचित शासन पद्धतियों में कर्मचारी मनमानी कर सकते हैं, किन्तु जो शासन-विधान व्यापक है उसमें कोई खींचातानी नहीं कर सकता।

सरलता

३—जहाँ तक सम्भव हो शासन-विधान सरल और सूक्ष्म होना चाहिये। केवल व्यापक और मूल सिद्धान्तों का समावेश इसके अन्दर होना चाहिये। छोटी छोटी बातों की विस्तृत व्याख्या शासन-विधान के बाहर की चीज़ है। पुलीस विभाग के अधिकार और कर्तव्य तो इसके अन्दर लिखे जा सकते हैं, परन्तु इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि डाकुओं से मुक़ाबला पड़ने पर एक सिपाही क्या करे। जो शासन-विधान जितना ही विस्तृत होगा समयानुसार उसमें परिवर्तन भी अधिक करने होंगे। इसी से बचने के लिये छोटी छोटी बातें इससे बाहर रक्खी जाती हैं। समय के प्रवाह में आवश्यकतानुसार सरकारी कर्मचारी इनका निपटारा स्वयं करते रहते हैं।

परिवर्तनशीलता

४—कोई शासन-विधान सदैव के लिये स्थायी नहीं बनाया जा सकता। लोगों के विचार बदलते रहते हैं। इन्हीं के अनुकूल उनके संगठनों में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है शासन-विधान में यह परिवर्तनशीलता मौजूद होनी चाहिये। बड़ा से बड़ा संगठन समय की उपेक्षा नहीं कर सकता।* जो चीज़ आज हमें अच्छी लगती है वही कल बुरी हो सकती है। जिस शासन-विधान से आज हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है वही कल हमारी स्वतन्त्रता में रुकावटें डाल सकता है। इसलिये शासन-विधान ऐसा होना चाहिये जिसमें समयानुकूल परिवर्तन किया जा सके। अर्थात् लोग अपनी रुचि के अनुसार उसे बदल सकें। किसी अंग्रेज़ विद्वान् का कहना है कि "एक पीढ़ी के मनुष्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे अपनी आने वाली संतान को राजनैतिक बंधन में बाँध सकें। इसलिये प्रत्येक शासन-विधान की आयु अधिक से अधिक चौंतीस वर्ष होनी चाहिये।" अंत में वह लिखता है कि शासन-विधान की आयु घोड़े की

* There is no time-proof organization,

आयु से अधिक नहीं होनी चाहिये। हमारी आवश्यकतायें प्रति दिन बदलती रहती हैं। शासन-विधान भी इसी तरह की एक आवश्यकता है। इसके अन्दर परिवर्तन के गुण हर समय मौजूद होने चाहिये।

शासन-विधान का वर्गीकरण

शासन-विधान का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। कुछ लेखक ऐतिहासिक आधार पर, कुछ स्पष्टी करण की नीति से और कुछ भौगोलिक दृष्टि से इसका विभाजन करते हैं। एक ही शासन-विधान कई विभाजनों में लाया जा सकता है। ये विभाजन चार प्रकार से किये जाते हैं।

लिखित और अलिखित शासन-विधान

१—इस विभाजन के अनुसार संसार के सभी शासन-विधान दो कोटि में रक्खे जा सकते हैं। जिन देशों के शासन-विधान लिखित हैं वे एक कोटि में, और बाकी दूसरी कोटि में माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शासन-विधान या तो लिखित हो सकता है या अलिखित। लेकिन यह विभाजन सर्वथा अपूर्ण है। कोई भी शासन-विधान पूर्णतया अलिखित नहीं हो सकता। यह भी सम्भव नहीं है कि शासन सम्बन्धी सभी बातें लिखित कर ली जायँ। हर देश में कुछ प्राचीन परम्परायें तथा रस्म-रिवाज़ होते हैं। बहुसंख्यक जनता राजकीय नियमों से उन्हें अधिक ज़रूरी समझती है। सरकारी क़ानूनों का वह उलंघन कर सकती है, लेकिन अपनी परम्परा को नहीं तोड़ सकती। सभी शासन-विधानों में कुछ लिखित और कुछ अलिखित बातें होती हैं। अन्तर केवल परिमाण का होता है।

यद्यपि यह विभाजन विवाद-ग्रस्त है फिर भी इसकी थोड़ी बहुत उपयोगिता हो सकती है। जो शासन-विधान अधिक से अधिक लिखित होता है वह उतना ही स्पष्ट माना जाता है। उसका इतिहास आइने की तरह साफ़ होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का संघ शासन-विधान अधिक से अधिक अंश में लिखित है। किसी राजनीतिज्ञ का कहना है कि यह शासन पद्धति १८ मिनट में पढ़ी जा सकती है। अलिखित शासन-विधान में कुछ बातें तो लिखित होती हैं परन्तु अधिकतर चीज़ें रस्म-रवाज़ के अनुसार बर्ती जाती हैं। जन साधारण अपने धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। किसी विशेष परिस्थिति में ही उन्हें सरकारी क़ानूनों का आश्रय लेना पड़ता है। वर्तमान

समय में लगभग सभी देशों का झुकाव लिखित शासन-विधान की ओर है। सभी अपने शासन-विधान को लिखित रूप में कर लेना चाहते हैं।

२—शासन विधानों का वर्गीकरण ऐतिहासिक आधार पर भी किया गया है। जो शासन विधान बहुत ही प्राचीन हैं और इतिहास में जिनकी उत्पत्ति का कोई निश्चित समय नहीं मिलता वे विकसित शासन विधान कहलाते हैं। उनका वर्तमान रूप सदियों के विकास से बना है। आवश्यकतानुसार उनमें समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। विकसित शासन विधान लोक-मत के निकट होते हैं। इनमें सामाजिक रीति-नीति का समावेश अधिक होता है। जनता को इसमें परिवर्तन करने में कठिनाई नहीं होती। इंगलैंड की शासन पद्धति विकसित है। इसके सभी अंग—कामन सभा, सम्राट्, लार्ड सभा—आज से कई शताब्दी पहले उत्पन्न हुए थे। भारतीय शासन विधान भी क्रमशः विकसित हुआ है। बृटिश काल में किसी एक निश्चित तारीख़ को इसका निर्माण नहीं हुआ। क़रीब १५० वर्षों में, अर्थात् ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से लेकर आज तक इसके एक एक अंग पुष्ट होते गये हैं। साथ ही वर्तमान शासन विधान में कितनी ही ऐसी बातें मौजूद हैं जो हिन्दू तथा मुसलमान काल में पाई जाती थीं।

विकसित और बनावटी शासन विधान

विकसित शासन विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ओर तो इसकी जड़ भूतकाल में होती है, प्राचीन रस्म-रवाजों की पुट इसके अन्दर पाई जाती है, और दूसरी ओर इसका क़दम सदैव उन्नति के पथ पर रहता है। जनता को किसी नई चीज़ की आवश्यकता हुई कि शासन विधान में नये सुधार कर दिये गये। विकसित शासन विधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन की ज़रूरत कभी नहीं पड़ती। इसीलिये जिस देश में ऐसा शासन विधान पाया जाता है वहाँ क्रान्ति की सम्भावना कम होती है। जनता को यह विश्वास रहता है कि वह जब चाहेगी इसमें परिवर्तन कर सकेगी। भारतीय शासन विधान यद्यपि विकसित है लेकिन जनता इससे सन्तुष्ट नहीं है। इस अपवाद का कारण यह है कि इसका विकास भारतीय जनता के हित की दृष्टि से न होकर बृटिश सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिये हुआ है। यही वजह है कि यहाँ शासन-सुधार सम्बन्धी माँगें हमेशा बनी रहती हैं।

बनावटी शासन विधान के अन्दर उपरोक्त गुण नहीं होते। यह

विधान किसी निश्चित वर्ष में बना हुआ होता है। इतिहास इसके आदि और अन्त पर पूरा प्रकाश डालता है। जब देश के निवासी आवश्यकतानुसार किसी समय अपना शासन विधान बना लेते हैं तो वह बनावटी शासन-विधान कहलाता है। 'बनावटी' शब्द किसी छोटे अथवा बुरे अर्थ में यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अमुक शासन-विधान विकसित न होकर बनाया गया है। लेकिन इससे यह तात्पर्य नहीं है कि बनावटी शासन विधान का विकास होता ही नहीं। समय समय पर इसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का शासन विधान बनावटी कहलाता है। १७८३ में, जब कि यह देश पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया, इसका शासन विधान बनाया गया। समय समय पर इसमें अनेक परिवर्तन हुये हैं। परन्तु जिस उद्देश्य को सामने रखकर आरम्भ में इसका निर्माण किया गया था वह आज भी मौजूद है। जब किसी देश में क्रान्ति होती है और क्रान्तिकारी इसमें सफल हो जाते हैं तो बनावटी शासन विधान आवश्यक हो जाता है। वर्तमान रूस का शासन विधान बनावटी है। वह १९१७ ई० में रूसी क्रान्ति के पश्चात् बनाया गया था।

परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील शासन विधान

३—परिवर्तनशील शासन विधान उसे कहते हैं जो सरलतापूर्वक बदला जा सके। इसके विपरीत जिसका बदलना कठिन हो वह अपरिवर्तनशील शासन विधान कहलाता है। पहले हम परिवर्तनशील शासन विधान पर विचार करें। प्रत्येक देश में दो प्रकार के क़ानून होते हैं। साधारण क़ानूनों से सरकार के दैनिक कार्य चलते हैं। इनके द्वारा कचहरियों में मुक़दमें फ़ैसल किये जाते हैं। दूसरे प्रकार के क़ानून वैधानिक क़ानून (Constitutional Laws) कहलाते हैं। जब कभी शासन विधान में कोई परिवर्तन करना होता है तो इसी वैधानिक क़ानून द्वारा ऐसा किया जाता है। कुछ देश तो ऐसे हैं जहाँ ये दोनों प्रकार के क़ानून एक ही हैं। एक ही धारा सभा इन्हें बनाती है और वही इन्हें हटा भी सकती है। इंगलैंड में साधारण तथा वैधानिक क़ानूनों में कोई अन्तर नहीं है। पार्लियामेंट सभी प्रकार के क़ानून बना सकती है। वह चीज़ों पर टैक्स भी लगाती है और शासन विधान को बदलती भी है। वह जब चाहे अपनी अवधि बढ़ा सकती है तथा अपने को भंग कर सकती है। भारतवर्ष में साधारण और वैधानिक क़ानूनों में अन्तर है। भारतीय धारा सभायें साधारण क़ानून तो पास

कर सकती हैं, परन्तु शासन विधान में वे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकतीं। यह अधिकार केवल बृटिश पार्लियामेंट को है जो भारतीय शासन विधान का संरक्षक कहलाती है। जिन देशों में इन दोनों प्रकार के क़ानूनों में कोई अन्तर नहीं होता वहाँ का शासन विधान परिवर्तनशील कहलाता है।

परिवर्तन शील शासन विधान में गुण और अवगुण दोनों होते हैं। पहले हम गुणों पर विचार करेंगे। जब जनता को यह विश्वास रहता है कि वह शासन विधान में जैसा चाहे परिवर्तन कर सकती है तो वह वैधानिक कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होने देती। सरकार के प्रति उसकी सहानुभूति बनी रहती है। किसी क्रान्ति का बीजारोपण देश में नहीं होने पाता। जैसे जैसे जनता सभ्य होती जाती है और उसके विचार बदलते जाते हैं उसी प्रकार उसका शासन विधान भी समयानुकूल बदलता रहता है। अर्थात् शासन विधान उसके विचारों का प्रतीक होता है। बिना किसी कठिनाई के साधारण क़ानून द्वारा यह बदला जा सकता है। प्रगतिशील समाज के लिये परिवर्तनशील शासन विधान अत्यन्त लाभदायक और उपयुक्त है। इसे बदलने में जनता थोड़ी भी हिचक नहीं करती। परिवर्तनशील शासन विधान जनता के उद्गार का मुक़ाबिला भली भाँति कर सकता है। इंगलैंड का शासन विधान परिवर्तनशील कहलाता है। किसी भी समय पार्लियामेंट इसे बदल सकती है।

जहाँ परिवर्तनशील शासन विधान में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ अवगुण भी पाये जाते हैं। जो शासन विधान बार बार बदलता रहे वह क्षणिक कहलाता है। उससे देश को कोई लाभ नहीं हो सकता। क्षणिक आवेश में आकर जनता इसे बदल सकती है। किसी भी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होने पर उसकी दृष्टि तुरन्त शासन विधान की ओर जाती है। फ्राँस की राज्य क्रान्ति में क्रान्तिकारियों का ध्यान एक मात्र शासन की ओर था। उसी में उन्हें जनता के अधिकार दिखाई पड़ते थे। राज्य क्रान्ति से अब तक कई प्रकार का शासन विधान फ्राँस में बन चुका, परन्तु पिछले शासन को छोड़ कर कोई भी २० वर्ष से अधिक नहीं रह सका। इसकी वजह यही है कि वहाँ की जनता को शासन विधान के बदलने की आदत सी पड़ गई है। बार बार परिवर्तन होते रहने से देश में राजनैतिक दलबन्दियों की वृद्धि होती है। इससे सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ती है। परिवर्तनशील शासन विधान के

अन्दर धारा सभा के सदस्यों के अधिकार इतने अधिक हो जाते हैं कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकते हैं। इसीलिये यह शासन विधान उस समुदाय वा देश में सफल हो सकता है जहाँ की जनता शिक्षित और उत्तरदायी है।

अपरिवर्तनशील शासन विधान वह है जो आसानी से न बदल सके। अर्थात् जिसे बदलने के लिये एक विशेष नियम की आवश्यकता हो। इस शासन विधान में तभी कोई परिवर्तन हो सकता है जब वैधानिक क़ानूनों का आश्रय लिया जाय। साधारण क़ानून इसमें काम नहीं कर सकते। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का शासन विधान अपरिवर्तनशील कहलाता है। इसमें तब तक कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक कांग्रेस (संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की धारा-सभा) के दो तिहाई सदस्य इसका समर्थन न करें। साथ ही जितनी रियासतें संघशासन में शामिल हैं उनमें भी तीन चौथाई का बहुमत आवश्यक है। इतनी उलझन के बाद कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण वहाँ शासन विधान में जल्दी कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। फ्रांस का शासन-विधान अपरिवर्तनशील है। वहाँ की छोटी और बड़ी दोनों धारा-सभायें (Chamber of Deputies and the Senate) अलग अलग पहले विचार करती है। इसके बाद दोनों एक साथ (National Assembly) बैठ कर फिर विचार करती हैं। जब इन दोनों सभाओं के दोहरे समर्थन प्राप्त होते हैं तभी कोई परिवर्तन किया जाता है।

इस अपरिवर्तनशील शासन-विधान के मुख्य तीन गुण हैं। एक तो इसमें स्थायीपन का भाव रहता है। कोई भी चतुर व्यक्ति इसे इसलिये समझ सकता है कि यह निहायत स्पष्ट और साफ़ होता है। इसके अन्दर सरकारी कर्मचारियों के अधिकार भली भाँति स्पष्ट होते हैं। इससे वे अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं कर सकते। तीसरे, इसके अन्दर दल-बन्दियों का भय कम होता है। लेकिन इसमें कुछ कमजोरियाँ भी हैं। कोई भी शासन-विधान हमेशा के लिये पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसकी अपरिवर्तनशीलता इसे नीरस और बेकार बना देती है। जनता में असन्तोष की भावना बढ़ जाती है। क्रान्ति का भय रहता है। जब आवश्यक परिवर्तनों की अवहेलना कर दी जाती है तो जनता में क्रोधाग्नि की ज्वाला का बढ़ना स्वाभाविक है। शासन-विधान में समय समय पर

परिवर्तन न किये जायँ तो इसके बन्धन में रहकर जनता उन्नति नहीं कर सकती। लार्ड मेकाले का विचार निहायत सही है कि क्रान्ति का मूल कारण शासन-विधान की अपरिवर्तन-शीलता है*। अपरिवर्तनशील शासन-विधान लिखित होने के कारण शाब्दिक जाल से इतना जकड़ा होता है कि उसे समझना कोई सरल काम नहीं है। इसीलिये सबसे अच्छा शासन-विधान वह है जो परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील दोनों के मेल से बना हो। वर्तमान समय में सभी देश अपरिवर्तनशील शासन-विधान के पक्ष में हैं।

एकात्मक और संघात्मक शासन-विधान

४—एकात्मक शासन विधान उसे कहते हैं जिसमें सरकार अपना सब काम एक केन्द्रीय स्थान से करे। शासन की सुविधा के लिये वह प्रान्तीय सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं को थोड़े बहुत अधिकार दे सकती है, परन्तु सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में निहित होते हैं। वह जब चाहे बिखरे हुये अधिकारों को वापस ले सकती है। इंगलैंड, फ्रांस, इटली, हिन्दुस्तान† आदि देशों का शासन-विधान एकात्मक है। एकात्मक राज्य में केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय कार्यकारिणी, केन्द्रीय धारा-सभा तथा केन्द्रीय न्यायालय को प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं की अध्यक्षता में बाकी शक्तियाँ अपना कार्य करती हैं। एकात्मक शासन-विधान उन राज्यों में अधिक सफल हो सकता है जो क्षेत्रफल में छोटे हों और जिनके अन्दर भाषा तथा रसम रवाज़ में विषमता न हो। हिन्दोस्तान ऐसे विशालकाय देश में एकात्मक शासन-विधान सफल अथवा लोकप्रिय नहीं हो सकता।

संघात्मक शासन-विधान के अन्दर केन्द्रीय सरकार अवश्य होती है परन्तु प्रान्तों अथवा रियासतों को, जो उस संघ में शामिल हैं, अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। मान लीजिये कोई देश अपने को संगठित तथा शक्तिशाली बनाना चाहता है। उसके अन्दर अनेक छोटे छोटे प्रान्त अथवा रियासतें हैं। इन सबके सामूहिक मिलन से जो शासन-

---

* The great cause of revolution is that while nations move onwards constitutions standstill.

† १९३५ के ऐक्ट के अनुसार हिन्दोस्तान का शासन-विधान संघात्मक बना दिया गया है। परन्तु अभी तक वह पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया गया है।

विधान बनाया जाता है उसे संघात्मक कहते हैं। केन्द्रीय सरकार उन विषयों को, जो सम्पूर्ण देश से सम्बन्ध रखते हैं, अपने अधिकार में रखती है। इनके अन्दर बाह्य आक्रमणों से रक्षा, रेल, तार, डाक इत्यादि हैं। बाक़ी विषयों में प्रान्त वा रियासतें स्वतन्त्र होती हैं। वे अपनी इच्छानुसार इनका प्रबन्ध करती हैं। अर्थात् संघात्मक राज्य में प्रान्त वा रियासतें अपनी राजसत्ता क़ायम रखती हैं। किसी विशेष परिस्थिति में एकात्मक राज्य की सभी रियासतें अपना एक संघ शासन-विधान बना लें और अपने सम्पूर्ण अधिकारों को एक केन्द्रीय सरकार को दे दें तो यह अर्द्ध संघात्मक शासन विधान (Confederation) कहलायेगा। संघात्मक प्रणाली के अन्दर प्रान्त वा रियासतें अपनी राजसत्ता को क़ायम रखती हैं किन्तु अर्धसंघात्मक में वे इसे खो बैठती हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, रूस आस्ट्रेलिया, स्विटज़रलैंड, कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों में संघात्मक शासन-विधान है।

संघात्मक शासन विधान के अन्दर शासन की सभी मशीनें दोहरी होती हैं। कारण यह है कि एक तो केन्द्रीय सरकार होती है और दूसरी प्रान्त या रियासतों की सरकारें होती हैं। दोनों को पूरी पूरी मशीनें रखनी पड़ती हैं। दो धारा-सभायें, दो कार्य-कारिणी, दो न्यायालय, दो राजसत्ता, दो क़ानून, दो टैक्स इत्यादि इत्यादि दोहरी चीज़ें संघात्मक शासन-विधान में पाई जाती हैं। निवासियों को दो प्रकार की नागरिकता प्राप्त होती है। इसीलिये उन्हें दो सरकारों के प्रति कर्तव्य पालन करने पड़ते हैं।

प्रश्न यह है कि संघात्मक शासन-विधान की क्या आवश्यकता है। एकात्मक शासन-विधान से काम क्यों नहीं चला लिया जाता। संघ-शासन की स्थापना मुख्य ६ दृष्टियों से की जाती है :—

१—छोटे छोटे राज्यों के संगठन से संघ सरकार की शक्ति बढ़ जाती है और वह दृढ़तापूर्वक किसी बाहरी हमले का मुक़ाबिला कर सकती है।

२—सबके मिलन से देश की आर्थिक तथा सांस्कृतिक दशा में उन्नति होती है।

३—जो देश छोटे छोटे प्रान्तों में बिखरा हुआ है वहाँ संघ-शासन-विधान इन सबको एक सूत्र में बाँधकर दृढ़ राष्ट्रीयता का निर्माण करता है।

४—संघ शासन-विधान से देश की अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा बढ़ जाती है। उसकी राजनैतिक शक्ति बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ उसका आदर करती हैं।

५—संघात्मक शासन-विधान में क्रान्ति का भय नहीं रहता। जनता अपनी इच्छानुसार अपना प्रबन्ध करती है और वह हर प्रकार से सन्तुष्ट रहती है।

६—एकात्मक शासन-विधान में केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकारों में सदैव सन्देह रहता है। परन्तु संघात्मक शासन-विधान में वह भयभीत नहीं रहती। आन्तरिक शान्ति के लिये उसे किसी बड़ी फ़ौज की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिये संघ शासन-विधान में सरकारी व्यय कम पड़ता है।

संघ शासन-विधान के लिये कुछ शर्तें आवश्यक हैं। इनके बिना बड़े से बड़े देश में इसकी स्थापना नहीं हो सकती। डाइसी के कथनानुसार संघ-शासन में चार बातों का होना अनिवार्य है:—

१—देश में छोटे छोटे कई राजनैतिक विभाग (Political Divisions) हों। जब तक ये नहीं होंगे तब तक कोई संघ नहीं बनाया जा सकता।

२—अच्छा तो यह हो कि ये राजनैतिक विभाग क्षेत्रफल में बराबर हों और इनके अन्दर एक सांस्कृतिक एकता (Cultural Unity) हो। परन्तु इसकी अनुपस्थिति में भी संघ-शासन की स्थापना हो सकती है।

३—सभी राजनैतिक विभाग समान रूप से मिलने के लिये लालायित हों। सबकी यह प्रबल इच्छा हो कि एक संघ शासन बनाया जाय। छोटे छोटे राज्यों को दबाकर जो संघ-शासन बनाया जाता है वह क्षणिक तथा अपूर्ण होता है।

४—सभी विभागों में कई प्रकार की समान बातें होनी चाहिये। उनके अन्दर निवास करने वाले व्यक्तियों का इतिहास, उनकी रहन-सहन तथा राष्ट्रीयता एक होनी चाहिये।

उपरोक्त बातें जहाँ मिलेंगी वहीं संघ-शासन की स्थापना हो सकती है। जब संघ शासन-विधान स्थापित करना हो तो तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। इनके बिना राज्य में न तो शान्ति रह सकती है और न संघ का उद्देश्य ही पूरा हो सकता है।

१—संघ शासन-विधान पूर्णतया लिखित होना चाहिये। अलिखित होने से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में मतभेद और सन्देह उत्पन्न हो सकते हैं। संघ शासन विधान एक प्रकार का सुलहनामा है जो किसी उद्देश्य से कई स्वतन्त्र राज्यों के बीच में किया जाता है। ऐसी दशा में सुलह की शर्तें (Constitution) लिखित होनी चाहिये।

२—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार भली भाँति स्पष्ट होने चाहिये। इनका विभाजन इस तरह किया जाय कि ये आपस में टकराने न पायें। शासन सम्बन्धी विषय दो भागों में बाँट कर कुछ केन्द्रीय और कुछ प्रान्तीय सरकारों को दे देने चाहिये। अधिकार स्पष्ट होने से सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों का ठीक ठीक पालन कर सकेंगे।

३—संघ शासन-विधान में विषयों का विभाजन कितना भी अच्छी तरह क्यों न किया जाय, संघर्ष अनिवार्य है। लिखित शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। दो राजनैतिक विभाग आपस में उलझ सकते हैं। इसलिये संघ शासन में एक संघ न्यायालय का होना आवश्यक है। संघ न्यायालय संघ शासन का संरक्षक कहा जाता है।

उपसंहार

शासन-विधान के वर्गीकरण को देखते हुये यह कहना कठिन है कि कौन सबसे अच्छा है। देश के निवासी स्वयं यह निश्चित कर सकते हैं कि उन्हें किस प्रकार का शासन-विधान चाहिये। उदाहरण के लिये भारतीय शासन-विधान को ले लीजिये। वर्तमान शासन एकात्मक है। इसमें किसी प्रकार की कमज़ोरी नहीं है। देश के कोने कोने में सरकार की धाक है और कोई क़ानूनों का उलंघन नहीं कर सकता। फिर भी भारतीय जनता इसे पसन्द नहीं करती। वह इसे विदेशी समझती है। इसलिये शासन-विधान वही उत्तम है जिसका निर्माण जनता स्वयं करे। वर्तमान रुख संघ शासन विधान के पक्ष में है। हर देश यह चाहता है कि वहाँ का शासन-विधान संघात्मक हो जाय। जो कुछ भी हो, शासन-विधान जनता के विचारों के अनुकूल होना चाहिये। उसमें सामयिक परिवर्तन की शक्ति नितान्त आवश्यक है।

अध्याय १२

सरकार की क़िस्में

(The Forms of Government)

राज्य और सरकार—सरकार का वर्गीकरण—अफ़लातून का वर्गीकरण—अरस्तू का वर्गीकरण—सरकार का चक्र—वर्तमान वर्गीकरण एक-तन्त्र सरकार—कुलीन तन्त्र सरकार—प्रजातन्त्र सरकार—प्रजातन्त्र के गुणदोष—प्रजातन्त्र का भविष्य—ताना शाही—सर्व श्रेष्ठ सरकार।

राज्य और सरकार

सरकार का वर्गीकरण करने में कुछ लेखकों ने राज्य और सरकार के अन्तर का ध्यान नहीं रक्खा है। वे राज्य के मनमाना भेद कर डाले हैं। वास्तव में राज्य और सरकार के अन्तर को सामने रखते हुये सरकार का वर्गीकरण करना चाहिये। राज्य एक निश्चित स्थान को किसी विशेष अवस्था में कहते हैं। उसकी एक सीमा होती है और कुछ लोग उसमें निवास करते हैं। ऐसी दशा में उसका वर्गीकरण कैसे हो सकता है। यदि छोटे छोटे राज्यों को एक श्रेणी में तथा बड़े राज्यों को दूसरी श्रेणी में मान लें तो इस वर्गीकरण से लाभ ही क्या है। शासन विधान के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाय तो यह राज्य का न होकर शासन विधान का वर्गीकरण हो जायगा। राज्य में जैसे अच्छे, बुरे अथवा विद्वान और मूर्ख व्यक्ति रहते हों इनके आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि अमुक राज्य पिछड़ा हुआ और अमुक उन्नतिशील है। परन्तु इस वर्गीकरण का क्या महत्व है। प्रत्येक राज्य में उन्नति अवनति होती रहती है। यह भेद क्षणिक होगा। हमें सरकार के वर्गीकरण को राज्य का वर्गीकरण नहीं कहना चाहिये। जन संख्या के आधार पर यदि राज्यों का वर्गीकरण किया जाय तो इससे भी कोई लाभ नहीं है। राज्य का वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। सरकार राज्य की एक मशीन है। वह विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार की हो सकती है। प्राचीन काल से अब तक सरकार के वर्गीकरण पर विचार किये गये हैं। समय समय पर इसमें परिवर्तन भी हुये हैं।

सरकार का वर्गीकरण

सरकार का वर्गीकरण कई आधार पर किया गया है। कुछ लेखकों ने शासकों की संख्या को आधार मानकर इसका विभाजन किया है। यदि राज्य में एक राजा है और उसे सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं तो वह एक-तन्त्र (Monarchy) कहलाता है। यदि सम्पूर्ण प्रजा स्वयं अपना शासन करती है तो उसे प्रजातन्त्र (Democracy) कहते हैं। इन दोनों के बीच में यदि थोड़े से चुने हुये लोग शासन करते हैं तो उसे कुलीन तन्त्र (Aristocracy) कहते हैं। कुछ विद्वानों ने शासकों की संख्या के अतिरिक्त उनकी राजनैतिक भावना (Administrative Spirit) को सामने रखते हुये सरकार का वर्गीकरण किया है। यदि राजा निर्दयी है और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करता है तो उसे कठोर शासन (Tyranny) कहा गया है। यदि थोड़े से लोग प्रजा के हित का ध्यान न रखकर अपनी ही सुविधाओं के लिये राज्य करते हैं तो उसे अल्प-जन-तन्त्र (Oligarchy) कहा गया है। यदि अशिक्षित जनता स्वयं अपना शासन करती है तो वह मूर्खजन राज्य (Mobocracy) कहलाता है। इन्हीं दोनों आधारों पर प्राचीन कालीन से अब तक सरकार के वर्गीकरण होते आ रहे हैं। शासन विधान में नई नई प्रणालियों का समावेश होने के कारण वर्तमान वर्गीकरण कुछ और तरह से किया जाता है।

अफ़लातून का वर्गीकरण

अफलातून (Plato) ने सरकार का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया है। अपनी पुस्तक 'रिपब-लिक' और 'स्टेट्स मैन' में उसने दो प्रकार से सरकार को बाँटा है। इसी एक वर्गीकरण के आधार पर अरस्तू (Aristotle) ने भी सरकार का विभाजन किया है, जिसका वर्णन आगे किया गया है। अफ़लातून पूर्ण दार्शनिक (Philosopher) था। वह ज्ञान (Knowledge) का प्यासा था। इसी ज्ञान के आधार पर उसने सरकार को बाँटा है। सरकार तीन प्रकार की हो सकती है :—

पूर्ण ज्ञानी सरकार

१—इसके अन्दर शासक, चाहे वह एक व्यक्ति हो अथवा बहुत से व्यक्ति हों, पूर्ण ज्ञानी होता है। ज्ञान से ही प्रभा-वित होकर वह प्रजा पर राज्य करता है। उसका उद्देश्य जनता को ज्ञानी बनाना है। परन्तु ऐसी

सरकार इस पृथ्वी पर असम्भव है। केवल स्वर्ग में इसकी स्थापना हो सकती है।

अपूर्ण ज्ञानी सरकार

२—इसके अन्दर शासक कुछ अपनी बुद्धि से और कुछ क़ानूनों का आश्रय लेकर राज्य करता है। ऐसी सरकार के लिये क़ानून का होना आवश्यक है। अधिकतर सरकारें इसी प्रकार की होती हैं।

अज्ञानी सरकार

२—यह सरकार मूर्खों की होती है। इसके अन्दर क़ानून तो होते हैं, परन्तु कोई उनका पालन नहीं करता। शासक प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं। यह सरकार सबसे बुरी होती है और अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती।

अफ़लातून का कहना है कि एक-तन्त्र शासन (Monarchy) सबसे अच्छा होता है। परन्तु राजा को अत्याचारी नहीं होना चाहिये। यदि वह अत्याचारी (Tyrant) है तो एक-तन्त्र शासन सबसे बुरा होता है। कुलीन तन्त्र शासन (Aristocracy) मध्यम श्रेणी का है। इसके अन्दर प्रजा को न अधिक सुख मिलता है और न विशेष कष्ट ही होता है। प्रजा-तन्त्र शासन (Democracy) सबसे बुरा है। इसके अन्दर सद्गुणों की वृद्धि नहीं हो सकती।

अरस्तू का वर्गीकरण

अरस्तू अफ़लातून का एक शिष्य था। उसने बहुत सी चीजें उससे सीखी थीं। परन्तु उसके विचार अफ़लातून से अधिक सुलझे हुये थे। कहा जाता है कि 'अफ़लातून राजनीति को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाया और अरस्तू ने संसार में उसका प्रचार किया।' यानी अफ़लातून आदर्शवादी (Idealist) और अरस्तू व्यावहारिक (Realist) था। इसीलिये सरकार के वर्गीकरण में अरस्तू के विचार बहुत ही साफ़ हैं। वर्तमान राजनीतिज्ञों ने उसी के आधार पर इसका वर्गीकरण किया है। अपने वर्गीकरण में अरस्तू ने दो बातों का ध्यान रक्खा है। एक तो शासकों की संख्या का और दूसरे सरकार के उद्देश्य का। वह लिखता है कि प्रत्येक सरकार की दो दशायें होती हैं। साधारण दशा में वह प्रजा के हित का ध्यान रखती है परन्तु विशेष दशा में वह उस पर नाना प्रकार के अत्याचार करती है उसका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार का है:—

शासन विधान का स्वरुप	साधारण दशा, जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान रखता है।	विशेष दशा, जिसमें शासक अपने ही सुख का ध्यान रखता है।
एक व्यक्ति का शासन	एक-तन्त्र (Monarchy)	कठोर शासन (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीन तन्त्र (Aristocracy)	अल्प-जनतन्त्र (Oligarchy)
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	बहुतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र (Democracy)

उपरोक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि अरस्तू के विचार से सरकार ३ प्रकार की होती हैं—एक-तन्त्र (Monarchy), कुलीन तन्त्र (Aristocracy), और बहुतन्त्र (Polity)। विशेष अवस्था में इन के कार्य जब प्रजा के प्रतिकूल हो जाते हैं तो इनका नाम कुछ और हो जाता है। यह वर्गीकरण इतना प्राचीन है कि वर्तमान सरकारों पर लागू नहीं होता। समय के प्रवाह में इतने प्रकार की सरकारें स्थापित की गई हैं कि इनका वर्गीकरण नये सिरे से होना चाहिये। अरस्तू को यह पता न था कि भविष्य में तानाशाही, संघ शासन, नये प्रकार का प्रजातन्त्रवाद आदि विभिन्न सरकारें बनेंगी।

अफ़लातून और अरस्तू के वर्गीकरण से अब काम नहीं चल सकता।

सरकार का चक्र परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्तमान राजनीतिज्ञ इनके विचारों से लाभ नहीं उठा सकते। दोनों के वर्गीकरण में सरकार एक चक्के के मानिन्द घूमती रहती है। इसी के आधार पर देश की शासन प्रणाली बदलती है। कोई भी सरकार स्थायी नहीं रह सकती। अफ़लातून लिखता है कि मान लीजिये एक आदर्श सरकार की स्थपना की गई। यह सरकार चाहे एक-तन्त्र (Monarchy) हो अथवा कुलीन तन्त्र (Aristocracy)। कुछ समय पश्चात् राजा अथवा कुलीन वर्ग अपने सम्मान के चक्कर में पड़कर प्रजा के हित को भूल जाता है। इस विकृत सरकार का नाम धनिक तन्त्र (Timocracy) है। इसके अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति को बढ़ाने की

चाह शासक और शासित दोनों में अधिक होती है। यह धन पिपासा इतनी बढ़ जाती है कि थोड़े से धनीवर्ग के लोग सरकार को अपने हाथ में कर लेते हैं। इस सरकार का नाम अल्प-जन-तन्त्र (Oligarchy) है। इसकी स्थापना होते ही आम जनता में असन्तोष की वृद्धि होती है। पूँजीवाद तथा शक्ति संचय की टीका टिप्पणी होने लगती है। अन्त में सरकार की बागडोर आम जनता के हाथों में आ जाती है। इसका नाम प्रजातन्त्र (Democracy) है। जब साधारण लोग राज्य करेंगे तो शान्ति और स्वतन्त्रता दोनों का अभाव रहेगा। इन्हीं साधारण लोगों में कोई अवसरवादी और पदलोलुप सरकार की पूरी बागडोर अपने हाथों में ले लेता है। इसका नाम कठोर शासन (Tyranny) है। यह व्यक्ति जनता पर तरह तरह के अत्याचार करता है और विवश होकर लोगों को उसे सहन करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के विकृत स्वभाव के कारण अच्छी से अच्छी सरकार बिगड़ते बिगड़ते कठोर शासन का रूप धारण कर लेती है।

अरस्तू भी सरकार के इस चक्र को मानता है, परन्तु यह आदर्श-सरकार से आरम्भ न होकर एक तन्त्र (Monarchy) से आरम्भ होता है। वह लिखता है कि प्राचीनकाल में एकतन्त्र राज्य थे। जो व्यक्ति राज्य करता उसमें कुछ विशेष गुण होते थे, जिनसे प्रजा उसका आदर करती थी। धीरे धीरे समाज में और भी प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुये। उन्हें भी राज्य करने की इच्छा हुई। जब इनकी सरकार स्थापित हुई तो इसका नाम कुलीनतन्त्र (Aristocracy) पड़ा। कुछ समय तक तो इनका शासन अच्छा था, परन्तु विलासिता में पड़कर इसका स्वरूप बिगड़ गया। कुलीन वर्ग के स्थान पर धनीवर्ग शासक बना। इसका नाम अल्प-जन-तन्त्र (Oligarchy) पड़ा। धनीवर्ग में किसी बलवान व्यक्ति ने जब शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली तो वह प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगा। इस सरकार का नाम कठोर शासन (Tyranny) पड़ा। अत्याचारी को निकालकर जब सम्पूर्ण प्रजा ने सरकार को अपने हाथ में कर लिया तो इसका नाम प्रजातन्त्र (Democracy) पड़ा। इस प्रजातन्त्र को अरस्तू सबसे बुरी सरकार मानता है। वह इसे मूर्खों की सरकार* कहता है। इस चक्र का कारण यह है कि जब कोई सरकार अपने उद्देश्य को भूल जाती है तो

---

* Government of the fools

उसका पतन होने लगता है और थोड़े दिनों में कोई दूसरी शक्ति उस पर अपना अधिकार जमा लेती है।

वर्तमान वर्गीकरण

सभी युगों में राजनीतिज्ञों ने सरकार का वर्गीकरण किया है। प्राचीन काल के वर्गीकरण पर ऊपर विचार किया गया है। १६वीं शताब्दी में इटली का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मेकेवली उपरोक्त वर्गीकरण को मानते हुये एक नये प्रकार की सरकार का अन्वेषण करता है। उसका कहना है कि इन सबके मेल से एक मिश्रित सरकार (Mixed Government) भी बन सकती है। इसके अनुसार यही मिश्रित सरकार सबसे अच्छी होती है। १६ वीं शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध फ्राँसीसी विचारक बोदाँ (Jean Bodin) ने राजसत्ता के आधार पर सरकार का वर्गीकरण किया है। वह लिखता है कि यदि राजसत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में है तो वहाँ की सरकार एकतन्त्र (Monarchic) होगी। यदि वह कुछ लोगों के हाथ में है तो सरकार कुलीन-तन्त्र (Aristocratic) होगी। और यदि सम्पूर्ण प्रजा राज्य करती है तो वह प्रजातन्त्र (Democratic) कहलायेगी। बोदाँ के कथनानुसार एकतन्त्र सरकार तीन प्रकार की हो सकती है। स्वेच्छाचारी (Despotic), राजकीय (Royal) और निरंकुश (Tyrannical)। पहिले प्रकार में राजा अपनी इच्छानुसार राज्य करता है। वह किसी व्यक्ति वा सभा से सलाह नहीं लेता। दूसरे प्रकार में वह राजकीय नियमों का पालन करता है और प्रजा के हित का ध्यान रखते हुये शासन करता है। तीसरे प्रकार में राजा अत्याचारी होता है। न वह दैवी नियमों से डरता है और न सरकारी क़ानूनों का ही उसे भय होता है। इन सब में बोदाँ को राजकीय एकतन्त्र (Royal Monarchy) सरकार सबसे उत्तम है।

एक दूसरे फ्राँसीसी विद्वान मानटेस्क्यू (Montesque) ने सरकार का वर्गीकरण कुछ और प्रकार से किया है। उसका कहना है कि सरकार तीन प्रकार की होती है। गण-तन्त्र (Republic), पाश्चात्य प्रदेशों का एक-तन्त्र (Monarchies of the West) और पूर्वीय प्रदेशों का कठोर शासन (Despotism of the East)। गण-तन्त्र दो प्रकार का हो सकता है—प्रजातन्त्र (Democratic) और कुलीन-तन्त्र (Aristocratic)। रूसो ने सरकार का वर्गीकरण निहायत सरल तरीके पर

किया है। उसके अनुसार सरकार या तो एकतन्त्र होगी या कुलीनतन्त्र या प्रजातन्त्र। इन तीनों के मेल से एक मिश्रित सरकार भी बन सकती है। वैसे तो सरकार का वर्गीकरण कितने ही राजनीतिज्ञों ने किया है, परन्तु ये सभी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अरस्तू (Aristotle) के अनुयायी हैं। इन सब में सर मैरियाट (Sir J. A. R. Marriot) का वर्गीकरण सर्व-श्रेष्ठ और समयानुकूल है। उसका कहना है कि अरस्तू का वर्गीकरण वर्तमान समय में काम नहीं दे सकता। इसलिये सरकारों का वर्गीकरण किसी और प्रकार से होना चाहिये।

सर मैरियाट ने सरकार का वर्गीकरण शासन विधान के आधार पर किया है। उसके विचारों में शासन विधान से ही सरकार का निर्माण होता है। जैसा अच्छा या बुरा शासन विधान होगा वैसी ही अच्छी या बुरी सरकार होगी। जिन देशों का शासन विधान प्रजा के अनुकूल है वहाँ की सरकार हितैषी कहलाती है। इसीलिये शासन विधान को सामने रखते हुये सर मैरियाट ने सरकारों को बाँटा है। एक प्रकार से इसने शासन विधान के वर्गीकरण को सरकार का वर्गीकरण मान लिया है। वह लिखता है कि सरकार का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है :—

एकात्मक और संघात्मक सरकार

(१) जहाँ एक केन्द्रीय सरकार समूचे देश पर शासन करती है और प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, वहाँ की सरकार एकात्मक (Unitary type of Government) होगी। इसके विपरीत जहाँ संघ शासन की स्थापना की गई है और सम्पूर्ण शक्ति शासन-विधान में ही संचित है वहाँ की सरकार संघात्मक (Federal type of Government) कहलायेगी। फ़्रांस और हिन्दुस्तान* एकात्मक सरकार के तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, कनाडा, रूस आदि संघात्मक सरकार के उदाहरण हैं।

---

* १९३५ ई॰ में हिन्दुस्तान का शासन-विधान बदल दिया गया। इसके अनुसार यहाँ संघात्मक सरकार की योजना बनाई गई है। चूँकि यह नया शासन कार्यान्वित नहीं किया गया है इसलिये यहाँ की सरकार अभी तक एकात्मक है।

परिवर्तन शील और अपरिवर्तन-शील सरकार

(२) जिस देश का शासन विधान सरलता-पूर्वक बदला जा सके वहाँ की सरकार परिवर्तन शील (Flexible) कहलाती है। जिसको बदलना कठिन है वह अपरिवर्तनशील सरकार (Rigid) कहलाती है। परिवर्तनशील सरकार के अन्दर शासन विधान अलिखित और अपरिवर्तन शील सरकार में लिखित होता है। पहिले प्रकार में इङ्गलैंड और दूसरे में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका है।

अध्यक्षात्मक और कैबिनेट सरकार Presidential and Cabinet Government

(३) अध्यक्षात्मक सरकार के अन्दर राज्य का प्रधान सभापति (President) कहलाता है। जनता स्वयं उसे चुनती है। उसकी शक्ति राजा से कहीं बढ़कर होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में इसी प्रकार की सरकार है। कैबिनेट सरकार वह है जहाँ सभी राजकीय शक्तियाँ एक सभा को प्राप्त होती हैं। यह सभा कैबिनेट कहलाती है। इसके सदस्य धारा सभा के भी सदस्य होते हैं। इङ्गलैंड की सरकार कैबिनेट सरकार कहलाती है। कैबिनेट की पूरी ज़िम्मेवारी धारासभा के प्रति होती है।

उपरोक्त वर्गीकरणों में एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र को किसी न किसी रूप में सभी मानते हैं। या तो राज्य का प्रधान एक व्यक्ति होगा, या थोड़े से लोग होंगे या सम्पूर्ण जनता होगी। यह बात दूसरी है कि किसके अन्दर प्रजा की अधिक भलाई हो सकती है। इस पर आगे विचार किया जायगा। कोई भी सरकार ऐसी नहीं हो सकती जिसमें इन तीनों परिपाटियों का आभास न हो। कुछ तो ऐसी भी सरकारें मिलेंगी जिनमें इन तीनों का मिश्रण दिखाई देगा। इसलिये प्रत्येक पर अलग अलग विचार करने से इनके गुण-दोष स्पष्ट हो जायेंगे।

एक-तन्त्र सरकार Monarchy

एक-तन्त्र सरकार सबसे प्राचीन है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का प्रधान एक ही व्यक्ति हो। लगभग सभी देशों में प्राचीन काल में इसी प्रकार की प्रणाली थी। छोटे छोटे राज्य होते थे और प्रत्येक का प्रधान एक व्यक्ति, जिसे राजा कहते थे, हुआ करता था। रोम के इतिहास में ऐसा भी ज़िक्र आता है कि वहाँ दो राजा साथ साथ काम करते थे। दोनों को प्रजा चुनती थी और उनके अधिकार बराबर थे। इस

अपवाद को छोड़ कर दो राजाओं का ज़िक्र एक राज्य में कहीं नहीं मिलता। एकतन्त्र सरकार दो प्रकार की हो सकती है :—

निरंकुश एक-तन्त्र Absolute Monarchy

१—इसमें राजा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से राज्य करता है। उसके शब्द ही क़ानून होते हैं। फ्रान्स के इतिहास में चौदहवाँ लुई इस प्रकार के शासन के लिये प्रसिद्ध है। वह कहता था 'मैं ही राज्य हूँ।'* इस निरंकुश एक-तन्त्र को हम तभी एक अच्छी सरकार कह सकते हैं जब राजा योग्य तथा उत्तरदायी हो और प्रजा के हित का ध्यान रक्खे। निस्वार्थ भाव से वह अपने आपको प्रजा का सेवक समझता हो। ऐसी सरकार उन राज्यों में अधिक उपयुक्त हो सकती है जहाँ की जनता अशिक्षित और जंगली है। कोई सभ्य समाज निरंकुश शासन को पसन्द नहीं कर सकता। वर्तमान काल में इस प्रकार की सरकार किसी भी देश में नहीं दिखाई पड़ती।

वैधानिक एक-तन्त्र Constitutional or limited Monarchy

२—इस सरकार के अन्दर राजा को किसी निश्चित शासन विधान के अनुसार राज्य करना पड़ता है। वह इस विधान को तोड़ने का अधिकारी नहीं है। कोई भी कार्य वह मनमाना नहीं कर सकता। किसी किसी देश में इस सरकार ने राजा को नाम मात्र के लिये प्रधान बना रक्खा है। इङ्गलैण्ड में सम्राट् इसी वैधानिक नियम के अनुसार बृटिश साम्राज्य पर शासन करता है। शासन की वास्तविक कार्यवाही कुछ मन्त्रियों के हाथ में होती है। कुछ लोगों का मत है कि ऐसी सरकार के अन्दर राजा का रहना ही व्यर्थ है। जब उसे कुछ अधिकार ही नहीं है तो उस पर व्यर्थ का धन खर्च करने से क्या लाभ। लेकिन इसके पक्षपाती राजा के महत्व को मानते हैं। उनका कहना है कि यही व्यक्ति राज्य को एक सूत्र में बाँधे हुये है। अधिकार न रखते हुये भी वह समाज की शोभा को बढ़ाता है। जिस प्रकार फूलों के गमले कमरे की शोभा को बढ़ाते हैं उसी प्रकार वह भी राज्य को सुशोभित करता है। यदि भाग्यवश राजा योग्य और अनुभवी है तो सरकार का कार्य और भी अच्छी तरह चलेगा।

एकतन्त्र को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। राजा

---

* I am the state.

या तो पैत्रिक अधिकारी होता है या जनता द्वारा चुना जाता है। यदि जनता उसे चुनती है तो इसे निर्वाचित एक-तन्त्र (Elected Monarchy) और यदि उसका पद पैतृक है तो इसे पैतृक एक-तन्त्र (Hereditary Monarchy) कहते हैं। पैतृक एक-तन्त्र में कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ भी हैं। यदि राजा अपने पिता के पद के कारण गद्दी पर बैठता है तो उसे बार बार चुनने के भार से जनता बच जाती है। सरकार का कार्य स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। परन्तु यदि किसी राजा का लड़का अयोग्य हुआ तो इसका बुरा परिणाम प्रजा को भोगना पड़ता है। ऐसी सरकार के अन्दर प्रजा के भाग्य का निपटारा ईश्वर पर छोड़ दिया गया है। निर्वाचित एकतन्त्र में जनता अपनी इच्छानुसार योग्य से योग्य व्यक्ति को एक निश्चित काल के लिये चुन लेती है। यदि वह प्रजा के हित का ध्यान नहीं रखता है तो दोबारा उसका निर्वाचन नहीं किया जाता। परन्तु बार बार निर्वाचन होने से राज्य में अनेक दलबन्दियाँ होती हैं और जनता तथा सरकार का धन बर्बाद होता है।

कुलीन तन्त्र सरकार (Aristocracy)

'अरिस्टो' शब्द ग्रीक भाषा का है। इसका अर्थ है 'सर्वोत्तम।' अर्थात् कुलीन-तन्त्र उस सरकार को कहते हैं जिसमें सर्वोत्तम व्यक्तियों का शासन हो। कुलीन-तन्त्र कोई बुरी सरकार नहीं है। यदि थोड़े से योग्य और अनुभवी व्यक्ति सम्पूर्ण प्रजा के हित का ध्यान रखते हुये शासन करें तो वह सरकार बुरी न होगी। ये 'सर्वोत्तम' 'सर्व श्रेष्ठ' या 'कुलीन' व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं। सबसे धनवान, सबसे विद्वान्, सबसे आचारवान, सबसे बलवान्, और सबसे निकृष्ट—ये पाँच प्रकार के व्यक्ति राज्य में अपने अपने तरीक़े पर काम कर सकते हैं। अर्थात् कुलीन-तन्त्र के ५ भेद इन्हीं के आधार पर किये जाते हैं। इन सबमें यदि आचारवान व्यक्ति राज्य करें तो प्रजा अधिक सुखी होगी।

कुलीन-तन्त्र वर्तमान काल में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। चूँकि यह युग प्रजातन्त्रवाद का है इसलिये किसी वर्ग-विशेष का शासन अच्छा नहीं माना जाता। फिर भी लगभग सभी सभ्य देशों में किसी न किसी रूप में इस कुलीन-तन्त्र की रक्षा की गई है। बड़ी धारा सभायें इसी दृष्टिकोण से बनाई गई हैं कि उनमें धनी वर्ग, शिक्षक वर्ग, ज़मीदार वर्ग तथा कुलीन वर्ग के हितों की रक्षा हो। इसकी उपयोगिता को कोई कम नहीं मानता।

सच्चा कुलीनतन्त्र कभी भी स्थापित नहीं हुआ। जब कभी किसी वर्ग ने सरकारी मशीन को अपने हाथों में ली तो अन्त में उसका उद्देश्य स्वार्थ साधन ही निकला। अपने ही सुख की चिन्ता में वह वर्ग इतना व्यस्त हो जाता है कि अन्य वर्गों को छोटा समझता है। सरकार के सभी साधन उसी के सुख के साधन बना लिये जाते हैं। इस कुलीनता की बू वर्तमान प्रजातन्त्र में भी पाई जाती है। केवल धनी मानी लोग बड़ी बड़ी संस्थाओं से लाभ उठा सकते हैं। आम जनता को उनसे लाभ नहीं पहुँचता। इसीलिये इस कुलीन-तन्त्र का नाम आज इतना निकृष्ट समझा जाता है कि एक भी देश इसका समर्थक नहीं है। यह कहना कि कुलीन-तन्त्र से प्राचीन परिपाटियों की रक्षा होती है, जनता के वास्तविक हितों से मुँह मोड़ना है।

प्रजातन्त्र सरकार
Democracy

संसार के लगभग सभी बड़े राजनीतिज्ञ प्रजातन्त्र सरकार की सराहना करते हैं। यदि इसके सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो इससे बढ़कर कोई दूसरी सरकार नहीं है। प्रजातन्त्र शासन उस सरकार को कहते हैं जिसमें प्रजा स्वयं अपना शासन करती है। वही क़ानून बनाती है, वही उसे लागू करती है, और वही अपराधियों को दंड भी देती हैं। इससे बढ़कर स्वतन्त्र और न्यायी सरकार दूसरी नहीं हो सकती। अब्राहमलिंकन लिखता है, "प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिये अपने तरीक़े पर अपना शासन करे।"*

प्रजातन्त्रवाद व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा पोषक है। इसके अन्दर लोकमत के बिना सरकार कोई कार्य नहीं करती। सरकारी विभागों में कर्मचारियों की संख्या चाहे कुछ भी हो, गम्भीर और पेचीदा मामले आम जनता की राय से हल किये जाते हैं। सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आधार है। राज्य के सब काम व्यक्ति की भलाई और उन्नति के लिये हो रहे हैं। अतएव उसकी इच्छा और राय को ठुकरा कर उन्नति का स्वप्न देखना ग़लत है। राजनैतिक संगठन व्यक्ति की उन्नति का एक साधन है। यदि कोई सरकार अपनी शक्ति को व्यक्तिगत-हित के विरोध में इस्तेमाल करती है तो वह मनुष्य जीवन

* Democracy is a government of the people, for the people and by the people.

के उद्देश्य से विमुख है। प्रजातन्त्रवाद के अनुसार राजनैतिक संगठन का आधार एकता, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय है।

वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देश अपने स्वार्थ रक्षा के लिये कुछ भी करें, परन्तु सिद्धान्त रुपेण उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सरकार का उद्देश्य हुक्म चलाना और क़ानून बनाना नहीं है। व्यक्ति के अन्दर उन्नति की सारी शक्तियाँ मौजूद हैं। वे तब तक कार्य नहीं कर सकतीं जब तक उनके लिये एक विशेष वातावरण तैयार न किया जाय। सरकार का कार्य इसी वातावरण की स्थापना करना है। व्यक्ति को साधन बनाकर वह उसे साध्य पर पहुँचा सकता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसके अन्दर प्रेम, सद्भाव, सहिष्णुता आदि गुण कालान्तर से मौजूद हैं। सरकारी कर्मचारियों के हुक्म और धारा सभाओं के क़ानून उसमें वृद्धि नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति की मर्यादा का ध्यान रखते हुये सामाजिक संगठन का स्वरूप निश्चित किया जाय तो लताओं की तरह वह स्वयं उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकता है। इसीलिये प्रजातन्त्र-वादी सरकार अपने आप को व्यक्ति की उन्नति का ठीकेदार नहीं वरन् सहायक मात्र समझें।

जब प्रजातन्त्रवाद के अन्दर व्यक्ति को ही अपनी उन्नति का साधन बनना है और सरकार केवल सहायता कर सकती है, तो यह आवश्यक है कि नागरिक को एक विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाय। राष्ट्रीय शिक्षा के बिना उसके अन्दर स्वावलम्बन और आत्म सम्मान का भाव नहीं आ सकता। सरकार इन दोनों का ध्यान रखते हुये निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करे। यदि राज्य में बहुसंख्यक नागरिक राजनैतिक शिक्षा से अनभिज्ञ हैं तो वहाँ प्रजातन्त्रवाद सफल नहीं हो सकता। लोगों में इतनी चेतना अनिवार्य है कि वे सच्चे प्रतिनिधियों को पहचान सकें। अशिक्षित समाज में अच्छी से अच्छी सरकार असफल सिद्ध होगी। सरकार एक शक्ति ज़रूर है, परन्तु उसका प्रयोग व्यक्ति के सहयोग से होना चाहिये। 'प्रजातन्त्र' व्यक्ति के लिये कोई नई चीज़ नहीं है। स्वतन्त्रता की भावना ने उसे यह अवसर दिया कि एक नवीन प्रकार का राजनैतिक संगठन बनाकर वह वैज्ञानिक युग की सामग्रियों से लाभ उठाये। यदि विज्ञान का प्रादुर्भाव न होता और व्यावसायिक जगत में एक विशेष क्रान्ति न हुई होती तो इस 'वाद' की उपयोगिता में बहुतों को सन्देह होता।

व्यक्ति स्वभाव से ही अपने कार्यों को अपनी इच्छानुसार करना

चाहता है। उसे अपनी ग़लतियों से सीखने में अधिक आनन्द मिलता है। दूसरों की टीका-टिप्पणी से उसके दिल को चोट पहुँचती है। जब किसी वाद-विवाद में उसकी राय मान ली जाती है तो उसकी ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहता। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर ऐसे वाद-विवाद की अधिक गुंजाइश होती है।* सरकार के सब मसले आम जनता की चर्चाओं द्वारा फ़ैसल किये जाते हैं। व्यक्ति को अपनी प्रतिभा और वाक्-चातुर्य दिखलाने का पूरा अवसर मिलता है। प्रजातन्त्र दो प्रकार का होता है :—

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy)

(१) इसमें राज्य की सम्पूर्ण प्रजा प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेती है। जब कभी किसी राजनैतिक विषय पर विचार करना होता है तो राज्य के सब लोग एकत्र होकर उस पर विचार करते हैं। क़ानून बनाने में प्रत्येक व्यक्ति की राय ली जाती है। हर आदमी से पूछ कर टैक्स लगाया जाता है। इसी लिये ऐसी सरकार उसी राज्य में सम्भव है जिसका क्षेत्रफल छोटा हो। जिसमें थोड़े से लोग निवास करते हों। इसी आधार पर अफ़लातून ने आदर्श राज्य की जन संख्या ५०४० निश्चित की है। प्राचीन यूनान और रोम नगर में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सरकार की प्रथा थी। आज भी स्विटज़रलैंड के कैन्टन्स (देश के छोटे छोटे राजनैतिक विभाग) में इसी नियम के अनुसार शासन होता है।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)

(२) वर्तमान राज्यों की सीमा इतनी बड़ी है कि बड़े से बड़े काम के लिये सम्पूर्ण जनता का एक स्थान पर एकत्र होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। इसीलिये निर्वाचन पद्धति द्वारा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना की गई है। जब सम्पूर्ण प्रजा व्यक्तिगत रूप से एकत्र नहीं हो सकती तो वह अपना प्रतिनिधि भेजती है। प्रतिनिधियों की राय सम्पूर्ण प्रजा की राय मानी जाती है। कुछ राजनीतिज्ञ इसका विरोध करते हैं। उनका कहना है कि एक व्यक्ति एक समय एक ही राय दे सकता है। प्रतिनिधि अपनी निजी राय को छोड़कर सैकड़ों की रायें क्यों और कैसे दे सकता है? प्रजातन्त्र को सफल बनाना है तो इससे बढ़कर कोई और तरीक़ा नहीं हो सकता। यदि

---

* Democracy is a government of discussions.

मताधिकारी योग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि चुनें तो प्रतिनिधि प्रथा कोई बुरी नहीं है।

प्रजातन्त्र के गुण दोष

प्रजातन्त्र के जितने गुण हैं उतनी ही बुराइयाँ हैं। लेकिन वे बुराइयाँ ऐसी नहीं हैं जो दूर न हो सकें। जब प्रजा अपनी इच्छानुसार अपना शासन करती है तो वह कभी भी असन्तुष्ट नहीं रह सकती। यदि उसमें कुछ कमज़ोरियाँ हैं तो शासन के उत्तरदायित्व को पाकर वह उन्हें धीरे धीरे दूर करेगी। इस सरकार के अन्दर सभी लोग समान समझे जाते हैं। इसीलिये कुछ राजनीतिज्ञों ने प्रजातन्त्र को सरकार का कोई भेद न मानकर समाज का एक विशेष संगठन कहा है। अर्थात् राज्य में राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की समानता होनी चाहिये। तभी सच्ची प्रजातन्त्र सरकार बन सकती है। जब हर व्यक्ति अपने देश के शासन में हाथ बँटाता है तो उसके अन्दर आत्मगौरव की भावना जाग्रत होती है। अपनी काहिली तथा अन्य कमज़ोरियों को वह जल्दी से जल्दी दूर करना चाहता है। उसके अन्दर राजनैतिक शिक्षा की वृद्धि होती है। आवश्यकता पड़ने पर वह अपने देश के लिये हर तरह का त्याग और कष्ट सहन कर सकता है। प्रजातन्त्र सरकार के अन्दर किसी क्रान्ति का भय नहीं रहता। लोग जैसे और जब चाहें इसे बदल सकते हैं।

प्रजातन्त्र सरकार के अन्दर कुछ बुराइयाँ भी हैं। सम्पूर्ण जनता समानरूप से अपने हितों को नहीं पहचान सकती। सब की बुद्धि बराबर नहीं होती। इससे अवसरवादी तथा पदलोलुप व्यक्ति बेजा फ़ायदा उठाते हैं। चुनाव के समय वे झूठी झूठी प्रतिज्ञायें करते हैं, भोले भाले निर्वाचकों को अपनी ओर फोड़ते हैं तथा ग़लत सिद्धान्तों पर पार्टियाँ बनाकर अपने को प्रतिनिधि निर्वाचित करा लेते हैं। चुनाव के बाद जब वे धारा सभाओं में जाते हैं तो वहाँ प्रजा के हित को भूलकर अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र सरकारों में राजनैतिक दल-बन्दियों की कश-मकश इतने ज़ोरों पर है कि अच्छे और निष्पक्ष व्यक्ति सरकारी कामों से उदासीन होते जा रहे हैं। अल्पसंख्यक वर्गों के हितों की रक्षा का कोई साधन नहीं दिखाई पड़ता। यह उचित नहीं है कि मूर्ख और शिक्षित दोनों को समान अधिकार दिये जायँ। इसीलिये प्रजातन्त्र सरकार को 'मूर्खों का राज्य' कहा गया है।*

---

* Democracy is a government of fools.

वर्तमान प्रजातन्त्र में समानता की कमी है। आर्थिक क्षेत्र में एक ओर तो भयंकर ग़रीबी है और दूसरी ओर विलासिता का साम्राज्य है। इतनी विषमताओं के रहते हुये समानता का राग अलापना प्रजातन्त्र की हँसी उड़ाना है।

प्रजातन्त्र का भविष्य

यदि सचमुच इसे सफल बनाना है तो आर्थिक समानता के अतिरिक्त लोगों में राजनैतिक शिक्षा का प्रचार होना चाहिये। जब तक हर एक व्यक्ति किसी हद तक शिक्षित होकर अपनी ज़िम्मेवारियों को महसूस न करेगा तब तक न वह सच्चे प्रतिनिधियों को चुन सकता है और न नियमों का पालन कर सकता है। वर्तमान प्रजातन्त्र की कमज़ोरियों के कारण तानाशाही (Dictatorship) की वृद्धि होती जा रही है। यदि राजनैतिक शिक्षा, आर्थिक समानता, साम्राज्यवाद, सामाजिक भेदभाव—इन प्रश्नों को शीघ्र से शीघ्र हल नहीं किया गया तो प्रजातन्त्र सरकारों का भविष्य अन्धकारमय है।

तानाशाही (Dictatorship)

१९१४ की बड़ी लड़ाई के बाद संसार में एक नये प्रकार की सरकार का श्री गणेश हुआ है। इटली और जर्मनी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इनकी शासन पद्धतियों में थोड़ा बहुत भेद ज़रूर है परन्तु दोनों के राजनैतिक सिद्धान्त लगभग एक से हैं। इस सिद्धान्त की व्याख्या इसलिये नहीं की जा सकती कि अभी तक दार्शनिकों ने इस पर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला है।* इसकी एक वजह यह भी है कि हिटलर और मुसोलिनी दोनों इस बात का एलान कर चुके हैं कि "सिद्धान्त की चरचाओं से कार्य बढ़कर है। यदि राज में सामाजिक संगठन है तो प्राचीन रूढ़ियों की कोई आवश्यकता नहीं है।"†

तानाशाही एक ऐसी सरकार है जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं है। यह सरकार किसी प्रधान नेता की शक्ति पर निर्भर करती है।

इसके अनुसार मनुष्य के अन्दर अभिमान सबसे बड़ा गुण माना गया है। इसीलिये यह प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध कहा जाता है। सरकार की

---

* Fascist philosophy is vague—G. H. Sabine.

† "Action not talk" and "There is no need for dogma, discipline suffices."

शक्ति सर्व प्रधान है। प्रत्येक शक्ति एक आध्यात्मिक बल है। सरकार जो कुछ भी करती है उसमें व्यक्ति की उन्नति का भाव छिपा हुआ है। इस दृष्टि से तानाशाही के अन्दर तर्क का स्थान नहीं है। इसका विश्लेषण करते हुए एक विद्वान् का कहना है कि मनुष्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता, न्याय, प्रसन्नता, शान्ति अथवा सुख नहीं है।* सरकार सब कुछ है। कोई शक्ति उसके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकती। राष्ट्रीयता उसी की देन है। उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी प्रकार का संगठन नहीं बनाया जा सकता।†

तानाशाही के अन्दर लोकमत का थोड़ा भी मूल्य नहीं है। कहा जाता है कि राजनीति के अन्दर मनुष्य का विचार तर्क के विरुद्ध हो जाता है। इसलिये उसके ऊपर किसी न किसी प्रधान की आवश्यकता है। राजसत्ता का व्यापकवाद तानाशाही को मान्य नहीं है। आम जनता सरकार पर प्रभाव डालने के लिये स्वतन्त्र नहीं हैं।‡ राजनैतिक संगठन में किसी शक्तिशाली नेता का होना अनिवार्य है। जनता का कर्तव्य है कि वह उसकी आज्ञाओं का पालन करे।§ नेता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई विद्वान् और नीति कुशल हो। उसके अन्दर संगठन करने की अद्वितीय शक्ति होनी चाहिये।

मुसोलिनी का कहना है कि मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। वह समय और स्थान के बन्धन से ऊपर है। उसके अन्दर साहस, आत्मत्याग तथा बड़प्पन के और भी भाव बिना किसी स्वार्थ के मौजूद हैं। उसके

---

* Justice, happiness and peace are dreams; comfort is boring and senile ; man is a beast of prey.

† "Every thing for the state" ; "nothing against the state", " nothing out side the state "........ "Except by the permission of the state there may be neither political parties, trade unions, industrial or commercial associations."

‡ The masses are not allowed to exercise any influence on the life of the state.

§ Authority from the top down and responsibility from the bottom up.

कार्यों का उद्देश्य आत्म सुख अथवा भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति नहीं है। उसके अन्दर एक दैवी शक्ति मौजूद है जिससे वह संसार में विजय प्राप्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राष्ट्र को एक-तन्त्र भाव से किसी नेता में विश्वास करना चाहिये। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तानाशाही और प्रजातन्त्रवाद दोनों में महान अन्तर है। एक दूसरे की प्रतिक्रिया हैं। यदि प्रजातन्त्रवाद कार्य रूप में अपने सिद्धान्त पर अटल रहता तो इस नये प्रकार की सरकार के लिये उन्नति का मार्ग असम्भव हो जाता। इतना अवश्य मानना होगा कि तानाशाही सरकार की सबसे बड़ी देन अपने राष्ट्र को आर्थिक क्षेत्र में वर्तमान वैज्ञानिक युग के अनुकूल करना है।

सर्व श्रेष्ठ सरकार

सरकार की ऊपरी बनावट से इसकी अच्छाई बुराई का पता नहीं लग सकता। किसी मनुष्य के शरीर से हम यह नहीं जान सकते कि वह अच्छे या बुरे विचार का है। हाँ, उसके कार्यों से उसके विचार जाने जा सकते हैं। सरकार कार्यों से ही पहचानी जाती है। मान लीजिये किसी राज्य का प्रधान एक व्यक्ति है। सभी अधिकार उसी को दिये गये हैं। ऐसी सरकार अच्छी और बुरी दोनों हो सकती है। यदि वह व्यक्ति सहृदय है और निःस्वार्थ भाव से अपने को प्रजा का सेवक समझता है तो उसकी सरकार आदर्श होगी। लेकिन यदि वही अत्याचारी है तो उसकी सरकार घृणित समझी जायगी। यही बात कुलीन-तन्त्र में भी है। थोड़े से देश हितैषी प्रजा पर शासन करें और हर पहलू से उसकी सामाजिक और आर्थिक दशा को बढ़ायें तो उनकी सरकार कोई बुरी नहीं है। परन्तु यदि वे अपने ही सुख और अधिकारों का ध्यान रक्खें तो वह बुरी समझी जायगी।

प्रजातन्त्र को आदर्श तभी मान सकते हैं जब कि इसके अन्दर अनेक शर्तें मौजूद हों। यदि सम्पूर्ण प्रजा अशिक्षित है और उसे अपने राजनैतिक प्रबन्ध का ज्ञान नहीं है तो वह स्वयं राज्य करते हुये भी दुखी रहेगी। राज्य में लड़ाई झगड़े होंगे। प्रजातन्त्र तभी सफल हो सकता है जब कि आम जनता अपने अधिकारों का मूल्य समझे; उसके अन्दर राजनैतिक शिक्षा हो; और वह उन्नति की किसी सतह तक पहुँच चुकी हो। किसी अशिक्षित और असभ्य देश के लिये प्रजातन्त्र सबसे भयंकर चीज़ है। वहाँ सुदृढ़ एकतन्त्र सरकार की आवश्यकता है।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि सरकार के ऊपरी ढाँचे पर विचार करना व्यर्थ है। कुछ ऐसे गुण हैं जो किसी भी सरकार को अच्छा बना सकते हैं। उनकी अनुपस्थिति में अच्छी से अच्छी सरकार बुरी हो सकती है। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है, "अच्छी सरकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह जनता के चरित्र और मस्तिष्क का विकास करे।"* गार्नर का कहना है, "सभी देशों के लिये एक प्रकार की सरकार उसी तरह नहीं बनाई जा सकती जैसे हर मनुष्य के लिये एक ही नाप का कपड़ा नहीं बनाया जा सकता।†" वह सरकार की उपमा एक घर से देता है। जैसे घर लोगों की रुचि और आवश्यकतानुसार बनाये जाते हैं उसी तरह सरकार भी विभिन्न समाज में विभिन्न प्रकार की होनी चाहिये।‡ सरकार की बनावट और उसकी नीति में भेद होता है। बनावट कैसी भी हो, यदि वह प्रजा के हित का ध्यान रखती है तो वह अच्छी सरकार कहलायेगी। किसी कवि ने कहा है "सरकार के ऊपरी आकार पर मूर्ख लोग टीका टिप्पणी करते हैं। असली विचारणीय वस्तु तो उसकी नीति है।"§

---

* The first element of a good government is the promotion of the virtue and intelligence of the people.

† No single form of government is adapted to all societies any more than a suit of clothes could be made to fit all men.

‡ Government is like a house which must be adapted in construction to the peculiar purposes and needs of those who dwell in it, and it must be altered from time to time as those needs change and multiply.

§ For forms of Government,
Let fools contest;
Whatever is best,
Administered is best.

अध्याय १३

मताधिकार (Franchise)

मताधिकार का अर्थ—प्राचीन काल में मताधिकार—मताधिकार की उत्पत्ति—मताधिकारी कौन है—इंगलैंड—फ्रांस—अमेरिका—जर्मन—हिन्दुस्तान—निर्वाचन क्षेत्र—निर्वाचन नियम—मत कैसे देना चाहिये—स्वतन्त्र मत—स्त्रियाँ और मताधिकार—अल्प संख्यक और निर्वाचन—द्वै निर्वाचन—प्रतिनिधि—सम्मिलित और पृथक् निर्वाचन।

मताधिकार का अर्थ

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है 'मत' एक प्रकार का 'अधिकार' है। लेकिन हर आदमी रोज़ बीसों मामलों में अपना मत देता है तो क्या उसे किसी तरह का अधिकार प्राप्त है? उसकी कितनी ही रायें ठुकरा दी जाती हैं। यदि उसे थोड़ा भी अधिकार प्राप्त होता तो वह उन्हें ठुकराने न देता। अधिकार तो तभी माना जा सकता है जब उसकी राय का कुछ मूल्य हो अथवा उसके वग़ैर कोई काम रुक जाय। 'मताधिकार' (Franchise) शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। यहाँ पर 'मत' शब्द से तात्पर्य केवल "राजनैतिक विषयों में राय देने से है।" मताधिकार उसी को प्राप्त है जो सरकार की ओर से कुछ विषयों में राय देने का अधिकारी होता है। इस योग्यता की कुछ कसौटी है जिसे पूरा किये बिना कोई मताधिकारी नहीं बन सकता। राज्य में सबसे महत्वपूर्ण काम क़ानून बनाना है। लगभग सभी देशों में प्रजा के प्रतिनिधि इस काम को करते हैं। इसलिये प्रतिनिधिओं का दर्जा काफ़ी बड़ा है। यदि राजा जिसे चाहे प्रतिनिधि बना दे और जो चाहे क़ानून पास करा ले तो प्रतिनिधि और क़ानून दोनों का कोई महत्व नहीं रह जाता। लेकिन किसी भी राज्य में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। क़ानून बनाने का अधिकार केवल प्रतिनिधियों को दिया गया है, जिन्हें प्रजा अपनी इच्छानुसार चुनकर भेजती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जनता के हाथ में यह ताक़त दी गई है कि वह जिसे चाहे अपना प्रतिनिधि चुने। यदि यह शक्ति राज्य में हर किसी को दे दी जाय तो प्रतिनिधियों का चुनाव ठीक ठीक नहीं हो सकता। नादान बच्चों और मूर्ख व्यक्तियों की समझ में

यह बात नहीं आ सकती कि कौन योग्य और कौन अयोग्य है। इसीलिये सरकार उन्हीं लोगों को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देती है जो किसी हद तक शिक्षित और समझदार होते हैं। अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रतिनिधि चुनने का अधिकार केवल नागरिक को दिया जाता है। आरम्भ में यह बतलाया गया है कि नागरिक कौन है और उसके क्या क्या अधिकार हैं। उसके अधिकारों में से अपनी राय के अनुसार प्रतिनिधियों का चुनना भी एक अधिकार है। उनके मत के बग़ैर कोई प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता और जिसे जनता अपनी राय से चुन लेती है उसे कोई निकाल भी नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि मताधिकार एक बहुत बड़ी ताक़त है जो केवल नागरिक को दी गई है। यह अधिकार राज्य की ओर से हर नागरिक को दिया जाता है।

प्राचीन काल में मताधिकार

मताधिकार एक नई चीज़ है। इसका रवाज प्राचीन काल में आज-कल की तरह न था। इसकी दो वजूहात हैं। एक तो यह ऐसी कला है जो पूर्वजों को मालूम न थी। जिस प्रकार आधुनिक काल की बहुत सी वैज्ञानिक वस्तुओं का उन्हें ज्ञान न था उसी तरह यह विज्ञान भी उनकी समझ से बाहर था। दूसरी वजह यह है कि प्राचीन काल में शासन की व्यवस्था आज कल की सी न थी। न तो इतनी आबादी थी और न आवागमन के इतने साधन थे। छोटे छोटे राज्य थे और उनका सम्बन्ध अन्य राज्यों से लगभग नहीं के बराबर था। इतना ज़रूर है कि वे राज्य प्रजातन्त्र थे। उनमें प्रजा की राय से काम किया जाता था। यदि कभी कोई अत्याचारी अथवा ज़ालिम राजा हुआ तो प्रजा उसे निकाल बाहर करती अथवा वह स्वयं कहीं लड़भिड़ कर अपनी जान गँवा देता। उसके समय में प्रजा के अधिकार छीन लिये जाते और उसे अनेक सख़्तियों का सामना करना पड़ता था। लेकिन प्रजातन्त्र राज्यों में यह बात न थी। वहाँ सारी प्रजा इकट्ठी होकर अपने लिये क़ानून बनाती और राज्य के हर मामले में ठंडे दिल से विचार करती थी। राजा खुशी खुशी उन रायों को मान लेता और परोक्ष वा प्रत्यक्ष दोनों प्रकार से उनका पालन करता था। ऐसे राज्य आदर्श कहलाते थे। यूनान देश में इस प्रकार के अनेक राज्य थे, जिनमें एथेन्स (Athens) अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था। उसी स्वतन्त्र वातावरण ने सुकरात

अफ़लातून और अरस्तू ऐसे व्यक्तियों का जन्म दिया, जिनकी विद्वता पर आज भी संसार को गर्व है। भारतीय इतिहास में गणतन्त्र राज्यों में प्रजा की राय का सम्मान किया जाता था। धर्म और लोकमत के विरुद्ध चलने में राजा अपना अपमान समझते थे।

जब कि राज्य के सभी व्यक्ति इकट्ठे होकर अपनी अपनी राय को प्रकट कर लेते थे, प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता न थी। जो व्यक्ति स्वयं अपनी राय ज़ाहिर कर सकता है उसे औरों को अपना मताधिकारी चुनने की क्या आवश्यकता है। इसी लिये 'मताधिकार' शब्द का ज़िक्र प्राचीनकाल के इतिहासों में नहीं आता। और यदि कहीं इस शब्द का प्रयोग किया भी गया है तो उसका अर्थ आज कल से बिलकुल भिन्न है। हिन्दोस्तान में भी यूनान की तरह प्रजातन्त्र राज्य थे। सिकन्दर जब इस देश को फ़तह करने के लिये आया था तो उसे उन प्रजातन्त्र राज्यों से मुठभेड़ हुई थी। वह इन राज्यों की तारीफ़ करता है। राज्यों की सीमा और जनसंख्या कम होने के कारण प्रतिनिधित्व की प्रथा न थी। यूनान का राजनैतिक इतिहास देखने से पता चलता है कि मत देने वालों में काफ़ी फ़रक़ किया जाता था। जो राज्य के आदिम निवासी होते वे ही इकट्ठे होकर अपनी राय दे सकते थे। विदेशियों को राजनैतिक मामलों में चूँ तक करने का अधिकार न था। ग़ुलामों की दशा उनसे भी बदतर थी। वे, राय देना तो दूर रहा, अपने पास कोई जायदाद भी नहीं रख सकते थे और न अपने रहने के लिये घर बना सकते थे। वे जानवरों की तरह बाजारों में बेचे जाते थे। एथेन्स नगर में तो एक समय १००० आदिम निवासी और १०,००० ग़ुलाम तथा विदेशी थे। राज्य की ओर से इन्हें कोई अधिकार नहीं दिया गया था।

मताधिकार की उत्पत्ति

मताधिकार एक वैज्ञानिक आविष्कार है। औद्योगिक क्रान्ति के पहले इस प्रथा का रवाज कहीं भी न था। कहने सुनने को किसी किसी देश में प्रतिनिधित्व का रवाज था लेकिन उसका ढंग आजकल की तरह न था। लोग धारा सभाओं में जाना एक भार समझते थे। उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि एक व्यक्ति किसी और की राय को ज़ाहिर कर सकता है। कहने को तो 'मताधिकार' की उत्पत्ति इस क्रान्ति से काफ़ी पहले हुई थी, लेकिन इसका मौजूदा ढंग क्रान्ति के बाद

बना। प्रत्येक देश की आबादी काफ़ी बढ़ने लगी। अच्छे से अच्छे प्रजा-तन्त्र वादी देशों में यह सम्भव न था कि सभी लोग एकत्रित होकर किसी मामले पर विचार कर सकें। एक दूसरी बात यह थी कि प्रजा को उन दिनों अधिकार भी कहने सुनने को ही प्राप्त थे। राजा और प्रजा दो विपक्षी समझे जाते थे। प्रजा उनकी आज्ञाओं को दैवी अधिकार समझ कर मान लेती थी। जब आबादी अधिक बढ़ गई और वैज्ञानिक उन्नति से लोगों की अधिकार-चेष्टा बढ़ने लगी तो 'मताधिकार' का जन्म हुआ। प्रजा अपने प्रतिनिधि चुन कर धारा सभाओं में भेजने लगी। तबसे यह प्रथा जारी है। मताधिकार और इसका महत्व बढ़ रहा है। लोग यह महसूस करने लगे हैं कि मनुष्य के स्थान पर जब तक क़ानूनों का राज्य स्थापित नहीं होता तब तक सरकार की पैशाचिक करतूतों का अन्त न होगा। प्रजा के प्रतिनिधि ही क़ानूनों का निर्माण करते हैं। इसलिये मताधिकारियों का कर्तव्य है कि वे उन्हीं व्यक्तियों को अपना वोट दें जो धारा सभाओं में अपनी जिम्मेवारी को महसूस करें। किसी वस्तु का आविष्कार सरल है परन्तु इसके उपयोग से लोग वर्षों वंचित रहते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देशों को देखते हुये यह स्वीकार करना पड़ता है कि आम जनता अभी अपनी शक्ति को नहीं पहचानती। शिक्षा के अभाव के कारण उसकी बुद्धि का विकास रुका हुआ है।

मताधिकारी कौन है

अधिकार उसी व्यक्ति को दिया जाता है जो उसका उचित उपयोग करे। हर अधिकार के पीछे कर्तव्य की भावना छिपी रहती है। राज्य में बड़े बड़े सरकारी अफ़सरों को बहुत से अधिकार प्राप्त रहते हैं। लेकिन उनकी ज़िम्मेवारी भी अधिक होती है। कुटुम्ब का स्वामी यह जानता है कि वह जिसे चाहे बुरा भला कह सकता है, लेकिन उसे कुटुम्ब की सबसे अधिक चिन्ता रहती है। कुटुम्ब की बुराई भलाई उसी की बड़ाई और निन्दा समझी जाती है। अधिकार प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना उसे निबाहना। अशिक्षित देश में मताधिकार सबको दे दिया जाय तो इसका काफ़ी दुरुपयोग होगा। इसका उदाहरण मौजूद है। यद्यपि इस देश में मताधिकार थोड़े से लोगों को मिला हुआ है फिर भी वे इसका दुरुपयोग करते हैं। यही सोचकर राज्य की ओर से कुछ ऐसी शर्तें रक्खी गई हैं जिन्हें पूरा किये बग़ैर कोई मताधिकारी नहीं बन सकता। विदेशी किसी देश में मताधिकारी नहीं बन सकते।

भीख माँगने वालों को अपने ही देश में मत देने का अधिकार नहीं रहता। पागल तथा दिवालिये मत नहीं दे सकते। इसके लिये हर देश में एक निश्चित आयु का विधान बनाया गया है। किसी भी देश में नाबालिग़ मत देने के अधिकारी नहीं समझे जाते। कहीं कहीं पर स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार नहीं है। मताधिकारी बनने के लिये जायदाद की भी शर्त लगाई गई है। जिसके पास न कोई जायदाद और न अपना घर है, वह मताधिकारी नहीं बन सकता। किसी दर्जे तक शिक्षा भी अनिवार्य ठहराई गई है। अर्थात् जो उस माप तक शिक्षित नहीं है वह मत नहीं दे सकता। मताधिकार के सम्बन्ध में लोगों के दो विचार हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि मताधिकार बिना किसी भेद भाव के सभी नागरिकों को प्राप्त होना चाहिये। यदि किसी नागरिक को वोट या मत देने का अधिकार नहीं है तो उसकी नागरिकता का कोई अर्थ नहीं है। फ्राँसीसी विद्वान् रूसो का मत है कि मताधिकार सभी नागरिकों को एक समान मिलना चाहिये। यदि प्रजातन्त्रवाद को सफल बनाना है तो जनता को इस अधिकार से भूषित करना चाहिये। इस दलील में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शिक्षा की कमी के कारण इस अधिकार का लोग दुरुपयोग करेंगे। किसी किसी देश में, जिनकी संख्या आज काफ़ी बढ़ गई है, शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है। यह इसीलिये किया गया है कि अधिक से अधिक लोग मताधिकार का उपयोग कर सकें। इसे विश्वव्यापी करने में सबसे बड़ा भय यही है कि अज्ञानता वश इसका दुरुपयोग होगा। इसीलिये प्रजातन्त्रवाद के पक्ष में होते हुये भी जान स्टुअर्ट मिल, लेकी, सिजविक आदि विद्वानों ने मताधिकार के विश्व सिद्धान्त (Universal Franchise) का खंडन किया है। वे खुले आम कहते हैं कि सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिये। यह अधिकार उन्हीं को मिलना चाहिये जो इसका उचित उपयोग कर सकें अथवा जिनके अन्दर इसे समझने की शक्ति हो। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है, "मैं इसे बुरा समझता हूँ कि लिखने पढ़ने तथा गणित की साधारण योग्यता न होते हुये भी किसी को मताधिकार प्रदान कर दिया जाय।"*

---

* I regard it as wholly inadmissible that any person should participate in the suffrage without being able to

इतना ही नहीं वह जायदाद पर भी ज़ोर देता है और साफ़ लिखता है कि जो सरकार को किसी प्रकार का कर न देते हों उन्हें मताधिकार हरगिज़ नहीं मिलना चाहिये।

अच्छा होगा कि हम दुनिया के चन्द बड़े बड़े मुल्कों की ओर नज़र डालें कि वहाँ मताधिकार किनको किनको प्राप्त है। उनका मुक़ाबिला करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि हमारा देश उनसे काफ़ी पीछे है। यहाँ की एक बहुत बड़ी जनसंख्या इस शब्द (मताधिकार) से परिचित तक नहीं है। यही नहीं, हम यह भी देखेंगे कि इस देश में जो प्रजातन्त्रवाद की डींग मारी जाती हैं वह निर्मूल और सरासर ग़लत है। ग्रामीण जनता भेंड़ की तरह अब भी चन्द पढ़े लिखे नुमाइन्दों की हाँ में हाँ मिलाती है। वोट बेंचे जाते हैं। निर्वाचन के समय झूठी झूठी प्रतिज्ञायें की जाती हैं और जनता पर बेजा दबाव डाला जाता है। पिछले चुनाव के समय यह कमी काफ़ी हद तक दूर हो गई थी। जनता ने अपने सच्चे प्रतिनिधियों को पहचाना और साधारण तथा ग़रीब लोगों को अपना प्रतिनिधि चुना। उन्हें यह मालूम होगया कि जब तक हमारे सच्चे प्रतिनिधि धारा सभाओं में न जायेंगे तब तक मुल्क की भलाई नहीं हो सकती।

इंग्लैंड

१९१८ के पहले बृटेन निवासी मताधिकार के सच्चे अर्थ से अनभिज्ञ थे। उन्हें इस अधिकार की चेष्टा न थी। १९१८ ई० में एक क़ानून* पास किया गया। इसके अनुसार काफ़ी लोगों को मताधिकार मिला। १९२८ ई० में एक दूसरा क़ानून पास किया गया, जिसके अनुसार स्त्री-पुरुष सबको बराबर हक़ दे दिये गये। आज इंगलैंड के किसी भी निर्वाचन में स्त्री या पुरुष दोनों अपना मत दे सकते हैं। जिसकी उमर २१ वर्ष से अधिक हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, ५० रुपये सालाना आमदनी की तिजारत करता हो और वोट लिये जाने के दिन तक कम से कम ३ माह पहले से अपने निर्वाचन क्षेत्र में रहता हो, उसे मताधिकार दिया गया है। हर मताधिकारी का नाम रजिस्टर में दर्ज कर

---

read, write, and I will add, perform the common operations of arithmetic

* Representation of the People Act.

लिया जाता है। किसी को दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों में मत देने का अधिकार नहीं है, वह भी इस शर्त पर कि दोनों क्षेत्रों में वह भिन्न भिन्न हैसियत से अपने को मताधिकारी सिद्ध करे। इसके अलावे किसी को मताधिकार प्राप्त नहीं है। लार्ड्स; नाबालिग़, विदेशी, दिवालिये तथा ख़फ़्त दिमाग़ वाले मताधिकार से वंचित रक्खे गये हैं।

फ्रांस

फ्रांस स्वतन्त्रता की ज्योति* कहा जाता है लेकिन ग़ौर से देखने से पता चलता है कि वहाँ स्वतन्त्रता के क्षेत्र में कोई विशेषता नहीं है। वहाँ का वायुमंडल स्त्रियों के प्रतिकूल है। भौगोलिक दृष्टि से इस कथन की पुष्टि भले ही न हो, पर राजनैतिक क्षेत्र में यह बात आइने की तरह साफ़ है। वहाँ स्त्री को मताधिकार प्राप्त नहीं है। स्त्रियाँ राजनीति से अलग रक्खी जाती हैं। लेकिन २१ वर्ष से ऊपर वाले सभी पुरुषों को मत देने का अधिकार है। यह प्रथा १८७४ ई० से आज तक चली आ रही है। पागल, अपराधी तथा फ़ौजी सिपाहियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यूरप ऐसे महाद्वीप में, जो आधुनिक सभ्यता का जन्मदाता कहलाता है, फ्रांस एक ऐसा देश है जिसने नारी वर्ग को राजनीति से वंचित कर रक्खा है।

अमेरिका (U.S.A)

अमेरिका यूरप का दोहरा ख़ाका कहा जाता है। कोई ऐसी बात यूरप में न होगी जिसकी नक़ल अमेरिका में मौजूद न हो। वहाँ संघ शासन की व्यवस्था है, इसलिये मताधिकारी दो श्रेणियों में बाँट दिये गये हैं। एक तो वे जो अपनी रियासतों के निर्वाचन में भाग ले सकते हैं, और दूसरे वे जो संघ धारा सभा के चुनाव में मत देने के अधिकारी हैं। सभी रियासतों में मताधिकार सम्बन्धी अलग अलग नियम हैं। किसी में शिक्षा की शर्त है तो किसी में जायदाद की। फिर भी थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त १९२० ई० से स्त्री और पुरुष दोनों को एक समान मताधिकार प्राप्त है।

जर्मनी

१९२० ई० तक जर्मनी में मताधिकार केवल पुरुषों को प्राप्त था। मताधिकारी तीन हिस्सों में बाँट दिये गये थे, जिसका इतिहास और उद्देश्य वर्णन करना यहाँ

---

* Torch bearer of liberty

उचित नहीं है। मताधिकारी के लिये कम से कम २५ वर्ष की आयु का होना आवश्यक था। १६२० के बाद जर्मनों ने यूरप के और मुल्कों की नक़ल की। मौजूदा जर्मन शासन पद्धति के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को मत देने का एक समान अधिकार है। उनकी आयु २५ वर्ष से घटा कर २० वर्ष कर दी गई है।

हिन्दुस्तान

हिन्दुस्तान में मताधिकार सम्बन्धी नियम इतना टेढ़ा मेढ़ा है कि साधारण लोग उसे समझ ही नहीं सकते। साथ ही कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो और मुल्कों में नहीं पाई जातीं। इस देश की आबादी ४० करोड़ के लगभग है, जिसमें ५ करोड़ नागरिकों को मत देने का अधिकार है। यानी अधिक से अधिक १२½ फ़ीसदी आदमी मताधिकारी बन सकते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि हर सैकड़े ८८ आदमी वोट नहीं दे सकते। इस देश में इतना ही फ़रक नहीं रक्खा गया है कि कौन संघ शासन में मताधिकारी बन सकता है और कौन प्रान्तीय शासन में, बल्कि हर प्रान्त में मताधिकार के अलग अलग नियम बनाये गये हैं। जो नियम संयुक्त प्रान्त में है वही बम्बई में नहीं है। वैसे तो इसकी वजह भौगोलिक परिस्थिति बतलाई जाती है, लेकिन कोई इसे इनकार नहीं कर सकता कि इससे राष्ट्रीय एकता नष्ट होती है। राजनैतिक दृष्टि से यह नीति मुल्क के लिये घातक है। अध्ययन की सुविधा के लिये मताधिकारियों को दो कोटि में रख सकते हैं। एक तो वे जो केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिये मत दे सकते हैं। दूसरे वे जो अपने ही सूबों में मत देने के अधिकारी हैं।

भारतीय मताधिकार में, चाहे वह केन्द्रीय हो अथवा प्रान्तीय, कुछ ऐसी बातें हैं जिनका वर्णन करना यहाँ अनुचित न होगा।

१—प्रत्येक मताधिकारी के लिये अँग्रेज़ी प्रजा होना आवश्यक है। उन रियासतों के राजा तथा नागरिक भी मत देने के अधिकारी हैं जो संघ शासन में शरीक होंगे।

२—पागल, दिवालिये, अपराधी मताधिकारी नहीं बन सकते।

३—जिन्हें काले पानी की सज़ा हुई है या जो हिरासत अथवा जेल में हैं वे भी अपना मत नहीं दे सकते।

४—प्रत्येक मताधिकारी के लिये कम से कम २१ वर्ष की आयु का होना आवश्यक है।

५—१६३५ ई० तक हमारे देश में केवल पुरुषों को मत देने का अधिकार था। लेकिन नये शासन विधान के अनुसार अब स्त्रियाँ भी वोट दे सकती हैं।

६—मताधिकारी के लिये अपने निर्वाचन क्षेत्र का निवासी होना आवश्यक है।

यदि हम सिद्धान्त की चर्चा करें तो पता चलेगा कि इस देश में मताधिकार के इतने टुकड़े किये गये हैं कि इनमें एकता की कोई भावना नहीं है। कोई निश्चित सिद्धान्त मानकर मताधिकार का वितरण नहीं किया गया है। मुल्क को छोटे छोटे समुदायों और सम्प्रदायों में विभाजित करके देश के सामने एक विकट समस्या रख दी गई है। और मुल्कों में केवल शिक्षा और जायदाद के आधार पर मताधिकार का सिद्धान्त बनाया गया है। लेकिन हिन्दुस्तान में ६ ऐसी बातें रक्खी गई हैं जो मताधिकारियों के लिये ज़रूरी हैं। इनसे पता चलेगा कि किस क़दर जाति और धर्म के मामलों को राजनीति में मिलाकर खिचड़ी पकाई गई है।

सम्प्रदाय

१—किसी हिन्दू निर्वाचन क्षेत्र में कोई मुसलमान अपना मत नहीं दे सकता। कोई यूरप का निवासी मुसलमान निर्वाचन क्षेत्र में अपना मत देने का अधिकारी नहीं है। अँग्रेज़ी ईसाई हिन्दुस्तानी ईसाई के निर्वाचन क्षेत्र में वोट नहीं दे सकता।

वर्ग

२—मताधिकार में स्त्री और पुरुष वर्ग को भी अलग किया गया है। मुसलिम स्त्री निर्वाचन क्षेत्र में केवल स्त्रियों को मत देने का अधिकार है। लेकिन हिन्दू स्त्री निर्वाचन क्षेत्र में स्त्री और पुरुष दोनों मत दे सकते हैं। एक विचित्र बात और है। १६१६ ई० के शासन विधान के अनुसार जो पुरुष मताधिकारी ठहराये गये थे, उनकी स्त्रियाँ भी, चाहे वे सधवा हों वा विधवा, मताधिकारिणी मान ली गई हैं।

संगठन

३—कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में वे ही मताधिकारी ठहराये गये हैं जो किसी संगठन वा दल के सदस्य हों। जैसे मज़दूर निर्वाचन क्षेत्र में वही व्यक्ति मताधिकारी है जो मज़दूरदल का सदस्य है। चैम्बर आफ़ कामर्स

(Chamber of Commerce) निर्वाचन क्षेत्र में वोट देने का वही अधिकारी है जो चैम्बर का सदस्य है।

४—मताधिकार वितरण में ऊँच और नीच का भी ध्यान रक्खा गया है। इससे समाज के टुकड़े टुकड़े होने के सिवाय कोई लाभ नहीं है। इतना अवश्य है कि जो समाज में पिछड़े हुये लोग हैं उन्हें मताधिकार का अवसर मिल जाता है। हिन्दू समाज अपनी इस कमज़ोरी के लिये काफ़ी ज़िम्मेवार है। किसी किसी निर्वाचन क्षेत्र में केवल ख़ास जाति वा वर्ग के लोग मत देने के अधिकारी हैं। कुछ सूबों में अछूतों के लिये स्थान नियत कर दिये गये हैं, अर्थात् उनके प्रतिनिधियों की एक निश्चित संख्या मुक़र्रर कर दी गई है।

सामाजिक विभेद

५—लगभग सभी सूबों में मताधिकारी के लिये थोड़ी बहुत जायदाद का रखना आवश्यक ठहराया गया है। मताधिकारी वे ही बन सकते हैं जो या तो सरकार को टैक्स देते हों अथवा किसी निश्चित रक़म से ऊपर उनकी वार्षिक आमदनी हो।

साम्पत्तिक विभेद

६—सरकारी फ़ौज का पेन्शन आफ़्ता अफ़सर मत देने का अधिकारी है।

नौकरी

७—पुरुषों के लिये कम से कम चौथे दर्जे तक की शिक्षा और स्त्रियों के लिये शिक्षित होने का सबूत, आवश्यक है। अशिक्षित व्यक्ति मताधिकारी नहीं बन सकता।

शिक्षा

८—जिसे 'सर' अथवा 'खाँ' या इसी तरह का कोई और सरकारी ख़िताब प्राप्त है वह मत देने का अधिकारी समझा जाता है।

ख़िताब

९—मताधिकारियों की सूची में उन लोगों का भी नाम शामिल कर लिया गया है जो किसी ख़ास स्थान को ग्रहण करते हैं। भविष्य में जो भी उन स्थानों को सुशोभित करेगा वह मताधिकारी मान लिया जायगा। हाईकोर्ट के जज, विश्व विद्यालयों के वाइस चान्सलर इस कोटि में आ जाते हैं।

पद

मत देने के लिये सरकार सम्पूर्ण देश को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट

देती है। प्रत्येक टुकड़े को निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं।

निर्वाचन क्षेत्र

जब म्युनिसिपल बोर्ड के प्रतिनिधियों का चुनाव होता है तो शहर को छोटे छोटे वार्डों में विभाजित कर दिया जाता है। यह प्रत्येक वार्ड निर्वाचन क्षेत्र कहलाता है। यदि किसी स्कूल में १०० विद्यार्थी पढ़ते हों और वे सब किसी मामले में वोट देने के अधिकारी हों तो स्कूल का प्रधान अलग अलग दर्जों में उनकी राय ले सकता है। यहाँ पर प्रत्येक क्लास निर्बाचन क्षेत्र कहलायेगा। निर्वाचन क्षेत्र के अलावे कोई दूसरा तरीक़ा नहीं है जिससे प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाय। इसका विभाजन कई प्रकार से किया जाता है। या तो किसी प्राकृतिक सीमा के आधार पर इनका विभाजन होता है अथवा आबादी की गणना के अनुसार। सबसे अच्छा यह है कि बराबर बराबर जनसंख्या में पूरा देश बाँट दिया जाय। हर जगह से बराबर बराबर प्रतिनिधि चुन लिये जायँ। लेकिन इसमें कठिनाई यह होती है कि सरकार को बार बार मनुष्य गणना करानी पड़ती है, क्योंकि आबादी घटती बढ़ती रहती है। विशेष कर आधुनिक मशीन युग में मामूली जगहों पर चन्द वर्षों में शहर बस जाया करते हैं। मनुष्य गणना एक महँगी चीज़ है। इसमें सरकार को लाखों रुपया ख़र्च करना पड़ता है। फिर भी कई कारणों से वह इस कार्य को करती है। प्रजातन्त्रवादी सरकारों के लिये नागरिकों की गणना करना और भी आवश्यक है। सरकार को उनकी शिक्षा, आर्थिक दशा तथा उन्नति अवनति से परिचित रहना पड़ता है। हिन्दोस्तान की मनुष्य गणना प्रति दसवें वर्ष होती है। अगली वर्ष गणना १९५१ ई० में होगी। मनुष्य गणना का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है। कोई व्यक्ति अथवा प्रान्तीय सरकार इसे नहीं कर सकती।

निर्वाचन क्षेत्रों में प्रतिनिधि चुनने के कई तरीक़े हैं। एक तो यह

निर्वाचन नियम

कि हर निर्वाचन क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुन लिया जाय। इससे सुविधा यह होगी कि जितने प्रतिनिधि चुनने हों उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में देश को बाँट दिया जाय। इस तरीक़े को 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' (Single District System) कहते हैं। यह प्रथा सबसे अच्छी समझी जाती है। इङ्गलैंड में इसी प्रकार से निर्वाचन होता है। लेकिन किसी किसी निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि भी चुन

लिये जाते हैं। फ्रांस में कुछ दिनों तक 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' का रवाज़ था लेकिन आज कल नहीं है। इस प्रथा का प्रचार भारतवर्ष में भी नहीं है। इसमें कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ भी हैं। सबसे बड़ी ख़ूबी तो यह है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की भलाई के लिये पूरा ज़िम्मेवार होता है। उसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं होता। अपने निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकताओं को व्यवस्थापिका सभा में रखने के लिये वह एक मात्र ज़िम्मेवार होता है। वह अपने निर्वाचन क्षेत्र को भली भाँति जानता है और वहाँ की जनता उससे अपनी भलाई की आशा रखती है। यदि एक निर्वाचन क्षेत्र से दो या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो यह ज़िम्मेवारी सब में बँट जाती है, और इस दशा में कोई भी पूरी ज़िम्मेवारी लेने के लिये तैयार नहीं हो सकता। दूसरा लाभ यह है कि प्रतिनिधि होने से निर्वाचन क्षेत्र का बच्चा बच्चा उसे जानता है। अपने क्षेत्र का निवासी होने के नाते सबसे भली भाँति परिचित होता है। तीसरा लाभ यह है कि निर्वाचन क्षेत्र में अनेक दल बन्दियाँ नहीं होने पातीं। जब एक ही प्रतिनिधि का चुनाव है तो अधिक से अधिक दो दल हो सकते हैं, एक उसके पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। चौथा लाभ यह है कि निर्वाचन में काफ़ी आसानी होती है। अल्प संख्यक लोगों को इस प्रथा से प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का अवसर मिलता है। लेकिन इससे कुछ ऐसी हानियाँ हैं जिनकी वजह से यह प्रथा सर्वमान्य नहीं है। एक तो आबादी सदैव घटती बढ़ती रहती है। हर चुनाव के अवसर पर सरकार को जनसंख्या की गणना करानी होगी, जो कठिन और साथ ही बेकार भी है। वोट लेने के नाते प्रतिनिध अपने ही निर्वाचन क्षेत्र की भलाई चाहते हैं। उन्हें समूचे देश की भलाई का ध्यान कम होता है। तीसरी बुराई यह है कि यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में दो योग्य व्यक्ति हों और जनता दोनों को चुन कर भेजना चाहती हो तो वह नहीं भेज सकती। इतनी कमी होते हुये भी 'एक निर्वाचन क्षेत्र प्रथा' सबसे सरल और उत्तम है। प्रत्येक देश में इसकी नक़ल होनी चाहिये।

निर्वाचन का दूसरा नियम 'बहुनिर्वाचन प्रथा (General Ticket method) है। यह पहली प्रथा के विरुद्ध इस बात का पक्षपाती है कि हर निर्वाचन क्षेत्र से कई प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये। प्रत्येक प्रतिनिधि के लिये अलग अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाना बेकार की परेशानी है। थोड़े

से निर्वाचन क्षेत्रों में सम्पूर्ण देश को बाँट दिया जाय और जितने प्रतिनिधि चुनने हों उनको हर क्षेत्र से आबादी के लिहाज़ से चुन लिया जाय। इसमें परेशानी भी कम है और मतदाताओं को कोई घाटा भी नहीं है। लेकिन हमें याद रखना चाहिये कि इस प्रथा से हर एक निर्वाचन क्षेत्र में दलबन्दियों की भरमार लग जायगी। कोई भी प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र को 'अपना' नहीं कह सकता। यदि कोई पार्टी काफ़ी मज़बूत है तो सारे प्रतिनिधि उसी दल से चुन लिये जायेंगे और बाकी लोगों को मुँह ताकना पड़ेगा। जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि हर प्रथा में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों हैं। संसार के अधिकतर देश 'बहु-निर्वाचन प्रथा' को मानते हैं।

मत कैसे देना चाहिये

हर चीज़ का एक ढंग होता है। मत लेने के कई तरीक़े हैं। प्राचीन काल में भी राजा लोग प्रजा का मत लिया करते थे। प्रजा किसी जगह इकट्ठी होती थी। हर बात पर वह चिल्ला कर 'हाँ' या 'नहीं' कहती थी। धीरे धीरे इसमें सुधार हुआ और हाथ उठाने की प्रथा चली। जो लोग किसी बात के पक्ष में होते वे हाथ ऊपर को उठाते थे। जो इसके विपक्षी होते वे हाथ नहीं उठाते थे। आगे चल कर कुछ चिन्ह मुकर्रर किये गये जिससे लोगों का मत ले लिया जाता था। बाद में, जो कि बहुत हाल का तरीका है, लिखकर मत लेने की प्रथा चली। जहाँ मत लिया जाता वहाँ एक काग़ज़ पर मतदाता से यह लिखवाया जाता था कि वह अपना वोट किस व्यक्ति को देना चाहता है। दोनों पक्ष के लोग अपना अपना नाम लिखवाने की कोशिश करते थे। इससे कभी कभी झगड़े और ख़ून ख़राबियाँ तक हो जाती थीं। उन्नीसवीं सदी के अन्त में 'गुप्त मत' (Secret Vote or Secret Ballot) की प्रथा चली। यह तरीक़ा सबसे नवीन और सुविधा जनक है। इससे यह कोई नहीं जान सकता कि मतदाता अपना मत किसको दे रहा है।

हर निर्वाचन क्षेत्र में दो चार जगहों पर निर्वाचन केन्द्र नियत कर दिये जाते हैं। निर्वाचन की तिथि और ठीक समय का समूचे क्षेत्र में हफ़्तों पहले एलान कर दिया जाता है। हिन्दोस्तान में डुग्गी द्वारा यह एलान किया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन केन्द्र पर मतदाताओं के नाम का एक रजिस्टर रक्खा रहता है ताकि कोई अनागरिक मताधिकारी न बन जाय। निर्वाचन केन्द्र पर एक लोहे वा लकड़ी का बक्स होता है जिसका ताला

बन्द रहता है। वहाँ एक व्यक्ति सरकार की ओर से नियुक्त किया जाता है जो बक्स की निगरानी करता है और किसी तरह की बेजा बात नहीं होने देता। यह व्यक्ति रिटर्निंङ्ग आफ़िसर (Returning Officer) कहलाता है। जब मताधिकारी आते हैं तो उनको एक एक करके बक्स के पास बुलाया जाता है। वहाँ पर उनके हाथ में एक छपा हुआ कार्ड दिया जाता है, जिस पर उन सब व्यक्तियों का नाम छपा रहता है जो प्रतिनिधित्व के लिये खड़े रहते हैं। मतदाता लाल स्याही से उस व्यक्ति के नाम के आगे निशान कर देता है, जिसे वह अपना वोट देना चाहता है। फिर वह उस कार्ड को बक्स में ऊपर से डाल देता है। कोई यह देख नहीं सकता कि मतदाता ने किसको वोट दिया है। जब निश्चित समय ख़तम हो जाता है तो कोई वोट नहीं दे सकता। इसके बाद रिटर्निंङ्ग आफ़िसर कुछ और व्यक्तियों के साथ, जो सरकार की ओर से निश्चित रहते हैं, वोट को गिनता है और सरकार को उसका नतीजा बतला दिया जाता है। इस नये तरीके का रवाज़ लगभग सभी देशों में है। हिन्दोस्तान में भी यही तरीक़ा अमल में लाया जाता है। जिन्हें सबसे अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं।

स्वतन्त्र मत

मतदाताओं को पूरी स्वतन्त्रता है कि वे जिसे चाहें अपना मत दें। कोई उन पर किसी तरह का दबाव नहीं डाल सकता। उन पर बेजा दबाव डालना एक बहुत बड़ा जुर्म माना जाता है। यदि सरकार को इसका पता चल जाय तो वह दबाव डालने वाले को बड़ी सख़्त सज़ा देती है। जिस प्रकार मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनने में स्वतन्त्र है उसी तरह उसे यह भी स्वतन्त्रता दी गई है कि वह अपना वोट दे अथवा न दे। कोई व्यक्ति किसी मतदाता को ज़बरदस्ती निर्वाचन केन्द्र पर नहीं ला सकता। वहाँ आकर भी वह कह सकता है कि वह अपना वोट किसी को नहीं देना चाहता। कुछ विद्वानों का मत है कि सरकार को यह नियम बना देना चाहिये कि मतदाता को अपना मत देना पड़ेगा। लेकिन यह बात नागरिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। संसार के बहुत कम देशों में नागरिक को अपना मत देने के लिये बाध्य किया जाता है। स्पेन और बेल्जियम में उसे मजबूरन अपना मत देना पड़ता है। जो अपना मत नहीं देते उन्हें सरकार दंड देती है। मतदाता का कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारों

को समझे और उनका उपयोग करे। सरकार को इसके लिये दंड देने की आवश्यकता नहीं है।

स्त्रियाँ और मताधिकार

"राजनीति में स्त्रियाँ अछूत हैं,"—बहुत दिनों तक लोगों का यह मत रहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक लोगों का यह विचार था कि स्त्रियों के राजनीति में आने से राजनीति गन्दी होगी और कुटुम्ब का नाश हो जायगा। स्त्रियों का काम घर का प्रबन्ध करना है न कि राजनैतिक क्षेत्र में लड़ाई लड़ना। १८६६ ई० में जान स्टुअर्ट मिल ने एक पुस्तक* लिख कर यह भविष्य वाणी की थी कि 'एक ही पीढ़ी के अन्दर वह ज़माना आने वाला है जबकि स्त्रियाँ पुरुषों की तरह राजनीति में भाग लेंगी।' यह भविष्य वाणी सच्ची निकली। सबसे पहले आस्ट्रेलिया में स्त्रियों को मताधिकार मिला। इसके बाद इङ्गलैंड आदि देशों में वह फैला। संसार में शायद ही कोई सभ्य देश होगा जहाँ स्त्रियों को मताधिकार न मिला हो। जो लोग इसके पक्ष में हैं उनका कहना है कि राज्य में स्त्री और पुरुष दोनों रहते हैं। इसलिये समानता के आधार पर किसी को अधिकार से वंचित रखना अनुचित है। स्त्रियाँ अपनी भलाई स्वयं कर सकती हैं। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद के युग में देश की आधी जनता को राजनीति में अछूत समझना अन्याय नहीं तो और क्या है ? जबकि स्त्रियाँ भी उसी प्रकार सुशिक्षिता हैं जैसे पुरुष, तो क्यों एक को अपना विचार प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता ? इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनैतिक धार्मिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में वे पुरुषों से कम कुशल नहीं रही हैं। रज़िया बेगम, झाँसी की रानी, चाँद बीबी, विक्टोरिया, एलिज़ाबेथ आदि स्त्रियों ने जो संसार के सामने अपनी कार्य कुशलता और वीरता का परिचय दिया है वह किसी असाधारण पुरुष से कम नहीं है। जिन देशों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त है वे दुनिया में किसी से पिछड़े नहीं हैं। स्त्री जाति के नाते अधिकार से वंचित कर देना निरी अज्ञानता है। स्त्रियों के आगमन से राजनीति अधिक शुद्ध और सुव्यवस्थित रह सकेगी। जब एक मामूली मज़दूर वोट दे सकता है तो कोई वजह नहीं है कि एक पढ़ी लिखी स्त्री इस अधिकार से वंचित रक्खी जाय।

---

* The subjection of women.

स्त्रियों के मताधिकार के विरोध में काफ़ी सबूत पेश किये जाते हैं। पहला तो यह कि पुरुष का क्षेत्र बाहर है और स्त्री का घर के अन्दर।* कार्य का विभाजन कोई बुरी चीज़ नहीं है। राजनीति गुण्डों का घर है।† विचारी भोली भाली स्त्रियाँ उसके अन्दर आकर कौन सा लाभ उठायेंगी। पुरुषों की बहादुरी और उनके अच्छे कारनामें इस बात के सुबूत हैं कि उनका जन्म किसी योग्य स्त्री ने दिया था। माताओं की ज़िम्मेवारी कम नहीं है कि वे घर को सँभालें। इससे अधिक अधिकार और क्या हो सकता है कि स्त्री अपने घर को जैसा चाहे बना सकती है। यूरप की लहर कोई बड़ी कारगर सिद्ध न होगी। कुछ लोग यह कहते हैं कि वोट देने का अधिकार उन्हीं को मिलना चाहिये जो लड़ाई में तलवार उठा सकें। स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल होती हैं, वे फ़ौज में काम नहीं कर सकतीं, इसलिये उन्हें वोट माँगने का कोई अधिकार नहीं है।

किसी विषय पर दलीलों की कमी नहीं हो सकती। इतना ज़रूर है कि स्त्री पुरुषों में कार्य की दृष्टि से अन्तर ज़रूर किया जा सकता है, लेकिन जहाँ अधिकार का प्रश्न हैं वहाँ हम दोनों को एक समान समझें। जिन देशों में स्त्रियों को सामाजिक और राजनैतिक दोनों अधिकार प्राप्त हैं वे उन्नतिशील हैं। हर आदमी को, चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष, इस बात का अवसर मिलना चाहिये कि सभी क्षेत्रों में वह अपनी शक्ति की परीक्षा कर सके। यदि स्त्रियों को राजनीति गन्दी मालूम होगी तो वे स्वयं उसे छोड़ देंगी। एक ज़माना था जब कि स्त्रियों को शिक्षा देना गुनाह समझा जाता था, लेकिन तजुर्बे के बाद यह मालूम हुआ कि बात ग़लत थी। स्त्री और पुरुषों में किसी प्रकार के होड़ की आवश्यकता नहीं है। समाज का कल्याण दोनों के सम्मिलन और सहयोग से होगा।‡

निर्वाचन में चाहे कितनी भी कोशिश की जाय दल बन्दी को कोई

---

* Men for the field, women for the hearth.

† Politics is a game of the scoundrels.

‡ Men and women are complementary opposites. Each best fulfils itself by developing precisely those qualities lacking in the other.

[Meyric Booth]

नहीं रोक सकता। नतीजा यह है कि जो दल मज़बूत होता है उसी दल के अधिक तादाद में प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं। दलबन्दी का मर्ज़ इतना ख़राब होता है कि अच्छा से अच्छा उम्मीदवार हरा दिया जाता है और उसके स्थान में अयोग्य व्यक्ति चुन लिया जाता है। दलबन्दी कई प्रकार से होती है। इसका विस्तृत वर्णन चौदहवें अध्याय में किया गया है। कभी कभी इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया जाता है। अर्थात् जो सम्प्रदाय सबसे मज़बूत है, और जिसकी संख्या अधिक है, उसकी पार्टी मज़बूत होती है। ऐसी दशा में जिस सम्प्रदाय में थोड़े से लोग हैं उनकी पार्टी कमज़ोर होती है। जब कभी किसी मामले में मत लिया जाता है तो बहुसंख्यक सम्प्रदाय की विजय होती है। साम्प्रदायिक मामला बहुत ही टेढ़ा होता है। जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के झगड़ों तथा अरब और यहूदियों की लड़ाई का ज़िक्र सुना है वे इस बात को समझ सकते हैं कि किस प्रकार एक सम्प्रदाय दूसरे का जानी दुश्मन हो जाता है। छोटे और बड़े सभी सम्प्रदायों को इसमें शरीक होने की आवश्यकता है। राजनीति ऐसी चीज़ है जिसमें सबको हिस्सा मिलना चाहिये। इसी छोटे सम्प्रदाय वा समुदाय की समस्या को अल्प संख्यक समस्या (Minority Problem) और इनके निर्वाचन को अल्पसंख्यक निर्वाचन (Minority Representation) कहते हैं।

अल्प संख्यक और निर्वाचन

मज़बूत दलों के मुक़ाबिले में कौन सी ऐसी तरक़ीब निकाली जाय कि कमज़ोर दल वालों को भी धारा सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिले। लोगों ने बहुत सी तरक़ीबें सोची हैं। उन सबका वर्णन करना किसी भी दृष्टि से यहाँ उचित न होगा। केवल दो तरीक़ों पर विचार करना चाहिये। ये आम तौर पर काम में लाये जाते हैं। बाक़ी महज़ किताबों के अन्दर बन्द हैं। इनमें से एक को "समानुपाती निर्वाचन" (Proportional Representation) या 'हेयर प्रथा' (Hare System) और दूसरे को 'निहित निर्वाचन' (Reservation of Seats) कहते हैं। 'समानुपाती निर्वाचन' का अर्थ यह है कि हर सम्प्रदाय वा गिरोह को उसकी संख्या के अनुसार यह बतला दिया जाय कि उसे इतने प्रतिनिधि भेजने हैं। इससे सभी गिरोह अपने प्रतिनिधि भेज सकेंगे और किसी को कोई शिकायत नहीं रह जायगी। अल्प संख्यक गिरोह अपना

उचित स्थान व्यवस्थापिका सभाओं में पायेगा। इस तरीके को पहले पहल थामस हेयर (Thomas Hare) साहब ने सन् १८५१ ई० में निकाला था। उन्हीं के नाम पर इसे 'हेयर प्रथा' कहते हैं। यह तरीक़ा बहुत से देशों में प्रचलित है। अब तक जितने तरीक़े अल्प संख्यक निर्वाचन के लिये निकाले गये हैं उनमें 'समानुपाती निर्वाचन' सबसे श्रेष्ठ है। अल्प संख्यक निर्वाचन का दूसरा तरीका 'निहित निर्वाचन' (Reservation of Seats) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि धारा सभाओं में अल्प संख्यक गिरोहों के प्रतिनिधियों के लिये सीटें निश्चित कर दी जायँ। अर्थात् यह बात निर्वाचन से पहले ही तय हो जाय कि अमुक गिरोह के इतने प्रतिनिधि धारा सभा में भेजे जायेंगे। इससे छोटे गिरोहों को यह भय नहीं रहेगा कि बड़े बड़े दल उन्हें दबा कर निर्वाचन में हरा देंगे। इस तरीक़े को 'राष्ट्र संघ' (League of Nations) ने पहले पहल मध्य यूरप की रियासतों में प्रयोग किया था। हिन्दोस्तान में साम्प्रदायिक समस्याओं को सुलझाने और अल्प संख्यक गिरोह की रक्षा के लिये 'निहित निर्वाचन' का प्रयोग किया गया है। १६३५ के नये शासन विधान में यह तरीका काम में लाया गया है।

द्वै निर्वाचन Indirect Election

निर्वाचन दो प्रकार से होता है। एक में मताधिकारियों को यह अधिकार है कि वे प्रत्यक्ष रूप से अपना प्रतिनिधि चुनें। यह तरीका लगभग सभी देशों में प्रचलित है। मताधिकारी अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों को वोट देते हैं और जिन्हें सबसे अधिक वोट मिलता है वे प्रतिनिधि कहलाते हैं। हिन्दोस्तान में इसी तरीके का रवाज़ है। मिश्र, टर्की, ईराक़ तथा कुछ अन्य देशों में द्वै निर्वाचन—प्रथा प्रचलित है। मताधिकारी अपने निर्वाचन क्षेत्र में कुछ व्यक्तियों को चुन लेते हैं। ये चुने हुए व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते हैं। अमेरिका और फ्रांस में कुछ दिनों तक इस प्रथा का तजुरबा किया गया था, लेकिन बाद में परित्याग कर दिया गया। जहाँ द्वै निर्वाचन की प्रथा प्रचलित है वहाँ निर्वाचन दो बार होता है। एक तो मताधिकारी ४०, ५०, या १०० ख़ास व्यक्तियों को चुन लेते हैं। फिर दूसरे निर्वाचन में चुने हुए व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते हैं। इसीलिये इसे द्वै निर्वाचन प्रथा कहते हैं। रूस में यही प्रथा प्रचलित है। अमेरिका का प्रेसीडेन्ट इसी द्वै निर्वाचन पद्धति से चुना जाता है। जिन्हें प्रेसीडेन्ट को चुनने का अधिकार है वे पहले कुछ

व्यक्तियों को (Electoral College) चुन लेते हैं। फिर चुने हुये व्यक्ति प्रेसीडेन्ट का निर्वाचन करते हैं। प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन सबसे अच्छा है। प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रथा सबसे अच्छी मानी जाती है। इससे मताधिकारी राजनैतिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनके पास पहुँच सकते हैं। उन्हें यह शौक होता है कि अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधि चुनें। लेकिन इसमें एक कमज़ोरी भी है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि सभी मताधिकारी योग्य प्रतिनिधियों को चुनेंगे। आम जनता की दृष्टि उतनी तीव्र नहीं होती जितनी थोड़े से चुने हुए लोगों की। यहाँ पर द्वै निर्वाचन प्रथा का उपयोग उचित मालूम पड़ता है। मताधिकारियों में जनता के वास्तविक हित को बहुत थोड़े से लोग समझते हैं। यदि वे मिलकर कुछ योग्य व्यक्तियों को चुन लें तो ये चुने हुये व्यक्ति अच्छे से अच्छे प्रतिनिधि चुन सकते हैं। एक बात की कठिनाई ज़रूर रह जायगी कि मताधिकारियों और चुने हुये व्यक्तियों का दृष्टिकोण एक न हो। मुमकिन हो एक किसी और को अपना प्रतिनिधि चुनना चाहे और दूसरा किसी और को। इन दोनों में कोई भी अच्छी हो, द्वै निर्वाचन प्रथा बहुत कम देशों में पाई जाती है।

प्रतिनिधि

मताधिकारियों द्वारा निर्वाचित व्यक्ति प्रतिनिधि कहलाता है। जिस प्रकार मताधिकार सबको नहीं मिल सकता, और इसके लिये कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, उसी तरह सभी व्यक्ति प्रतिनिधि के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकते। सबसे पहली शर्त तो यह है कि उसे स्वयं मताधिकारी होना चाहिये। कोई व्यक्ति मताधिकारी तब तक नहीं बन सकता जब तक कि वह नागरिक न हो। इसलिये प्रतिनिधि के लिये नागरिक होना आवश्यक है। कोई विदेशी इसके लिये उम्मीदवार नहीं हो सकता। यद्यपि इनकी शर्तें हर मुल्क में अलग अलग होती हैं फिर भी चन्द बातें सब जगह एक सी पाई जाती हैं। एक ही देश में विभिन्न धारा सभाओं के लिये भिन्न भिन्न शर्तें होती हैं। प्रतिनिधि को किसी निश्चित उम्र से अधिक होना पड़ता है। यह उम्र नागरिक की साधारण आयु से कुछ अधिक होती है। आम तौर से बड़ी सभा के लिये उम्र अधिक रक्खी जाती है। हिन्दुस्तान में केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा सभाओं में बड़ी और छोटी सभा के लिये क्रमशः ३० और २५ वर्ष की आयु होनी चाहिये। प्रतिनिधि बनने के लिये एक निश्चित दर्जे तक सम्पत्ति की भी आवश्यकता है। उम्र का प्रतिबन्ध

इसलिये लगाया गया है कि केवल तजुरबेकार व्यक्तियों को धारा सभाओं में जाने का अवसर मिले। सम्पत्ति की रुकावट इसलिये लगाई गई है कि प्रतिनिधि समझ बूझ कर दीवानी क़ानून बनायेंगे, क्योंकि उनके पास स्वयं जायदाद है। सम्पत्ति का बन्धन सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। इससे योग्य व्यक्ति, जिसके पास संयोगवश सम्पत्ति नहीं है, प्रतिनिधि नहीं बन सकता। यदि सामाजिक व्यवस्था ने उसे ग़रीब बना रक्खा है तो राजनैतिक अधिकारों से उसे वंचित नहीं करना चाहिये।

कुछ ऐसे भी नियम बनाये गये हैं जिनसे कितने ही व्यक्ति प्रतिनिधि नहीं बन सकते। इङ्गलैंड में न्यायाधीश कामन्स सभा का प्रतिनिधि नहीं बन सकते। हिन्दोस्तान में सरकारी विभाग में काम करने वाला व्यक्ति धारा सभा का सदस्य नहीं हो सकता। सरकारी वक़ील भी इसका सदस्य नहीं बन सकता। मंत्रिमंडल के सदस्य, चाहे वे प्रान्त में हों अथवा केन्द्र में, धारा सभा के सदस्य हो सकते हैं। यद्यपि वे एक प्रकार से सरकारी नौकर हैं और सरकार से तनख्वाह पाते हैं, फिर भी वे धारा सभा के सदस्य होते हैं। यदि किसी के विषय में यह पता चल जाय कि उसने क़ानून के विरुद्ध तरीक़े से प्रतिनिधित्व हासिल किया है तो वह प्रतिनिधि नहीं रह सकता। प्रतिनिधित्व में धर्म भी कहीं कहीं पर बाधक ठहराया गया है। स्थाई चर्च के मन्त्री (Ministers of the established Churches) कामन सभा का सदस्य नहीं बन सकते। हिन्दोस्तान में मज़हब के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये हैं। किसी एक मज़हबी निर्वाचन क्षेत्र से दूसरे मज़हब का उम्मीदवार प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि हर प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन क्षेत्र से कुछ ख़ास सलाहें (Instructions) मिलनी चाहिये। मताधिकारी इस बात का ध्यान रक्खें कि वह उन सलाहों को पूरा करता है या नहीं। यदि पूरा नहीं करता तो उन्हें यह अधिकार मिलना चाहिये कि उसे वापिस बुला लें और उसकी जगह दूसरा प्रतिनिधि भेज दें। इस वसूल की आलोचना कड़े शब्दों में की गई है। आस्टिन का कहना है कि प्रतिनिधि जनता के ट्रस्टी हैं। मताधिकारियों को यह अधिकार नहीं है कि वे उन्हें जब चाहें वापिस बुला लें। यदि वे उससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो अगले निर्वाचन में उसे मत देने से इनकार कर सकते हैं। प्रतिनिधि के विरुद्ध किसी तरह की क़ानूनी कार्रवाई करने का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। प्रतिनिधि और मताधिकारी इन दोनों के दृष्टिकोण और कार्यक्रम में

अन्तर पड़ना लाज़मी है। एक का ध्यान अपने ही निर्वाचन क्षेत्र में सीमित रहता है, परन्तु प्रतिनिधि को समूचे देश की भलाई का ध्यान रखना पड़ता है। यदि उन्हें मताधिकारियों की इच्छानुसार चलना है तो अच्छा हो वे कोई मामूली नौकर धारा सभाओं में भेज दें, ताकि वह उनका हुकुम बजाता रहे। योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रतिनिधि बनना स्वीकार नहीं कर सकते। यह बात आम जनता की शक्ति से बाहर है कि वह हर क़ानून पर अपने प्रतिनिधि को मुनासिब और ठीक ठीक सलाह दे सके। प्रतिनिधि मताधिकारी से कहीं योग्य और क़ाबिल होता है। वह औरों से सलाह लेने के बजाय बहुतों को सलाह दे सकता है। धारा सभा में वह किसी का हुक्म बजाने के लिये नहीं बल्कि जनता की तक़लीफ़ें दूर करने के लिये जाता है। संघ शासन में यह नियम किसी क़दर कारगर हो सकता है। वहाँ पर केन्द्रीय धारा सभा में रियासतों के चुने हुये प्रतिनिधि आते हैं। उन्हें अपनी पूरी रियासत की भलाई का ध्यान रखना होता है। ऐसी दशा में उनकी सरकार उन्हें चन्द सलाहें दे सकती है, जिनका पालन करना उनका कर्तव्य है। इस अवसर पर हमें ध्यान रखना चाहिये वह रियासत का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि एक प्रकार का राजदूत (Ambassador) है।

मध्य काल में जर्मन साम्राज्य में यह नियम काफ़ी अर्से तक जारी था। उस समय जर्मनी सैकड़ों छोटी छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। रियासत के प्रतिनिधियों को चन्द सलाहें दी जाती थीं, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। आधुनिक युग में कोई देश इसे पसन्द नहीं करता। संघ शासन में भी इसका रवाज़ नहीं है। अमेरिका में, जहाँ ४८ रियासतों की एक संघ सरकार बनाई गई है, यह नियम नागरिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध समझा जाता है। मौजूदा प्रजातन्त्रवादी राज्यों में प्रतिनिधियों पर इतना कड़ा बन्धन लगाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्मिलित और पृथक् निर्वाचन
Joint and separate electorate

जिन देशों में कई सम्प्रदाय हैं वहाँ एक बहुत बड़ी समस्या है कि निर्वाचन की नीति क्या हो। क्या जनसंख्या के अनुसार निर्वाचन क्षेत्र बना कर प्रतिनिधि चुने जायँ और साम्प्रदायिक प्रश्नों को उठा कर ताख पर रख दिया जाय, अथवा हर सम्प्रदाय को अलग अलग प्रतिनिधित्व दे दिया जाय। हिन्दुस्तान में यह प्रश्न बहुत ही जटिल है। यहाँ पर हिन्दू, मुसलमान,

ईसाई, पारसी इत्यादि मज़हबी सम्प्रदाय हैं। हर बुद्धिमान आदमी यह कह सकता है कि जब तक ये सम्प्रदाय आपस में मिल कर न रहेंगे तब तक यह देश एक राष्ट्र नहीं बन सकता। आपस में मिलने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक की हस्ती मिट जाय। बल्कि सभी सम्प्रदायों का उद्देश्य मुल्क की तरक्क़ी और बहबूदी हो। प्रत्येक सम्प्रदाय पहले देश का भला सोचे और तब अपनी जमात का। यदि देश रसातल को जायगा तो एक टुकड़े की रक्षा नहीं हो सकती। सवाल यह है कि देश को एक राष्ट्र बनाने के लिये निर्वाचन कहाँ तक सहायक होता है। यदि इस प्रश्न को हल कर दिया जाय तो यह बात साफ़ हो जायगी कि सम्मिलित निर्वाचन अच्छा है अथवा पृथक् निर्वाचन।

पृथक् निर्वाचन का तात्पर्य है कि हर सम्प्रदाय को अलग अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार हो। अर्थात् हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई अपना अपना प्रतिनिधि चुनें। इसका नतीजा यह होगा कि धारा सभाओं में साम्प्रदायिक आधार पर दल बन्दियाँ होंगी। हिन्दू अपने मन्दिर के लिये लड़ेंगे और कहते फिरेंगे कि "गाय ख़तरे में" और मुसलमान अपनी मसज़िद पर जान देने के लिये तैयार रहेंगे। सारे देश की बेहतरी सोचने वाला कोई न होगा। इस स्वार्थ परता की लड़ाई में पड़ कर देश सदियों तक ग़ुलाम रहेगा। एक दृढ़ केन्द्रीय सरकार के होते हुये भी यहाँ राष्ट्रीयता की भावना नहीं आ सकती। इसीलिये इस देश में पृथक् निर्वाचन अफ़ीम और शराब से भी ख़तरनाक है।

सम्मिलित निर्वाचन का तात्पर्य यह है कि सब को एक साथ प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। इस बात का ख़याल न किया जाय कि कितने सम्प्रदाय वा वर्ग हैं। निर्वाचन क्षेत्र जनसंख्या के आधार पर बनाये जायँ और मताधिकारियों को इस बात की स्वतन्त्रता हो कि वे जिसे चाहें अपना मत दें। सम्प्रदाय का क्षेत्र देश से बड़ा नहीं होता। हो सकता है किसी सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय वालों को अपना प्रतिनिधि चुनें। जब इन अवसरों पर एक दूसरे के हित सम्मिलित दिखाई देंगे तो लोग आपस में मिलने की कोशिश करेंगे। व्यक्तिगत और धार्मिक विषयों में उनमें मतभेद भले ही हो, परन्तु राजनीति में उनका सहयोग आवश्यक होता। जो सरकार अपने देश की हितैषी होगी वह पृथक् निर्वाचन को पसन्द नहीं कर सकती। यह कहना ग़लत है कि अल्प

संख्यक वर्ग की रक्षा का यही एक तरीक़ा है। एक निष्पक्ष और सदाचारी व्यक्ति से देश की अधिक भलाई होती है। यदि किसी सम्प्रदाय का प्रतिनिधि धारा सभा में नहीं जाता तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके हित सुरक्षित नहीं रहेंगे। जब देश की भलाई के अन्दर सभी आ जाते हैं तो कोई सम्प्रदाय अपने हित को अलग क्यों समझता है। राजनैतिक शिक्षा देशवासियों को पृथक् निर्वाचन की भयंकरता बतला सकती है। जो देश जितने ही अधिक टुकड़ों में विभाजित रहेगा वह उतना ही कमज़ोर गिना जायगा। १८वीं शताब्दी में हिन्दुस्तान में विदेशियों की सफलता का यह सबसे बड़ा कारण है कि यह देश एक हज़ार टुकड़ों में बँटा हुआ था।*

---
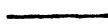
* India in the 18th century was broken up into one thousand pieces. [Hindus and Musalmans of India—by Atulanand Chakarbarti]

अध्याय १४

दलबन्दी (Party System)

दलबन्दी का अर्थ—विभिन्न राजनैतिक दल—दलबन्दी के उद्देश्य—दलबन्दी की उत्पत्ति—दलबन्दी की वृद्धि—दलबन्दी से लाभ और हानि—दलबन्दी और प्रजातन्त्रवाद—दलबन्दी और तानाशाही—आधुनिक दलबन्दी की प्रथा—इङ्गलैंड—अमेरिका—हिन्दोस्तान।

दलबन्दी का अर्थ

कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जिसके दो चार मित्र न हों। हर आदमी किसी न किसी गिरोह का सदस्य होता है। गाँव, शहर, स्कूल, हर जगह अनेक दल होते हैं। त्यौहारों तथा उत्सवों पर लोग अपने मित्रों अथवा दल वालों से मिलते जुलते हैं। कभी कभी मित्र मंडली इकट्ठी होकर गाना बजाना करती है। इस तरह हम देखते हैं कि दलबन्दी का अर्थ समझने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। ऊपर के उद्धरणों से साफ़ ज़ाहिर है कि हर आदमी किसी न किसी दल का सदस्य ही नहीं, बल्कि इसके लाभ और हानि से भी परिचित होता है। अब तक जिन दलों का वर्णन किया गया है उनका राजनीति में कोई स्थान नहीं होता। दलबन्दी (Party System) एक ख़ास अर्थ रखती है। इसका तात्पर्य केवल राजनीति से है। प्रजातन्त्रवादी देशों में राजनैतिक दल-बन्दियाँ आवश्यक और स्वाभाविक हैं। इनका सिद्धान्त धार्मिक और व्यैक्तिगत न होकर किसी राजनैतिक वसूल पर बनता है। जिन देशों में इस प्रकार की दलबन्दियाँ हैं वहाँ प्रजा को अधिक से अधिक अधिकार दिये गये हैं। प्रत्येक दल का एक दृढ़ संगठन होता है; इसके कुछ स्थायी सदस्य और वसूल होते हैं। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि इसका एक लीडर या अगुआ होता है जिसके इशारे पर उस दल के सदस्य नाचते रहते हैं।

यदि राजनैतिक दल की परिभाषा की जाय तो पता चलेगा कि वह कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो किसी ख़ास राजनैतिक सिद्धान्त में विश्वास करता है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह एक संगठित

जमात है जिसका उद्देश्य सरकार को अपनी इच्छानुसार चलाना होता है। गिल क्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है, "राजनैतिक दल कुछ लोगों का एक संगठन है जो एक विचार और एक उद्देश्य रखते हैं।"*

लीकाक लिखता है, "राजनैतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के एक संगठन से है जो राजनीति में एक सिद्धान्त पर सहमत हैं"†

एक तीसरी परिभाषा यह की गई हैं कि "राजनैतिक दल कुछ नागरिकों का एक गुट है जो इस बात के लिये उत्सुक रहता है कि सरकार की सारी कार्रवाई एक ख़ास ढंग पर हो।"‡

एक सज्जन ने इसकी परिभाषा बड़े लम्बे शब्दों में की है। वे लिखते हैं, 'राजनैतिक दल व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनैतिक प्रश्नों पर एक है और जो संगठित होकर यह विचार करते हैं कि किस प्रकार सरकार उनकी इच्छानुसार अपना काम करे।"§

इससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि दलबन्दी राजनैतिक संगठन को कहते हैं।

विभिन्न राजनैतिक दल

ऊपर कहा गया है कि दलबन्दी एक राजनैतिक संगठन है जिसका रूप वही होता है जो अन्य संगठनों का। गाँव तथा शहरों में अलग अलग संगठन होते हैं। म्युनिसिपल बोर्ड में भी दल बन्दियाँ रहती हैं। हर स्कूल या कालेज में अलग अलग जमातें बनती हैं। प्रत्येक

---

* Party means a number of people joined by common opinions on a given subject.

† By political party we mean a more or less organized group of citizens who act together as a political unit.

‡ A party is a body of citizens who agree in desiring to see the business of legislation and government carried on in a particular way.

§ A party is a body of individuals holding similar views on the leading political questions of the day,

संगठन का कोई उद्देश्य और कार्य क्रम होता है। उसके काम करने का तरीक़ा अन्य संगठनों से भिन्न होता है। हर मामले में उसकी अपनी राय होती है। पार्टी का एक अगुआ होता है जो उसे आगे बढ़ाता है। इसका उद्देश्य अपने हाथ में सरकार को लेना होता है। वह अपनी शक्ति को इसलिये बढ़ाना चाहता है कि उसी के हाथ में शासन की बाग-डोर आ जाय। प्रत्येक दल अधिक से अधिक सदस्यों को अपने संगठन में शामिल करना चाहता है। सभी संगठन वा दल अपनी अपनी डींग मारते हैं। कोई धार्मिक संगठन अपने आपको किसी राजनैतिक संगठन से कम महत्व पूर्ण और लाभदायक नहीं समझता। और दलों में तो एक व्यक्ति बहुतों का सदस्य बन सकता है, लेकिन राजनैतिक दल में यह बात नहीं है। एक दल का सदस्य किसी और का सदस्य नहीं बन सकता। अपने दल का परित्याग करके वह दूसरे में जा सकता है। राज-नैतिक दलों का उद्देश्य धारा सभाओं में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना है।

दलबन्दी के उद्देश्य

प्रत्येक राजनैतिक दल (Political Party) का एक उद्देश्य होता है। वह चाहता है कि सरकार इसी के अनुसार अपना कार्य करे। यह उद्देश्य कई प्रकार का होता है। उद्देश्य के कारण उनके कार्यक्रम में भी अन्तर होता है। लेकिन सभी दल सरकार पर अपनी दृष्टि रखते हैं। मौजूदा सरकार की टीका टिप्पणी करने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखते। लेकिन जिस दल के हाथ में सरकार होती है वह इन टीका टिप्पणियों की बहुत परवाह नहीं करता। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि जिस सरकार की टीका अधिक होती है वह प्रगतिशील कहलाती है और जनता को अपने विचार प्रकट करने का पूरा मौक़ा देती है। एक ज़ालिम सरकार की कोई डर के कारण बुराई नहीं करता, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह अच्छी है। प्रत्येक राजनैतिक दल इस बात के लिये तैयार रहता है कि अवसर पाने पर सरकार को अपने हाथों में कर ले। दलबन्दी का यह भी उद्देश्य है कि सरकारी महकमों में अधिक से अधिक कर्मचारी एक दल के हों। अपने सदस्य को अधिक से अधिक

---

united together to secure the adoption and the maintenance of those views in the conduct of government.

सुविधायें देना, उसकी रक्षा का प्रबन्ध करना, उसके अधिकार के लिये सरकार से लड़ना, राजनैतिक दल का एक वसूल होता है। निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक दल अपना बहुमत चाहता है। इसके लिये वह जनता में अपने उद्देश्यों का प्रचार करता है। अपनी योग्यता तथा सेवा का प्रमाण देने के लिये वह नाना प्रकार से जनता की सेवा करता है। जिन्हें किसी निर्वाचन केन्द्र पर जाने का अवसर मिला है. वे समझ सकते हैं कि राजनैतिक दल जनता की कितनी ख़ुशामद करते हैं। मुफ़्त भोजन का प्रबन्ध किया जाता है, सवारियों का इन्तज़ाम रहता है, और आगे के लिये बड़े बड़े आश्वासन दिये जाते हैं। कभी कभी तो मताधिकारियों को रुपये तक प्रदान किये जाते हैं। यूरप के देशों में दलबन्दी की कशमकश इतनी ज़बरदस्त है कि अपनी विजय के लिये कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी जाती। निर्वाचन के दिन मुफ़्त हवाई जहाज़ उड़ाये जाते हैं, शहरों की गली गली में मोटरें घूमती हैं और जो चाहे उन पर चढ़ सकता है। हर पार्टी रेल में वोटरों को मुफ़्त ढोती है। आख़िर यह सब कुछ क्यों होता है? सब का उद्देश्य यही है कि किसी तरह अमुक दल के हाथ में सरकार की बागडोर आ जाय।

दलबन्दी की उत्पत्ति

जब तक प्रजा को यह अधिकार न था कि वह राज्य के मामले में अपनी स्वतन्त्र राय ज़ाहिर करे, तब तक दलबन्दियों का नाम न था। और इसकी ज़रूरत भी न थी। यदि राज्य में कोई दल ऐसा खड़ा हो जाता जो सरकारी मामले में दख़ल देता तो वह आततायियों का एक गिरोह समझा जाता था। राजा उसे बड़ी सख़्ती के साथ छिन्न भिन्न कर देता था। मध्य काल तक इस प्रकार के राजनैतिक संगठन का प्रजातन्त्र राज्यों में भी, जो कि इक्के दुक्के दिखलाई पड़ते थे, नामों निशान न था। हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र का जन्मस्थान कहा जाता है। यहाँ के राजा अपनी प्रजा की भलाई और उसकी राय के लिये हर घड़ी अपने को तैयार रखते थे। फिर भी यहाँ दलबन्दियों का ज़िक्र नहीं सुना जाता। कारण यह है कि उन दिनों सामाजिक संगठन का स्वरूप कुछ और था। व्यक्तिगत जीवन के आगे दलबन्दियों का कोई मूल्य नहीं था। जहाँगीर ऐसे महान सम्राट् ने, जिसका राज्य हिन्दोस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ था, दलबन्दियों की कोई आवश्यकता न समझी। इन्साफ़ के लिये उसने अपने दरबार में एक सोने की ज़ंजीर

लटका रक्खी थी जिसे कोई भी खींच सकता था और अपनी गरज़ बादशाह के सामने पेश कर सकता था। अकबर का राज्य, जो हिन्दोस्तान में किसी स्वर्णयुग से कम न था, इसका नाम तक नहीं जानता। ख़ुद योरप में एलिज़ाबेथ से पहिले इन पार्टियों का कहीं ज़िक्र नहीं आता। उसी के समय से इसकी प्रथा चली। पहले इसका आधार केवल धार्मिक वैमनस्य था लेकिन बाद में चल कर राजनैतिक दलबन्दी के रूप में परिणत हो गया। यह बात निर्विवाद है कि दलबन्दी की उत्पत्ति सबसे पहिले योरप में हुई। इंगलैण्ड पार्टी सरकारों का सिरताज कहलाता है। दुनिया के प्रजातंत्र राज्यों ने इसकी नक़ल की है। आज एक भी प्रजातंत्र राज्य ऐसा नहीं है जिसमें कम से कम दो या तीन राजनैतिक दल (Political Parties) न हों। प्रजातंत्र राज्य की यह एक ख़ूबी समझी जाती है कि उसमें कई दल हों और हरेक अपनी राय स्वतंत्र तरीक़े से देश के सामने ज़ाहिर करे।

दलबन्दी की वृद्धि

विचारों में फ़रक पड़ना स्वाभाविक है। किसी मामले में कम से कम दो रायें ज़रूर होती हैं। यह भी मुमकिन है कि उस पर दो से अधिक रायें हों। राजनैतिक मामला इतना जटिल होता है कि उस पर अनेक रायें हो सकती हैं। सरकार के सभी काम विभिन्न दृष्टि-कोण से देखे जाते हैं। इसलिये हर राजनैतिक मामले में कई विचार होते हैं। पहिले दो दल आमतौर से हुआ करते थे, एक पक्ष में और दूसरा विपक्ष में। बाद में चल कर इनमें भी टुकड़े होने लगे और दलबन्दियों की भरमार लग गई। इस मामले को कांग्रेस के मिसाल से अच्छी तरह समझ सकते हैं। कांग्रेस का उद्देश्य हिन्दोस्तान को आज़ाद करना है। फिर कोई वजह नहीं मालूम पड़ती कि इसमें कई तरह की बातें पैदा हों। गाँधीवादी दल, समाजवादी दल, अग्रगामी दल—सबका उद्देश्य एक है, परन्तु इनके विचारों में मतभेद है। इसी तरह इङ्गलैंड में उदार और अनुदार दो ही दल थे। बाद में चलकर उदार दल के अन्दर एक मज़दूर दल बन गया। राजनीतिज्ञों का कहना है कि अधिक से अधिक चार दल होने चाहिये। सबसे अच्छा तो यह है कि दो ही हों। इससे पक्ष और विपक्ष दोनों की पुष्टि अच्छी तरह हो सकती है। दो से अधिक दलबन्दियाँ बाल की खाल निकालने के अलावे और कुछ नहीं करतीं। बेकार की दलबन्दियों से मुल्क को लाभ के बदले हानि होती है। छोटी छोटी बातों

पर बहस मुबाहिसों की झड़ी लग जाती है और सरकार को काम करने में दिक्क़त होती है। उसके अच्छे से अच्छे कामों की आलोचना की जाती है। विपक्षी दल का यह हौसला होता है कि वह सरकार की किसी भी बात को चुपचाप नहीं मान सकता। स्वयं महात्मा गाँधी का कहना है कि "कांग्रेस की टीका टिप्पणी करना एक फ़ैशन हो गया है।"* आधुनिक काल में दल बन्दियों की इतनी भरमार है कि कोई भी मुल्क इससे वंचित नहीं है। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि तानाशाही (' Dictatorship) इन्हीं को रोकने का एक इलाज है। तानाशाह अपने मुल्क में एक राजनैतिक दल के अलावे किसी और के रहने की इजाज़त नहीं देता। इसके विपरीत प्रजातन्त्रराज्य इनकी वृद्धि का अधिक से अधिक अवसर देते हैं। पाश्चात्य देशों के चन्द प्रजातन्त्र राज्यों में ६-७ दल तक पाये जाते हैं। सबके अलग अलग उद्देश्य और तरीक़े हैं।

ऊपर कहा गया है कि अधिक से अधिक चार राजनैतिक दल होने चाहिये। एक तो वह जो पूरा रूढ़िवादी हो और किसी भी तरह की तब्दीली का पक्षपाती न हो। दूसरा वह जो रूढ़ीवाद को तोड़ कर आगे को बढ़ना चाहता हो। तीसरा वह जो इन दोनों के बीच में हो। कुछ बातों में रूढ़ि वादियों का समर्थन करे और कुछ में अग्रगामी दल वालों का। इनके अलावे एक चौथा दल भी हो सकता है। वह इन तीनों में किसी से भी सहमत नहीं रह सकता। कभी एक का साथ देगा और कभी दूसरे का। उसका उद्देश्य यह होगा कि किसी दल की अनुचित हरकतों को रोके। संघ राज्यों में दलबन्दियों का स्वरूप कुछ और होता है। वहाँ आमतौर से दो दल हुआ करते हैं। एक केन्द्रीय शासन को अधिक से अधिक मज़बूत बनाना चाहता है। उसका उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण राजसत्ता केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत हो। दूसरा दल इसका विरोधी और प्रान्तीयता का पक्षपाती होता है। केन्द्रीय सरकार को वह आवश्यकता से अधिक शक्तिशाली नहीं बनाना चाहता। शक्ति के वितरण में उसका पूरा विश्वास होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दलबन्दियों का कहीं अन्त नहीं हैं।

---

* It has become a fashion of the day to criticise the Congress.

प्रजातंत्रवाद की सफलता के लिये दलबन्दी आवश्यक है। कहा जाता है कि इसके बिना प्रजातंत्रवाद का अन्त हो जायेगा। यह देखना है कि इन दलबन्दियों से क्या फ़ायदा है। पार्टी से कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानि भी।

दलबन्दी से लाभ और हानि

वर्तमान राज्यों की सीमा काफ़ी बड़ी है। हर आदमी एक दूसरे को नहीं जान सकता। लेकिन दलबन्दियों के कारण वह काफ़ी लोगों के सहयोग में आ जाता है। और संगठनों से कोई अपने को अलग भले ही रक्खे लेकिन सरकारी संगठन इतना आवश्यक है कि मजबूर होकर सबको इसमें आना पड़ता है। राज्य के संगठन और उसके कार्य्यों का असर प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है। विभिन्न दलबन्दियाँ इस राजनैतिक संगठन की शिक्षा देती हैं। वे अधिक से अधिक व्यक्तियों को इस बात के लिये तैयार करती हैं कि वे सरकार के सामने अपनी ज़रूरतें पेश करें। दलबन्दियों से सरकार के कार्य्यों की टीका टिप्पणी होती है। इसलिये वह डरती रहती है कि कोई सरकारी कर्मचारी ऐसा काम न करे, जो प्रजा के हित के विरुद्ध हो। वर्तमान राजनैतिक आवश्यकताओं को विभिन्न दल आम जनता को समझाने की कोशिश करते हैं। बहुत से व्यक्ति, जिन्हें राजनैतिक विषयों के अध्ययन का अवसर नहीं मिलता, विभिन्न दलों के सहयोग से अपने मुल्क की सारी बातें जानते रहते हैं। पार्टियाँ स्वतंत्र विचारों की प्रतीक हैं। उनके कामों से मुल्क में जीवन का संचार होता है और राजनैतिक मामलों में चहल पहल रहती है। व्यक्ति का राजनैतिक व्यक्तित्व अपने दल में विकसित होता है। देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों को विभिन्न दल पहचानते हैं और उन्हें अपना नेता बना कर मुल्क की भलाई करने का अवसर देते हैं। दलबन्दियों और नेतृत्व दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनैतिक दल हर नागरिक को इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह अपने राजनैतिक अधिकारों का अधिक से अधिक उपयोग कैसे करे। वे नागरिक की शक्ति को बढ़ाकर रचनात्मक कार्य-क्रम द्वारा इस शक्ति का उपयोग करते हैं।

जहाँ दलबन्दियों से इतने लाभ हैं, वहाँ चन्द हानियाँ भी हैं। इन से हम यह न समझ बैठें कि ये सभी दल राजनैतिक सिद्धान्तों पर बनाये जाते हैं। कितने तो व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण संगठित कर लिये जाते हैं। एक पार्टी दूसरी पार्टी के अच्छे से अच्छे कामों को बुरा ठहराने के लिये तैयार रहती है। प्रत्येक दल अपने कार्य-क्रम की इस क़दर डींग

मारता है कि जनता को यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसे अच्छा और किसे बुरा कहें। अमेरिका में पार्टी बन्दी का भूत इतना भयंकर है कि योग्य से योग्य व्यक्ति सरकारी नौकरियों से निकाल बाहर कर दिये जाते हैं, और उनकी जगह निकम्मे आदमी भरती कर लिये जाते हैं। ये दलबन्दियाँ कभी कभी इतनी विकट हो जाती हैं कि ख़ून ख़राबे तक हो जाते हैं। उद्देश्य को भुला कर लोग गन्दे झगड़ों में पड़ जाया करते हैं। दल की शक्ति जब अधिक बढ़ जाती है तो योग्य से योग्य व्यक्ति को भीगी बिल्ली की तरह उसमें काम करना पड़ता है। एक दल का सदस्य अपने सहकारी सदस्यों की गन्दी से गन्दी बातों का समर्थन करता है। सभी दल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जनता में ग़लत बातों का प्रचार करते हैं। पार्टी में हाँ में हाँ मिलाने की प्रथा इतनी ज़बरदस्त होती है कि अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को अपने स्वतंत्र विचारों को स्पष्ट करने का अवसर नहीं मिलता। उन्हें पार्टी के इशारे पर चलना पड़ता है। राजनैतिक दल ग़लत बातों को सही साबित करने के लिये इसलिये तैयार रहते हैं कि उनका नाम और यश हो। दलबन्दी में सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि पार्टी का सदस्य अपने दल के सामने देशभक्ति को कोई चीज़ नहीं समझता।

दलबन्दी और प्रजातंत्रवाद

दलबन्दी की उत्पत्ति प्रजातन्त्रवाद के अन्दर हुई है। जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, प्रजातन्त्रवाद के अन्दर जनता को यह पूरी स्वतन्त्रा दी गई है कि वह निर्भयता पूर्वक अपने विचारों को स्पष्ट करे। प्रेस को आज़ादी रहती है कि वह सभी प्रकार के विचारों को स्थान दे। जनता जब चाहे सभायें कर सकती है और उसमें कोई भी उचित प्रस्ताव पास कर सकती है। हर व्याख्यानदाता को अपनी राय ज़ाहिर करने का अधिकार है। लेखक स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। सरकार के बुरे कामों की कोई भी आलोचना कर सकता है। सभी कामों में जनता की राय ली जाती है। किसी किसी देश में यह प्रजातन्त्रवाद उस सीमा तक पहुँच गया है कि जनता के बहुमत के बिना कोई कार्य नहीं किया जाता। स्विट्ज़रलैंड इसका जीता जागता उदाहरण है। वहाँ क़ानून बनने के बाद भी प्रजा की राय उस पर ली जाती है। प्रजातन्त्रवाद नागरिक को पूर्ण स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है। यदि हम

ग़ौर से देखें तो पता चलेगा कि इसके सभी वसूल दलबन्दी में पाये जाते हैं। जिस स्वतंत्रता को प्रजातंत्रवाद एक एक व्यक्ति को देना चाहता है, उसी का संगठित रूप दल कहलाता है। इसके कार्यक्रम उस मार्ग पर बनाये जाते हैं जिस पर व्यक्ति को चलना चाहिये। पार्टियाँ प्रजातंत्रवाद के अन्दर इस बात का सबूत हैं कि नागरिक को किस हद तक आज़ादी दी गई है। पार्टियों के धुआँधार प्रचार से प्रजातंत्रवाद की पुष्टि होती है। उसे इस बात का भय होता है कि कहीं व्यक्ति अपनी आज़ादी का बेजा फ़ायदा न उठाये। इतने पर भी दलबन्दी रोकी नहीं जाती। जब तक सरकार इस बात का काफ़ी सबूत न दे कि अमुक दल नागरिक स्वतंत्रता में बाधक है तब तक वह उसे रोक नहीं सकती। यदि प्रजातंत्रवाद के अन्दर नागरिक सचमुच स्वतंत्र है तो वह सभी दलों को आज़ादी के साथ अपनी आवाज़ अधिक से अधिक लोगों को सुनाने दे। लेखक को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त है तो इसकी परीक्षा दलबन्दियों द्वारा हो सकती है। अगर किसी दल द्वारा प्रकाशित छोटी छोटी पुस्तिकायें ज़ब्त कर ली जाती हैं तो नागरिक-स्वतंत्रता एक झूठा बहाना है। जनता अपनी इच्छानुसार दल बनाकर अपनी आवाज़ को मज़बूत बना सकती है। एक व्यक्ति सरकार को अच्छे से अच्छे मामले में दबा नहीं सकता, लेकिन दल उसके सामने यह साबित कर सकते हैं कि या तो वह जनता की राय को सुने अथवा अपना प्रजातंत्रवादी ढकोसला छोड़ दे। किसी राष्ट्र के अन्दर कोई राजनैतिक दल नहीं है तो इसके मानी हैं कि वहाँ सच्चा प्रजातंत्रवाद नहीं है। राजनीति में अधिक से अधिक भाग लेने का सबसे बड़ा साधन राजनैतिक दल है।

दलबन्दी और तानाशाही

तानाशाही प्रजातन्त्रवाद का विरोधी है। इसके अन्दर व्यक्ति वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह तानाशाह की मर्ज़ी के अनुकूल चलता है। नागरिकों को वहाँ मनमाने संगठन बनाने की इजाज़त नहीं है। तानाशाही के अन्दर केवल एक दल होता है। तानाशाह स्वयं इसका प्रधान होता है। वहाँ की सरकार और दल इन दोनों के उद्देश्य में किसी प्रकार का फ़रक नहीं होता। सरकार उस दल के हाथों में होती हैं। उसके सभी कर्मचारी उस दल के सदस्य होते हैं। उसके सदस्यों की इज़्ज़त मुल्क में सबसे अधिक की जाती है। ग़ैरपार्टियों का नामो-निशान भी बाकी नहीं रहता। शासन की व्यवस्था इस ढंग से बनाई

जाती है कि इसी दल के हाथों में राज्य की बागडोर बनी रहे। यदि कोई दूसरा दल सर उठाता है तो वह बड़ी बेरहमी के साथ दबा दिया जाता है। इटली में फासिस्ट पार्टी के अलावे कोई दूसरी पार्टी सर नहीं उठा सकती। जर्मनी में नाजी पार्टी का दौरदौरा है। हिटलर स्वयं उसका प्रधान है। रूस में बोलशेविक पार्टी राज्य करती है। स्टैलिन उसका सर्वेसर्वा है। यह अक्सर देखा गया है कि स्टैलिन ने सैकड़ों आदमियों को इसी गुनाह पर तलवार के घाट उतार दिया कि वे अलग पार्टी बनाना चाहते थे। तानाशाही के अन्दर दल का सारा कार्यक्रम प्रजातन्त्रवादी मुल्कों से भिन्न होता है। तानाशाह तलवार की शक्ति में विश्वास करता और अपनी पार्टी को इसी रास्ते पर तैयार करता है। उसकी पार्टी ग़ैर मुल्कों से लोहा लेने के लिये हरदम तैयार रहती है। तानाशाही के अन्दर राजनैतिक दल उस भरी बन्दूक की तरह है जो किसी भी समय आग लगा सकती है। प्रजातंत्रवाद के अन्दर पार्टियाँ अपना अपना राग अलापती हैं लेकिन तानाशाही के अन्दर दल का एकमात्र उद्देश्य मुल्क की बेहतरी होता है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ आपस में ही लड़ती हैं लेकिन तानाशाह का दल ग़ैरमुल्कों पर अपनी नजर लगाये रखता है।

आधुनिक दलबन्दी की प्रथा

आधुनिक युग स्वतंत्रता का युग कहलाता है। सभी प्रजातंत्रवादी देशों में पार्टी मार्ग पर राजनैतिक कार्य किये जाते हैं। निर्वाचन से लेकर क़ानून बनाने तक सारे काम राजनैतिक दल करते हैं। वे सरकारी नीति का प्रचार तथा निर्वाचन का संगठन करते हैं। उन्हीं की सहायता से अधिक से अधिक मताधिकारी निर्वाचन केन्द्र पर लाये जाते हैं। वर्तमान पार्टी प्रथा को समझने के लिये अच्छा होगा कि प्रमुख देशों के दलों का अध्ययन किया जाय। हिन्दोस्तान भी उन्हीं मार्गों पर दलों का संगठन करना चाहता है। जिस प्रकार और मानी में हम योरप की नकल कर रहे हैं उसी तरह राजनैतिक मामलों में भी हमारी नज़र उसी ओर है। इस दृष्टि से इन पार्टियों का अध्ययन हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होगा। हमें यह भी मालूम होगा कि किस तरह धार्मिक और साम्प्रदायिक प्रश्नों के ऊपर राजनीति में पार्टियाँ बनाई जाती हैं।

एलिज़ाबेथ के समय तक इंगलैंड में पार्टी प्रथा का नाम न था। लेकिन धार्मिक मामले धीरे धीरे ज़ोर पकड़ रहे थे।

इंगलैंड

लिपमैन लिखता है 'जिसे इंगलैंड की पार्टी प्रथा का अध्ययन करना हो वह चार्ल्स प्रथम के समय के घरेलू युद्ध (Civil War 1642-1645) का इतिहास पढ़े।" बात बिलकुल ठीक है। चार्ल्स प्रथम के समय में धार्मिक प्रश्नों पर दो पार्टियाँ हो गईं। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये एक दल राजा का पक्षपाती था और दूसरा पार्लियामेंट का। घरेलू युद्ध में एक का नाम राउन्ड हेड पड़ा और दूसरे का कवेलियर। इसके बाद इन्हीं का नाम ह्विग और टोरी पड़ा। जार्ज प्रथम के समय में कैबिनेट की प्रथा चली। पार्टी के बिना इसका चलना असम्भव था। जो पार्टी पार्लियामेंट में सबसे मज़बूत होती उसी के सदस्य कैबिनेट के मेम्बर होते थे। १८ वीं सदी तक इंगलैंड की राजनीति केवल धनिकों के हाथ की कठपुतली थी; परन्तु इसके अन्त में स्वतन्त्रता का बादल मड़राने लगा। उन्नीसवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने यूरप में स्वतन्त्रता की भावना को जागृत किया। औद्योगिक क्रान्ति से यह भावना और भी बढ़ने लगी। लोगों में शिक्षा और व्यवसाय की वृद्धि से नागरिक जीवन का संचार हुआ। उनका ध्यान धर्म से हटकर राजनीति की ओर पलटा। ह्विग लोग उदार दल (Liberal) कहलाये और टोरी अनुदार दल (Conservative)। उदार दल वाले आम जनता को अधिक से अधिक अधिकार देना चाहते थे और सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। इसके विपरीत अनुदार दल वाले केवल धनियों के हाथों में शासन की बागडोर देना चाहते थे। वे धनिकों के पक्षपाती और सामाजिक सुधारों के विरोधी थे।

मशीनों की वृद्धि के कारण सामाजिक व्यवस्था बदली और मज़दूरों की संख्या बढ़ने लगी। इसलिये यह आवश्यक था कि उनके अधिकारों की नई व्यवस्था बनाई जाय। इसके अलावे उनकी हालत आम जनता से बुरी थी। वे सभी प्रकार से मिल मालिकों के हाथों में थे। पूँजीपति जितना चाहता उनसे काम कराता और अपनी मर्ज़ी के अनुसार उन्हें मज़दूरी देता। स्वतन्त्रता की भावना मज़दूरों में भी बढ़ रही थी। उदार दल उनके अन्दर सुधार करना चाहता था, लेकिन अनुदार दल वाले काफ़ी विरोध करते थे। उदार दल में एक गिरोह

मज़दूरों के पूरे पक्ष में था। वह इस बात पर तुला हुआ था कि चाहे जैसे हो मज़दूरों को अधिकार मिलने चाहिये। सम्पूर्ण उदार दल इतना उत्सुक न था। इसलिये बीसवीं सदी के आरम्भ में यह दल दो भागों में बँट गया। जो मज़दूरों के पक्के सहायक थे उन्होंने अपना नाम मज़दूर दल (Labour Party) रख लिया। इस प्रकार इंगलैंड में तीन पार्टियाँ हो गईं, उदार, अनुदार और मज़दूर दल (Liberal, Conservative and Labour Party) १९२३ ई० में रेम्ज़े मैकडानल्ड मज़दूर दल का नेता हुआ। उसके अन्दर इस पार्टी ने इतनी उन्नति की कि १९२४ ई० में शासन की बागडोर इसी मज़दूर दल के हाथ में आ गई। १९२९ में फिर यही दल इंगलैंड का शासक बना। किसी कारण वश १९३१ ई० में रेम्ज़ मैकाडानल्ड ने मन्त्रि मंडल मे इस्तीफ़ा दे दिया और मज़दूर दल की सरकार का अन्त हो गया। आज इंगलैंड में ये तीनों दल क़ायम हैं। हर दल का समूचे देश में संगठन है, उसके कई दफ़्तर हैं, और लाखों रुपये प्रतिवर्ष चन्दे के रूप में आते हैं। अनुदार दल इन सबमें धनी है। हर दल का एक सिद्धान्त है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हर पार्टी स्कूल खोलती है, अस्पताल बनवाती है, तथा तरह तरह के सामाजिक सुधार करती है। इन पार्टियों के कार्य-क्रम से देश को काफ़ी लाभ पहुँचता है।

अमेरिका U. S. A.

१७७५ ई० तक अमेरिका एक गुलाम देश था। जो पार्टी इङ्गलैण्ड में थी उसी की नक़ल वहाँ भी थी। लेकिन १७८२ ई० में जब वह देश स्वतन्त्र हुआ तो वहाँ नई नई पार्टियाँ बनीं। आज़ादी के बाद जब वहाँ संघ शासन की व्यवस्था हुई तो यह स्वाभाविक था कि दो दल उठ खड़े होते। एक तो संघ शासन को अधिक से अधिक अधिकार देना चाहता था। वह केन्द्रीय शासन को मज़बूत बनाने के पक्ष में था। इसके विपरीत दूसरा दल प्रान्तीयता का पक्षपाती था। वह चाहता था कि रियासतों को सारे अधिकार बाँट दिये जायँ। स्थानीय अधिकार उसे केन्द्रीय अधिकारों से कहीं आवश्यक थे। जब केन्द्रीय शासन अच्छी तरह दृढ़ हो गया तो संघ का विरोधी दल समाप्त हो गया। उसका स्थान एक नई पार्टी ने लिया। इसका नाम स्वतन्त्र दल (Republican Party) था। इस दल ने स्वतन्त्रता में दूसरे दल को भी मात कर दिया। १८०१ ई० में इसकी ताक़त सबसे अधिक हो गई। १८१६ से

१८३० ई० तक इसके अतिरिक्त अमेरिका में कोई दूसरी पार्टी न थी। इसीलिये वहाँ के इतिहास में इस १४ वर्ष के समय को "सद्भावना का युग" कहते हैं। १८३० के बाद फिर दो पार्टियाँ उठ खड़ी हुई। अभी इनका संगठन बन ही रहा था कि गुलामों की रिहाई का सवाल उठ खड़ा हुआ। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि पार्टियाँ हमेशा किसी बड़े सवाल पर बना करती हैं। जब कभी कोई बड़ा प्रश्न मुल्क के सामने उपस्थित होता है तो पिछली दल बन्दी ख़तम हो जाती है, और नये दल उठ खड़े होते हैं। इसी प्रश्न पर घरेलू युद्ध आरम्भ हुआ और गुलामी प्रथा जाती रही। जब गुलामी का सवाल दूर हो गया तो कोई समस्या ऐसी न रही जिस पर दल बन्दी होती। नतीजा यह हुआ कि वही पुरानी दोनों पार्टियाँ (Republican and Democrat) बनी रहीं। उनके सामने कोई ख़ास उद्देश्य न था। तब से आज तक अमेरिका में कोई ऐसा सवाल पैदा नहीं हुआ जिस पर नई पार्टियाँ बन सकें। छोटी छोटी बातों पर पार्टियाँ बनती बिगड़ती रहती हैं। यदि ठीक ठीक शब्दों में अमेरिकन पार्टी का वर्णन किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अमेरिका में कोई पार्टी नहीं है। नाम मात्र को उनका संगठन ज़रूर है लेकिन उनके सामने कोई ख़ास कार्यक्रम (Programme) नहीं है। समाजवाद की लहर वहाँ भी पहुँच गई है। इस पर वहाँ दो समाज वादी दल भी (Socialist and Socialist Labour) उत्पन्न हो गये हैं। इसके अलावे १९१२ ई० से एक 'अग्रगामी दल' (Progressive Party) का भी जन्म हुआ है। इतनी पार्टियाँ होते हुये भी अमेरिका को 'पार्टी रहित देश' (Non-Party Country) कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

कहने को अमेरिका में कोई ख़ास पार्टी नहीं है, लेकिन दल बन्दी की भावना जितनी वहाँ है उतनी बहुत कम देशों में पाई जाती है। इसकी वजह यह है कि वहाँ चुनाव बार बार होते रहते हैं। और देशों में केवल धारा सभा के प्रतिनिधियों का चुनाव होता है, लेकिन अमेरिका में प्रेसीडेन्ट, सहायक प्रेसीडेन्ट तथा कुछ बड़े बड़े अफ़सरों तक का चुनाव होता है। इसलिये राजनैतिक भावना की बड़ी चहल पहल रहती है। एक सबसे अजीब बात, जो दुनिया के किसी भी हिस्से में प्रचलित नहीं है, अमेरिका की " विनाशी नीति " (Spoil System) है। इसका अर्थ यह है कि जब प्रेसीडेन्ट का चुनाव हो जाता है तो वह अपनी पार्टी

को खुश करने के लिये सभी सरकारी कर्मचारियों को निकाल बाहर कर देता है। और उनकी जगह अपनी पार्टी के लोगों को भर्ती कर लेता है। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि सरकारी कर्मचारी अपने को स्थायी नहीं समझते। चपरासी तक डरता रहता है कि कहीं वह निकाल न दिया जाय। सरकारी विभागों में अनुभवशील व्यक्तियों का अभाव रहता है। पार्टी प्रथा का इतना ज़बर्दस्त असर किसी और मुल्क में शायद ही पड़ता हो। अब इसे रोकने का किसी हद तक प्रयत्न किया गया है। कुछ जगहें स्थायी बना दी गई हैं। सिविल सर्विस की परीक्षा का नियम बनाया गया है। इसमें सफलीभूत व्यक्ति राज्य के स्थायी कर्मचारी समझे जाते हैं। अमेरिका में बड़े बड़े सेठ साहूकार पार्टी के लीडरों को लम्बी लम्बी रक़में देकर अपने मन के मुताबिक़ क़ानूनें पास करवा लेते हैं।

ऊपर कहा गया है कि पार्टियाँ किसी ख़ास मसले पर बना करती हैं।

हिन्दुस्तान

वैसे तो निर्वाचन प्रथा के अभाव में पार्टी बनने का कोई सवाल पैदा नहीं होता। मुग़ल राज्य में न तो कोई पार्टी और न व्यवस्थापिका सभा ही थी। यदि कोई मसला छिड़ जाता तो बादशाह का फ़ैसला अन्तिम माना जाता था। फिर उस पर किसी तरह का बहस मुबाहिसा नहीं हो सकता था। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के शासन काल में राजनैतिक दशा काफ़ी बुरी थी। कम्पनी के कर्मचारी मनमानी करते थे। मेकाले लिखता है "कम्पनी के नौकर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये देश के सभी आन्तरिक व्यापार पर अपना कब्ज़ा किये हुये थे। वे यहाँ के वासिन्दों को महँगा ख़रीदने और सस्ता बेंचने पर मजबूर करते थे। फैक्ट्री का एक एक नौकर अपने को डाईरेक्टर समझता और उसके मालिक कम्पनी को अपनी बपौती समझते थे। कलकत्ते शहर में कम्पनी के पास कुबेर का ख़ज़ाना इकट्ठा था। इस पैशाचिक नीति के फलस्वरूप ३० लाख आदमी दाने दाने को मुहाल थे। यद्यपि अत्याचार को सहन करने की उनमें काफ़ी शक्ति थी, परन्तु ऐसा अत्याचार उनसे सहन नहीं हो सकता था।"* कम्पनी के

---

* "The servants of the company," writes Macaulay, "obtained—not for their employers but for themselves a monopoly of almost the whole internal trade. They forced the natives to buy dear and sell cheap......... Every servant of a British factory was armed with

ढ़ाई सौ वर्षों के काम का नतीजा यह हुआ कि मुल्क एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसका कट्टर दुश्मन हो गया। सन् १८५७ ई० के ग़दर के बाद कम्पनी का राज्य ख़तम हो गया और हिन्दुस्तान के शासन का भार पार्लियामेंट ने अपने हाथों में ले लिया। तब से यहाँ पार्लियामेंटरी शासन की नींव पड़ी। शासन प्रबन्ध का ढाँचा इङ्गलैण्ड के आधार पर बनाया गया। इसी बीच में सन् १८८५ ई० में कांग्रेस का जन्म हुआ। देश के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों ने इसकी नींव इसलिये डाली कि यह संस्था ब्रिटेन और हिन्दुस्तान दोनों में सहयोग उत्पन्न करेगी। साथ ही भारतीय सामाजिक सुधारों में हाथ बँटायेगी।

सुधार के प्रश्न पर दो दल उत्पन्न हुये। एक इसका पक्षपाती और दूसरा विरोधी था। धारा सभाओं में भी इस आशय के दो दल हो गये। फिर हिन्दुस्तानियों के अधिकार का प्रश्न उठा। यह एक गहरा सवाल था। इस पर न सिर्फ धारा सभाओं में बल्कि देश में दो दल उठ खड़े हुये। एक तो ब्रिटेन से मिल कर अपने अधिकारों की माँग पेश करना चाहता था। लेकिन दूसरा दल इसे पसन्द न करता था। वह ब्रिटेन की ख़िलाफ़त करते हुये आगे बढ़ना चाहता था। एक का नाम 'नरम' दल था और दूसरे का 'गरम' दल। इन दोनों दलों का संगठन बढ़ने लगा। धारा सभाओं, कांग्रेस, तथा सारे देश में इन्हीं दोनों दलों का ज़ोर था। इसके बाद जब मुल्क की आज़ादी का सवाल पेश हुआ तो हिन्दुस्तान के हर सम्प्रदाय ने अपना अपना दल बनाकर इसका समर्थन किया। साम्प्रदायिक संगठनों को राजनैतिक संगठन में मिलाना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है, लेकिन हिन्दुस्तान एक ऐसा मुल्क है जहाँ विभिन्न सम्प्रदाय आज भी अपना अलग अलग संगठन बनाकर सरकार के सामने अपनी माँगें पेश करते

---

all the power of his master, and his master was armed with all the power of the Company. Enormous fortunes were thus rapidly accumulated at Calcutta, while thirty millions of human beings were reduced to the last extremity of wretchedness. They had been accustomed to live under tyranny, but never under tyranny like this." [Essay on Clive].

हैं। मुसलिम लीग अपने आप को एक राजनैतिक पार्टी कहती है, वैसे इसका स्थान वही है जो हिन्दू सभा का। दोनों दल साम्प्रदायिक हैं। इतना ज़रूर है कि ये दोनों दल अपने अपने सम्प्रदाय की हृदय से उन्नति चाहते हैं।

हिन्दोस्तान में राजनैतिक मामले मज़हबी नज़र से देखे जाते हैं। यही वजह है कि मुसलिम लीग और हिन्दू सभा दोनों अपने आप को किसी राजनैतिक पार्टी से कम नहीं समझतीं। लेकिन यह बात असलियत से कोसों दूर है। ग़ुलाम मुल्क होने से हमारे देश में आज़ादी की वह लहर नहीं है जो अन्य प्रजातन्त्रवादी देशों में है। बिना आज़ादी की लहर के जनता में दलबन्दी की भावना नहीं हो सकती। लोग यही सोचते हैं कि टुकड़े के लिये क्या लड़ा जाय जब कि असली ताक़त विदेशियों के हाथ में है। राजनैतिक मामलों से काफ़ी लोग उदासीन रहते हैं। यही वजह है कि पाश्चात्य देशों के मार्ग पर अभी यहाँ पार्टियाँ नहीं हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दोस्तान में कोई राजनैतिक दल है ही नहीं। यहाँ कहने सुनने को कम से कम चार या पाँच पार्टियाँ हैं। कृषक पार्टी, स्वतन्त्र पार्टी, कांग्रेस पार्टी, मज़दूर पार्टी, लिबरल पार्टी तथा कुछ और भी ऐसी ही छोटी छोटी पार्टियाँ हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो केवल प्रान्तीय-धारा सभाओं तक सीमित हैं। लिबरल और कांग्रेस पार्टियाँ ऐसी हैं जो समूचे देश में अपना प्रभुत्व रखती हैं। इन दोनों में कांग्रेस पार्टी का संगठन काफ़ी मज़बूत और व्यापक है। इन दोनों पार्टियों का अलग अलग ज़िक्र करना अच्छा होगा।

लिबरल पार्टी एक बहुत ही पुरानी पार्टी है। जब कांग्रेस का जाल इतना अधिक नहीं फैला था उस समय यह काफ़ी बढ़ी चढ़ी थी। इसके अन्दर देश के अच्छे से अच्छे व्यक्ति रह चुके हैं। गोखले इसी पार्टी के एक नेता थे। आरम्भ से अब तक इसका एक ही उद्देश्य रहा है। वह यह कि अंग्रेज़ी सरकार से सहयोग प्राप्त करते हुये मुल्क की सामाजिक और राजनैतिक उन्नति करना। इस दल का विश्वास है कि हिन्दोस्तान की बेहतरी इसी में है कि वह बृटिश साम्राज्य के अन्दर बना रहे। जिस समय यह मुल्क बृटिश साम्राज्य से निकल जायगा उस समय कोई और मुल्क इस पर हावी हो जायगा। सामाजिक सुधारों के लिये यह दल स्कूल खोलता है, कालेज चलाता है, व्यवसायों की उन्नति करता है, अछूतों

में काम करता है, तथा गाँवों में कृषि आदि की उन्नति करता है। राजनैतिक उन्नति के लिये इस दल के सदस्य धारा सभाओं में जाते हैं और वहाँ पर अपने देशवासियों के राजनैतिक अधिकारों की माँगें पेश करते हैं। वे शासन प्रबन्ध में अपने देशवासियों का अधिक से अधिक हाथ चाहते हैं। उनकी नीयत किसी सच्चे देशभक्त से कम नहीं होती। लेकिन ये सारे काम वे अंग्रेज़ी सरकार से मिल कर करना चाहते हैं। अपने विचारों अथवा कार्यों से वे उसे नाराज़ नहीं करना चाहते। यह पार्टी काफ़ी संगठित है। सारे देश में इसका संगठन है। इसके हज़ारों सदस्य हैं। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है, जिसमें सारे हिन्दोस्तान से नुमाइन्दे आकर अपना अगला कार्य क्रम बनाते हैं। इस पार्टी की ओर से पत्र पत्रिकायें भी निकलती हैं जो अपने उद्देश्य का प्रचार करती हैं। 'भारत सेवक मण्डल' (Servants of India Society) नाम की संस्था इसी पार्टी की संस्था है, जिसकी नीव गोखले ने डाली थी। इसके सदस्य सेवा का व्रत लेकर लिबरल पार्टी का काम करते हैं।

हिन्दोस्तान की सबसे बड़ी राजनैतिक पार्टी कांग्रेस है। इसका मुख्य उद्देश्य इस देश को आज़ाद करना है। यह पार्टी इतनी सुसंगठित है कि देश का बच्चा बच्चा इसके नाम से परिचित है। कोई गाँव ऐसा न होगा जिसमें इस पार्टी का संगठन न हो। हर ज़िले में इसका दफ़्तर होता है, इसके बाद सूबों में और फिर सारे हिन्दोस्तान के लिये इसका सब से बड़ा दफ़्तर प्रयाग में स्थापित किया गया है। इस पार्टी का कोई सदस्य विदेशी वस्त्र इस्तेमाल नहीं कर सकता। पार्टी के हर सदस्य को हाथ से चर्खे पर सूत कातना लाज़मी है। जो व्यक्ति इसका सदस्य होना चाहता है उसे चार आने पैसे देने पड़ते हैं और अहिंसा और सत्य का व्रत लेना पड़ता है। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है जिसमें लाखों रुपये ख़र्च किये जाते हैं। इस पार्टी के अन्दर छोटी मोटी और भी जमातें हैं, लेकिन वे सब एक ही उद्देश्य रखती हैं और अपने कामों से कांग्रेस को पूरा पूरा सहयोग देती हैं। जिस प्रकार जर्मनी में नाज़ी पार्टी का सदस्य बनना एक गौरव समझा जाता है उसी तरह हिन्दोस्तान में कांग्रेस का सदस्य काफ़ी इज़्ज़त की नज़र से देखा जाता है। इसका उद्देश्य देश को पूर्ण स्वतन्त्र कर 'पंचायती राज्य' कायम करना है। यह पार्टी हथियार की लड़ाई से घृणा करती है। इसका सब से बड़ा हथियार प्रेम

और सत्य है, जिसके बल पर यह अपने देश वासियों को आकर्षित करती है। इस पार्टी की रहन सहन (Discipline) इतनी सख़्त है कि कोई सदस्य इसके नियमों का उलंघन नहीं कर सकता। इतनी बड़ी और सुसंगठित राजनैतिक पार्टी दुनिया के किसी प्रजातन्त्र राज्य में शायद ही है।

अध्याय १५

राष्ट्रीयता

(Nationalism)

राष्ट्रीयता की परिभाषा—राष्ट्रीयता की उत्पत्ति राष्ट्रीयता से लाभ—राष्ट्रीयता से हानि—राष्ट्रीयता के अंग—मनुष्य का स्वभाव—धर्म—जाति—भौगोलिक परिस्थिति—भाषा—राजनैतिक एकता—इतिहास—निश्चित देश—सम्मिलित स्वार्थ—क्या राष्ट्रीयता धर्म है—राष्ट्रीयता की कसौटी—राष्ट्रीयता का विनाश—क्या भारतवर्ष एक राष्ट्र है—राष्ट्रीयता का भविष्य।

राष्ट्रीयता की परिभाषा

नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता का समावेश कदापि नहीं होता। किन्तु समाज शास्त्र के नाते हम इसे अलग नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता प्रत्येक नागरिक का धर्म है। इस दृष्टि से हमें इसका ज्ञान आवश्यक है। "राष्ट्रीयता" शब्द इतना व्यापक है कि इसकी परिभाषा करना कोई खेल नहीं है। प्रजातन्त्रवाद का पुजारी लार्ड ब्राइस स्वीकार करता है कि वह इसकी परिभाषा नहीं कर सकता। वह लिखता है, "हम इसे देख कर केवल पहचान सकते हैं।" हेज़, (Hayes) जिसने राष्ट्रीयता के ऊपर पोथा का पोथा लिख डाला है, साफ़ साफ़ कहता है कि, "राष्ट्र शब्द अत्यन्त जटिल है।" वह लिखता है कि राष्ट्रीयता शब्द का जन्म उन्नीसवीं सदी में हुआ है। स्थूल पदार्थों की परिभाषा सरल होती है क्योंकि उनका कोई रूप रंग होता है, लेकिन जिसकी शकल का ही पता नहीं उसका वर्णन सरलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। कुछ राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इनमें से एक भी पूर्ण नहीं है। ए० टैनबर (A. Taynber) लिखते हैं "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगों को किसी राजनैतिक संगठन में रहने के लिये वाध्य करती है।" डाक्टर हालैंड रोज़ लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है।" प्रोफ़ेसर ए० ई० ज़िमरिन का कहना है, "राष्ट्रीयता न केवल आध्यात्मिक

लाभ पहुँचता है। इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीयता के अन्दर सम्मिलित स्वार्थ का एक बहुत बड़ा अंश होता है। देशभक्ति में अपनी भलाई छिपी होती है। जब समूचे देश का कल्याण होगा तो व्यक्ति भी उससे लाभ उठायेगा। देश की उन्नति के मानी हैं कि हर व्यक्ति उसमें उन्नतिशील है। देश की मर्यादा का श्रेय वहाँ के एक एक व्यक्ति पर निर्भर है। मनुष्य यह जानता है कि यदि राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ेगी तो उसका घर सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १७०७ ई० में इङ्गलैण्ड और स्काटलैंड दोनों एक राष्ट्र बन गये। उनकी सरकार एक हो गई और वहाँ के निवासियों ने अपनी पिछली हरकतों को भुला दिया। इसका एक मात्र कारण यह था कि दोनों देशों का इसमें सम्मिलित स्वार्थ था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में यूरप के तमाम राष्ट्रों की यह ख़्वाहिश थी कि जापान उनकी राष्ट्रीयता को अपना ले। वे ऐसा क्यों चाहते थे? इसीलिये कि उनका सम्मिलित स्वार्थ था। यूरप के विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता आज ख़तरे में है। सम्मिलित स्वार्थ पर धक्का पहुँचने का काफ़ी अन्देशा है। इसी की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। राष्ट्र संघ (The League of Nations) इस सम्मिलित स्वार्थ की रक्षा का सतत प्रयत्न करता रहता है।

क्या राष्ट्रीयता धर्म है?

धर्म और राष्ट्रीयता दोनों दो चीज़ें हैं। एक का दूसरे से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं है। उन्नीसवीं सदी के पहले लोग राष्ट्रीयता पर उतना ज़ोर नहीं देते थे जितना धर्म पर। धर्म के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करने पर तैयार रहते थे। इसी की रक्षा के लिये वे विदेशियों के आक्रमण का मुक़ाबिला करते थे। इसके प्रचार के लिये बड़े समारोह के साथ विदेशों पर चढ़ाइयाँ की जाती थीं। मध्ययुग में योरप में धर्म के लिये कई सौ वर्षों तक घमासान युद्ध होते रहे। वहाँ के धर्म युद्ध (Crusade) संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शायद ही कोई देश ऐसा था जिसमें इसके लिये युद्ध न हुआ हो। ख़ुद इंगलैंड इसका शिकार हुये बिना न रह सका। मेरी ट्यूडर के समय में ४०० आदमी ज़िन्दे इसीलिये जला दिये गये कि वे एक ख़ास मज़हब को मानने के लिये तैयार न थे। लोगों को अपने धर्म की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे देश की अन्य बातों से उसे बड़ा समझते थे। इसके सामने राजनीति का महत्व कम था। राष्ट्रीयता का तो कोई नाम भी नहीं जानता था।

की महत्ता कम होने लगी और उसका स्थान मशीनों ने ग्रहण किया। पहले हर देश अपने आपको वहीं तक मज़बूत समझता था जहाँ तक उसके अन्दर शारीरिक शक्ति थी। जो देश जितना ही अधिक आबाद था वह उतना ही दृढ़ समझा जाता था। लेकिन मशीनों ने इसे बदल दिया। जिसके पास जितनी अधिक मशीनें थीं और जो जितना ही अधिक माल तैयार करके विदेशों में भेजता वह उतना ही शक्तिशाली समझा जाता था। प्रत्येक देश की यह इच्छा हुई कि वह अपने देश के माल से दुनिया के बाज़ारों को अधिक से अधिक पाट दे। यह मुकाबिला इतना जोर पकड़ता गया कि हर देश अपने पड़ोसी तक को अपना दुश्मन समझने लगा। इसी होड़ का नाम राष्ट्रीयता है। बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता इसी आपस के गला-तोड़ मुकाबिले का परिणाम है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता वह पागलपन है जो अपने मुल्क के लिये सब कुछ करा सकता है। बड़े बड़े देश इसीलिये लड़ रहे हैं कि संसार में वे सर्व प्रधान राष्ट्र बन जायँ। राष्ट्रीयता यहीं पर रुक नहीं गई। जब शक्ति का मुकाबिला बढ़ने लगा तो बड़े देशों को यह चिन्ता हुई कि कहीं अमुक देश का बाज़ार औरों के हाथ में न चला जाय। इसलिये उन्हें एक साम्राज्य बनाने की इच्छा हुई। इसी प्रकार शक्ति का भूत बढ़ता गया। इसके साथ ही बड़े बड़े साम्राज्यों की उत्पत्ति हुई। आज जो विश्व व्यापी युद्ध छिड़ा हुआ है उसकी जड़ में साम्राज्य की पिपासा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साम्राज्य भी इसीलिये चाहिये कि अधिक से अधिक बाज़ार उनके हाथों में रह सकें। इसलिये राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के साथ वैमनस्य की भी उत्पत्ति हुई, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज यूरप में दिखलाई पड़ रहा है। यूरप एक बारूद की खान है जिसमें थोड़ी भी चिनगारी लगते ही आग भभक उठती है। वर्त्तमान काल में राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया है। दूसरे में वे सारी बुराइयाँ मौजूद हैं जो पहले में हैं। सिद्धान्त में राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता अच्छी चीज़ें हैं, लेकिन इनका वर्तमान रूप ठीक नहीं है। प्रत्येक देश के अन्दर स्वार्थ और शक्ति की भावना इस क़दर जाग्रत है कि लोग सच्ची राष्ट्रीयता को भूल गये हैं।

राष्ट्रीयता से लाभ

राष्ट्रीयता कोई बुरी चीज़ नहीं है। इससे स्वदेश प्रेम का भाव प्रकट होता है। जब कोई व्यक्ति अपने को किसी राष्ट्र का अंग मानता है तो उसके अन्दर एक शक्ति मालूम

पड़ती है जो व्यक्तिगत बल से कहीं अधिक होती है। इससे उसके दिल में एक प्रकार का गौरव उत्पन्न होता है। यह बात निर्विवाद है कि उन्नतिशील देश का निवासी अपने आपको बड़ा समझता है। उसे अपने देश पर नाज़ होता है। राष्ट्रीयता एक प्रकार की एकता है। केवल राजनैतिक एकता से यह उत्पन्न नहीं होती, बल्कि कई क्षेत्रों में एकता की आवश्यकता पड़ती है। धर्म, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, व्यवसाय, विचार इन सब की एकता की आवश्यकता है। जो देश अपने को राष्ट्र कहने का दावा रखते हैं उन्हें बहुत ही संगठित और सभ्य होने की ज़रूरत है। कई बातों के एक होते हुये भी हम दो देशों को एक मंच पर नहीं ला सकते, लेकिन राष्ट्रीयता एक ऐसी चीज़ है जो न केवल दो व्यक्तियों को बल्कि दो राष्ट्रों को एक में मिला सकती है। इसी से देश की संस्कृति की रक्षा होती है। किसी देश का अस्तित्व राष्ट्रीयता से क़ायम रहता है। देश का सच्चा इतिहास उसकी राष्ट्रीयता की कहानी है। सामाजिक संगठन में जो स्थान जाति का है वही संसार में राष्ट्रीयता का है। मैं यह मानता हूँ कि वर्तमान राष्ट्रीयता अफ़ीम है, लेकिन इसका असली सिद्धान्त बुरा नहीं है। यदि आज संसार के विभिन्न देश अपनी राष्ट्रीयता खो बैठें तो न कोई संस्कृति जीवित रह सकती है और न सभ्यता। एक राष्ट्र के रहने वाले व्यक्ति अपने को भाई भाई समझते हैं, और किसी दूसरे राष्ट्र के मुकाबिले में एक स्वर से तैयार रहते हैं। जिस देश में राष्ट्रीयता की लहर है वहाँ के निवासियों में नया जीवन दिखलाई पड़ता है। जिन्हें अपने राष्ट्र को ऊँचा बनाने का थोड़ा भी अभिमान है वे जी जान से अपनी आन्तरिक कमजोरियों को मिटाने की कोशिश करते हैं। जैसे धर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है उसी तरह राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। इससे देश की आन्तरिक बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। इसी भावना ने आज बड़े बड़े साम्राज्यों को जन्म दिया है। इसी का परिणाम है जो मुट्ठी भर इङ्गलैंड के निवासी पचास करोड़ आदमियों पर आज शासन कर रहे हैं। इसी के प्रताप ने जापान को एशिया में सर्व प्रधान बना दिया। इसी की कमी से आज भारतवर्ष ग़ुलाम है। इसी के नाम पर देश की अच्छी कीर्तियाँ विश्व के सामने आती हैं।

राष्ट्रीयता से कुछ ऐसी हानियाँ हैं जो स्वाभाविक हैं। उन्हें कोई

राष्ट्रीयता से हानि मिटा नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे को इसलिये भी भिन्न समझता है कि वह किसी और राष्ट्र का निवासी है। जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना अधिक बढ़ जाती है वह न केवल अपनी उन्नति चाहता है, बल्कि अन्य राष्ट्रों को कुचलना उसका एक उद्देश्य हो जाता है। आज कल जितने भी बड़े बड़े राष्ट्र हैं वे अपनी आमदनी का सबसे ज़्यादा हिस्सा अस्त्र-शस्त्र बनाने में ख़र्च करते हैं। इसलिये नहीं कि उससे संसार की रक्षा होगी, बल्कि इसलिये कि दूसरे राष्ट्र उससे आगे न बढ़ सकें। बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुई है, उन सबकी जड़ में राष्ट्रीयता की भावना थी। राष्ट्रीयता के अन्दर अपनी उन्नति की भावना के साथ दूसरे राष्ट्रों को दबाने का भाव छिपा रहता है। इसी के आवेश में आकर एक देश दूसरे की अच्छी से अच्छी बातों को बुरा ठहराता है। अपने राष्ट्र के विस्तार के लिये न्याय तक को उठा कर ताख पर रख दिया है; सन्धियों की कोई परवाह नहीं की जाती और लड़ाई के नये नये बहाने खोज निकाले जाते हैं। इसीलिये श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं कि 'राष्ट्रीयता राष्ट्र के लिये सबसे घातक है।'* वर्तमान राष्ट्रीयता तलवार की शक्ति पर क़ायम है। कोई व्यक्ति अपने देश की सेवा और त्याग की परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी फ़ौजी ताक़त पर गर्व करता है। आज यूरप के छोटे और बड़े देशों में जो कश-म-कश चल रही है उसका कारण यह भी है कि एक की राष्ट्रीयता नष्ट हो जाय। राष्ट्रीयता आज लड़ाई का एक बहाना बन गई है। संसार में सभी व्यक्ति भाई भाई हैं और ऊपरी फ़रक़ केवल प्राकृतिक अन्तर के कारण है—इस प्रकार का विश्व-बन्धुत्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक इस गन्दी भावना का सर्वनाश न होगा। राष्ट्रीयता संगठन की एक संकुचित भावना है। जिस प्रकार किसी गाँव में केवल एक घर की उन्नति से गाँव भर की उन्नति नहीं हो सकती उसी प्रकार संसार की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हर देश ऊँचा न उठ जाय। केवल थोड़े से राष्ट्र औरों को दबा कर विश्व का कल्याण नहीं कर सकते।

राष्ट्रीयता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो एक व्यक्ति चन्द वर्षों में पैदा करता है। यह एक भावना है जो सदियों में बनती है। कुछ

---

* Nation is the greatest evil for the Nation.

राष्ट्रीयता के अंग ऐसी शर्तें हैं जिनके बिना इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। उन्हीं शर्तों को राष्ट्रीयता का अंग कहते हैं। जैसे राज्य के अंग होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रीयता के भी। इनमें से एक की भी अनुपस्थिति में सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं हो सकता। इन अंगों के अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जो इसकी उन्नति में सहायक होती हैं। जब एक बार किसी देश में यह दृढ़ रूप से स्थापित हो जाती है तो उसका ह्रास जल्दी नहीं होता। अच्छा होगा कि इन अंगों का अलग अलग विस्तार से वर्णन किया जाय। तभी हमें इसका ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। ये अंग निम्नलिखित हैं:—मनुष्य का स्वभाव, धर्म, जाति, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, रसम रवाज़, राजनैतिक एकता, एक निश्चित देश, ऐतिहासिक एकता इत्यादि।

मनुष्य का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है। वह अकेले रहना पसन्द नहीं करता। उसका यह स्वभाव है कि अधिक से अधिक आदमियों से परिचय प्राप्त करे। वह अपने सरीखे औरों को भी बनाने की चेष्टा करता है। वेष भूषा, रहन सहन, खान पान, इन सब में वह औरों की नकल करता है, साथ ही ख़ुद भी दूसरों पर प्रभाव डालता है। विचारों में उसे एकता की प्रबल इच्छा होती है। वह उसी को अपना मित्र बनाता है जो उसके विचारों के अनुकूल होता है। राष्ट्रीयता इन्हीं गुणों का बृहत् रूप है। मनुष्य के स्वभाव का ही यह फल है जो सभी क्षेत्रों में अधिक से अधिक एकता दिखलाई पड़ती है। अपने पूर्वजों की बहुत सी बातें वह ग्रहण करता है। रसम रवाज़ कितने ही पुराने क्यों न हो जायँ, वे उसके स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। इसी से एक छोटा सा गिरोह बनता है, और जब यह गिरोह देश व्यापी हो जाता है तो उसी से राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। एक देश का निवासी अपने को विदेशियों से भिन्न परन्तु अपने देशवासियों को मित्र समझता है। देश की सभी वस्तुओं में उसे अपनापन दिखाई पड़ता है। राष्ट्रीयता में अपनापन की भावना ओत प्रोत है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का यह भी स्वभाव है कि वह दूसरों से थोड़ी बहुत सहायता ले और स्वयं औरों की सहायता करे। केवल आर्थिक नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार की सहायता हो सकती है। मनुष्य का यह स्वभाव राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक होता है।

राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म सहायक और बाधक दोनों हैं। सहायक

धर्म

तो इस तरह है कि एक ही विश्वास के बहुत से मनुष्य होते हैं। उनमें धर्म के आधार पर एकता होती है। इसी से उन्हें एक साथ मिलने जुलने का अवसर मिलता है। सबमें भाई का सा बर्ताव होता है। भारतीय इतिहास का पन्ना पन्ना इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता में धर्म सबसे अधिक सहायक होता है। जब हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के हमले हुये तो हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा के लिये उनका डटकर मुक़ाबिला किया। धर्म की रक्षा ने राष्ट्र की रक्षा का स्वरूप धारण कर लिया। यहूदी क़ौम आज भी इस बात का सबूत है कि धर्म का राष्ट्रीया में कितना गहरा हाथ होता है। उसके पास न तो कोई देश है, और न उसकी दुनिया में कोई वक़त है। जर्मनी से वे दूध की मक्खी की तरह निकाले जा रहे हैं। कोई ऐसा मुल्क नहीं जहाँ उन्हें रहने तक की इजाज़त हो। इससे उस क़ौम को आज तक नष्ट भ्रष्ट हो जाना चाहिये। वे जिस देश में रहते, उसी के निवासी बन जाते। लेकिन धर्म की छाप उन पर इतनी ज़बर्दस्त है कि उनकी राष्ट्रीयता अभी तक ज़िन्दी है। किसी भी देश में रहता हुआ यहूदी अपने तरीक़े पर रहता है और अपने धर्म पर चलता है। इटली में रहने वाला यहूदी जर्मनी के रहने वाले यहूदी को अपना भाई समझता है।

धर्म राष्ट्रीयता में बाधक भी है। मध्य कालीन यूरप में सैकड़ों वर्षों तक राजा और पोप में युद्ध चलता रहा। एक ही देश में दो धर्म के अनुयायी एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं। इङ्गलैंड के इतिहास में कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट का युद्ध धर्म के नाम पर चलता रहा। इससे उस देश की राष्ट्रीयता में काफ़ी रुकावट पड़ी थी। वह तभी एक सुसंगठित राष्ट्र बन सका जब धार्मिक झगड़े दूर हो गये। हिन्दुस्तान आज अपने को राष्ट्र कहलाने का पूरा हक़दार नहीं है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख आदि अपने को अलग समझते हैं। वे हिन्दुस्तान को अपना घर वहीं तक मानते हैं जहाँ तक उनके धर्म की रक्षा होती है। यह सभी जानते हैं कि धार्मिक भेदभाव के कारण हमारा देश राष्ट्रीयता में सबसे पीछे है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनमें मज़हब के सिवाय और कोई फ़रक नहीं है। पैलेसटाइन में अरबों और यहूदियों की जो लड़ाई है उसका एक कारण धर्म भी है। कुछ और भी वजूहात हैं लेकिन धर्म का स्थान कम नहीं है। हर मुल्क में विदेशी क़ौमें काफ़ी तादाद में रह रही हैं। लेकिन वहाँ के मूल वासिन्दों से उन्हें छोटा समझा जाता है।

विदेशियों को वे अधिकार प्राप्त नहीं होते जो नागरिकों को। इनकी जड़ में धर्म भी एक कारण होता है। जहाँ धर्म भाई-चारे की वृद्धि करके राष्ट्रीयता में सहायक होता है वहाँ उससे बाधा भी पड़ती है।

जाति

जाति और धर्म से गहरा सम्बन्ध है। एक जाति के लोग आपस में कई प्रकार का संगठन बनाये रहते हैं। उनके रसम रवाज़ एक से होते हैं। उनकी सामाजिक व्यवस्था में एक समानता होती है। जिस देश में एक जाति के लोग रहते हैं वहाँ राष्ट्रीयता अधिक होती है। वे अपनी जाति के नाते एक दूसरे को मित्र समझते हैं। जब तक हिन्दुस्तान में आर्य कौम निवास करती थी, और दूसरी जातियाँ नहीं आई थीं, तब तक यह देश एक राष्ट्र था। लेकिन मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि के आने पर यहाँ विभिन्न जातियाँ होगईं। नतीजा यह हुआ कि इसकी राष्ट्रीयता जाती रही। जब तक जाति का सवाल गौण रहता है तब तक राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ती। मुसलमानी ज़माने में हिन्दुस्तान एक सुसंगठित राष्ट्र था। दोनों अपने आपको इस देश के निवासी समझते थे। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को अपना घर मान लिया था। लेकिन जब जातीय सवाल बढ़ गया और उनमें साम्प्रदायिकता के भाव आने लगे तो इस देश की राष्ट्रीयता जाती रही। यदि बहुत सी जातियाँ किसी देश में निवास करें और देशभक्ति के सामने और प्रश्नों को तरह देती रहें तो राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ सकती। दुनिया में कितने ही ऐसे देश हैं जिनमें कई जातियाँ निवास करती हैं, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं हुई है। स्विटज़रलेंड में तीन जातियाँ रहती हैं। स्वयं ब्रिटेन में दो जातियों के लोग निवास करते हैं। इतने पर भी इन देशों की राष्ट्रीयता बनी हुई है।

भौगोलिक परिस्थिति

राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रकृति भी सहायता देती है। नदी, पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र इनसे राष्ट्रीयता में सहायता और बाधा दोनों पड़ती हैं। यदि एक जाति अथवा एक राजनैतिक सूत्र में बंधे हुए कितनी ही जातियों के लोग दूर दूर फैले हुए हों तो नदी और समुद्रों के आवागमन से वे एक समझे जाते हैं। इसके विपरीत यदि बहुत सी जातियाँ चारों ओर से किसी पहाड़ अथवा घने जंगल से घिरी हुई हों तो उन्हें विवश होकर एक सुसंगठित राष्ट्र बनाना पड़ता है। भारतवर्ष को ही

ले लीजिये। उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय पर्वत और तीन ओर अथाह समुद्र हैं। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता के बहुत ही अनुकूल है। यह देश लोहे की सन्दूक़ की तरह सुरक्षित है। बीच में बिन्ध्याचल पर्वत के कारण उत्तरी और दक्षिणी हिन्दुस्तान के दो टुकड़े हो जाते हैं। हिन्दू काल में इन दोनों हिस्सों का दो इतिहास माना जाता है। आर्यावर्त केवल उत्तरी भारतवर्ष को कहते थे। इसके निवासी अधिक सभ्य और पवित्र माने जाते थे। दक्षिणी भारतवर्ष असभ्यों का घर समझा जाता था। लेकिन मौजूदा ज़माने में इस प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। दक्षिणी हिन्दुस्तान आज भी संस्कृत विद्वानों की भूमि है। वह प्राकृतिक सौन्दर्य का एक गढ़ है। इन दोनों उदाहरणों से जाहिर है कि प्राकृतिक वस्तुयें राष्ट्रीयता में रुकावट होती हैं।

यूरप में स्पेन और पुर्तगाल पास ही पास बसे हुये हैं। उनकी भाषा भी एक है। लगभग ६० वर्ष तक दोनों एक ही शासन के अन्तर्गत रहे। दोनों देशों के निवासियों का धर्म भी एक है। फिर भी इनकी राष्ट्रीयता अलग अलग है। इसका मुख्य कारण भौगोलिक परिस्थिति है। प्राकृतिक रुकावट के कारण उनकी राष्ट्रीयता एक नहीं हो पाती। यह एक कहावत सी है कि स्पेन और पुर्तगाल अपनी अपनी पीठ फेरे हुये हैं। ठीक यही दशा नार्वे और स्वीडन की है। फिनलैंड और रूस की भी यही दशा है। झीलों और जंगलों का जाल उन्हें अलग किये हुये है। इससे स्पष्ट है कि भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता में काफ़ी बाधक होती है। इसकी वजह यह है कि जब कोई देश किसी प्राकृतिक दीवार से बँट जाता है तो वहाँ के निवासियों में सहवास नहीं हो पाता। इससे उनकी संस्कृति, रहन सहन तथा इतिहास भिन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनकी राष्टीयता एक नहीं रह सकती। जिस भूमि में हम निवास करते हैं, जहाँ का अन्न खाते हैं, और वायु तथा जल पीते हैं उसका प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। उसी से हमारा जीवन बनता है। एक प्रकार की जल वायु में रहने के कारण हमारी आवश्यकतायें समान हो जाती हैं। जब हमारे स्वार्थ और साधनों में कोई भेद नहीं रह जाता तो यह स्वाभाविक है कि कौटुम्बिक जनों के समान हम अपने देशवासियों को अपने समाज का एक अंग समझें। जब देशवासियों का हित एक हो जाता है तो उनमें राष्ट्रीयता की वृद्धि होती है।

भाषा और जाति साथ साथ चलते हैं। 'आर्य' शब्द से आर्य भाषा

भाषा

और आर्य जाति दोनों का बोध होता है। जब हम किसी को फ़ारसी कहते हैं तो इसके कई अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि वह फ़ारस का रहने वाला है। दूसरा यह कि उसकी ज़बान फ़ारसी है, अरबी और हिन्दी नहीं। भाषा से जातियों का विभेद होता है। एक जाति के लोग आम तौर से एक ही भाषा बोलते हैं। अमेरिका और इङ्गलैंड के निवासी अँग्रेज़ हैं। दो देशों में रहते हुये भी उनकी भाषा एक है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक भाषा के कारण राष्ट्रीयता भी एक होगी। अमेरिका और इङ्गलैंड इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। दोनों देशों में एक ही जाति निवास करती है। उनकी भाषा भी एक है। फिर भी दोनों दो राष्ट्र हैं। दोनों की सरकार भिन्न भिन्न है। राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता के लिये भाषा की एकता पर सबसे अधिक ज़ोर दिया है। उनका कहना है कि जिस देश की भाषा एक नहीं है वह राष्ट्र नहीं बन सकता। प्रान्तीय भाषायें अलग अगल हों, लेकिन उसकी कोई राष्ट्र भाषा ज़रूर होनी चाहिये। एक भाषा से विचारों में आदान प्रदान होता है। किसी देश के सभी निवासी एक दूसरे को तब तक नहीं समझ सकते जब तक उनकी भाषा एक न हो। हिन्दोस्तान इसका जीता जागता उदाहरण है। इस देश में अनेक भाषायें बोली जाती हैं। एक बंगाली हिन्दी नहीं बोल सकता। संयुक्तप्रान्त का निवासी यदि मदरास में चला जाय तो उसकी बात कोई नहीं समझ सकता। अंग्रेज़ी एक ऐसी भाषा है जिसके बल पर हम हिन्दोस्तान का चक्कर लगा सकते हैं। लेकिन यह हमारी कमज़ोरी का सबसे बड़ा नमूना है। हम विदेशी भाषा को राष्ट्र भाषा नहीं बना सकते। इसके द्वारा न तो हम अपने देश को शिक्षित और न अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकते हैं। यहाँ की ८० प्रतिशत जनता अंग्रेज़ी नहीं सीख सकती। इसीलिये इस देश को एक राष्ट्र बनाने के लिये भाषा की एकता अत्यन्त आवश्यक है।

यदि हम ग़ौर करें तो पता चलेगा कि राष्ट्रीयता भाषा पर काफ़ी निर्भर करती है। हर देश की अपनी राष्ट्रभाषा है। वहाँ के लोग उस पर गर्व करते हैं। एक देश का निवासी कोई विदेशी भाषा तब तक नहीं सीखता जब तक वह अपनी मातृभाषा में माहिर न हो जाय। उसे यह भय रहता है कि मातृभाषा के कमज़ोर होते ही उसकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जायेगी। भाषा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति पर अपना संस्कार डालते हैं। अपने अन्तःकरण की भावना मातृभाषा में ही

स्पष्ट की जा सकती है। देश में साहित्य की उन्नति मातृभाषा से होती है। जर्मन विद्वान फिकटे (Fichte) लिखता है, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु है और इसका सम्बन्ध भाषा से है।" यदि भारत की राष्ट्रीयता थोड़ी बहुत क़ायम है तो इसकी वजह यह है कि सभी प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत की पुट है।

राजनैतिक एकता

राजनैतिक एकता राष्ट्रीयता का आवश्यक अंग है। इसके बिना सभी साधन व्यर्थ हैं। इसकी अनुपस्थिति में बनी बनाई राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। एक राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि उसकी एक ही सरकार हो। यदि किसी देश में दो सरकार क़ायम हो जायँ तो दोनों की राष्ट्रीयता एक नहीं रह सकती। जब तक कोई मुल्क बिखरा हुआ है, और सभी प्रान्त वा रियासतें किसी केन्द्रीय सत्ता को नहीं मानतीं, तब तक उस देश में राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सकता। एक कहावत है कि "एक राष्ट्रीयता एक ही राज्य के अन्दर रह सकती है।" राजनैतिक एकता से देश के सभी व्यक्ति एक सूत्र में बँधे होते हैं। उनका व्यक्तिगत हानि-लाभ देश की हानि और लाभ से जुट जाता है। देश की रक्षा और उन्नति का भार सब पर एक समान पड़ता है। उनके झगड़े एक ही न्यायालय में एक क़ानून द्वारा फ़ैसल होते हैं। उनके राजनैतिक अधिकार और कर्तव्य एक हो जाते हैं। सरकार सबको एक दृष्टि से देखती है। राजनैतिक एकता से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक शान्ति रहती है। यदि किसी देश के आधे हिस्से में शान्ति हो, और बाक़ी हिस्से लूट मार के घर हों, तो वह देश राष्ट्र बनने का दावा नहीं कर सकता। हिन्दोस्तान की राष्ट्रीयता अकबर से औरंगज़ेब तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। लेकिन औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक एकता छिन्न भिन्न होने के कारण सूबों के नव्वाब मनमानी करने लगे। काफ़ी अरसे तक यह देश लड़ाई झगड़े का घर बना रहा। जब शान्ति स्थापित हुई और केन्द्रीय शासन दृढ़ हो गया तो फिर राष्ट्रीयता के भाव जाग्रत हुये। थोड़ी बहुत राष्ट्रीयता जो इस देश में दिखाई पड़ती है वह इसी राजनैतिक एकता का परिणाम है। जिस देश के निवासी मिल जुल कर अपना काम करना नहीं जानते और किसी एक को अपना राजा स्वीकार नहीं कर सकते, वे अपने देश को एक राष्ट्र में

परिणत नहीं कर सकते। एक शासन पद्धति से विचारों में एकता उत्पन्न होती है।

जब बहुत से लोग एकत्र होते हैं तो स्वाभाविक है कि उनके विचारों में फ़रक़ हो। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र विचार रखता है। उसकी यह ख्वाहिश होती है कि वह औरों को अपने विचारों में ढाले। ऐसी दशा में बैर विरोध होने की शंका काफ़ी रहती है। जहाँ कहीं सभा समाज हुआ और बहुत से लोग अपनी अपनी राय देने के लिये एकत्र हुये तो उनके विचारों में फरक पड़ेगा। सभी लोग अपनी राय को ऊँचा समझते हैं। अपना कुत्ता औरों के शेर से प्यारा होता है। पार्टी बन्दी में अच्छी से अच्छी बातों को ठुकरा कर लोग अपनी बातों को ऊँचा ठहराते हैं। यह भेद भाव कभी कभी भयंकर रूप धारण कर लेता है और न केवल एकता में बल्कि शान्ति में भी बाधा पड़ने की आशंका होती है। ऐसी दशा में सरकार का कर्तव्य है कि वह इन गन्दी बातों को दबाये ताकि व्यर्थ का मनोमालिन्य बढ़ने न पाये। सरकार को व्यक्ति के लाभ की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी देश की उन्नति की। सरकारी व्यवस्था जहाँ ढीली हुई कि लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये समाज की परवाह नहीं करते। राजसत्ता छोटी छोटी बातों को दबा कर अमन वो अमान के अतिरिक्त लोगों का ध्यान बड़ी बड़ी बातों की ओर आकर्षित करती है। इसी के प्रताप से लोग अपने आप को सुरक्षित समझते हैं। तभी उनका ध्यान एकता के बड़े बड़े पहलुओं की ओर जाता हैं। राष्ट्रीयता इन्हीं एकताओं के लिये एक यौगिक शब्द है।

इतिहास

इतिहास को लोग मरे हुये आदमियों की कहानी बतलाते हैं। कुछ लोग इसे घटनाओं का चक्कर कहते हैं। लेकिन यह व्याख्या ग़लत और हानिकारक है। जो देश अपना इतिहास नहीं रखता वह असभ्य और जंगली है। यही एक ऐसा विषय है जो हमारे भूतकाल का सच्चा चित्र खींच कर हमारे सामने रखता है। इसी के सहारे हम अपना वर्तमान कार्यक्रम निश्चित करते हैं। हमारा भविष्य हमारे पिछले इतिहास पर निर्भर है। इतिहास की जड़ इतनी मज़बूत होती है और इसका सम्बन्ध अपने देश वासियों से इतना घनिष्ठ होता है कि न तो इसे कोई हिला और न तोड़ सकता है। प्रत्येक राष्ट्र का एक इतिहास होता है जिसमें उसके पूर्वजों की उज्वल कीर्ति स्वर्णाक्षरों में अंकित रहती है। इतिहास किसी जाति विशेष की

एकता का सही सही कारनामा है। हज़ारों आदमी भिन्न भिन्न देशों से आकर किसी मैदान में बस जायँ तो वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। न तो उनकी रहन सहन एक हो सकती है और न वे अपने आपको भाई भाई समझ सकते हैं। उनका इतिहास अलग अलग होने से वे एक दूसरे को विदेशी समझेंगे। इतिहास कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बरस दो बरस में बन जाता है। इसके लिये सदियों की आवश्यकता है। जब हज़ारों वर्ष तक किसी देश के निवासी एक साथ रहते हैं तब उनका एक इतिहास बनता है और फिर उनमें अनेक एकतायें पैदा होती हैं। अधिक काल तक एक साथ निवास करने से भाई चारे का बर्ताव होता है जिससे उनकी उन्नति अवनति एक दूसरे पर प्रकट होती है। किसी देश का इतिहास यह ज़ाहिर करता है कि उसमें आरम्भ से अब तक कितने महा-पुरुष पैदा हुये और किस सीमा तक उन्होंने देश को आगे बढ़ाया। वह यह भी बतलाता है कि देश पर कितनी विपत्तियाँ आईं और उनका क्या प्रतिकार किया गया। इस प्रकार हर देश का इतिहास सेवा और त्याग से ओत प्रोत रहता है। जिसमें इसकी कमी है वह एक ऊँचा राष्ट्र कहलाने का हक़दार नहीं है। इन कारनामों से न केवल भूतकाल की एकता का ज्ञान होता हैं बल्कि वर्तमान परिस्थिति को समझने में आसानी होती है। वह देश अपनी खोई हुई ताक़त को पुनः प्राप्त करने के लिये व्याकुल होता है। उसे फिर वहीं पहुँचने की अभिलाषा होती है जहाँ उसका देश अपने स्वर्ण युग में पहुँचा रहता है। यही अभिलाषा राष्ट्रीयता कहलाती है। भूतकाल का दिग्दर्शन वर्तमान में कैसे करें यह सबक हमें इतिहास से मिलता है। उत्थान की भावना राष्ट्रीयता का द्योतक है।

निश्चित देश

राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित स्थान की आवश्यकता है। यह किसी देश का नहीं बल्कि वहाँ के निवासियों का गुण है। इसलिये यह आवश्यक है कि कुछ लोग अधिक काल तक एक ही स्थान पर निवास करें। जंगली जातियाँ इधर से उधर घूमती रहती हैं। उनका न तो कोई घर है और न देश। परिणाम यह होता है कि वे काफी तादाद में रहते हुये भी एक राष्ट्र नहीं बना सकते। अधिक काल तक एक जगह रहने से उनका एक इतिहास होता है। रसम-रवाज, खान-पान, वेष-भूषा इन सब में एकता उत्पन्न होती है। एक की भलाई बुराई का प्रभाव

दूसरों पर पड़ता है। सबका कोई न कोई सम्बन्ध होता है। वहाँ का प्राकृतिक वायुमंडल सबको एक ढाँचे में ढाल देता है। सबके ऊपर एक ही संस्कार पड़ता है। इससे उनकी संस्कृति भी एक होती है। इन सब एकताओं से राष्ट्रीयता की उत्पत्ति होती है। कभी कभी तो एकता का भाव इस हद तक पहुँच जाता है कि देश की हस्ती भले ही मिट जाय लेकिन वहाँ के निवासियों की राष्ट्रीयता बनी रहती है। उनकी राजनैतिक एकता टुकड़े टुकड़े हो जाय, वहाँ के निवासी विदेशों में उठाकर फेंक दिये जायँ, उन्हें लोग हक़ीर और नाचीज़ समझने लगें, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं होती। यहूदी क़ौम इसका एक उदाहरण है। न तो इस क़ौम के पास अपना देश है और न इनका कोई राजनैतिक संगठन है, फिर भी इसकी राष्ट्रीयता ज़िन्दी है। इनके ऊपर काफ़ी तकलीफें आईं और यदि वे चाहते तो अपने को किसी दूसरी राष्ट्रीयता में बदल लिये होते लेकिन पिछला संस्कार इस क़दर मज़बूती से इन्हें पकड़े हुये है कि इनकी एकता अब तक नष्ट नहीं हुई। इस उदाहरण से तो यही नतीजा निकलता है कि राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित देश का होना कोई आवश्यक नहीं है। लेकिन यहूदियों का यह उदाहरण केवल अपवाद है। इसे हम कोई नियम नहीं मान सकते। एक निश्चित देश के बिना जैसे राज्य की उत्पत्ति नहीं होती उसी तरह राष्ट्रीयता भी इसके बिना पैदा नहीं हो सकती। एक निश्चित स्थान पर बहुत से लोगों में पहले सामाजिक संगठन उत्पन्न होता है फिर राजनैतिक एकता होती है, और तब उसमें राष्ट्रीयता का जन्म होता है।

सम्मिलित स्वार्थ

सम्मिलित स्वार्थ राष्ट्रीयता की उत्पत्ति में और विशेष कर इसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। किसी देश के अधिकतर लोग आपस में आर्थिक लाभ की दृष्टि से मिले जुले रहते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त उनके और भी स्वार्थ हो सकते हैं। ये लाभ उन्हें इतने अमूल्य और आवश्यक मालूम पड़ते हैं कि वे इन्हें बनाये रखने के लिये देश की बड़ी से बड़ी विरोधी शक्ति का मुक़ाबिला करने को तैयार रहते हैं। इसी सम्मिलित स्वार्थ के लिये देश के सारे व्यक्ति अपने आप को एक समझते हैं। इसी के लिये वे सरकार की आज्ञा का पालन करते हैं और हर प्रकार से शान्ति बनाये रखने में उसकी सहायता करते हैं। साधारण लोग अपने आपको एक सूत्र में इसलिये बाँधे रहते हैं कि उन्हें एक दूसरे से

लाभ पहुँचता है। इसमें कोई शक नहीं कि राष्ट्रीयता के अन्दर सम्मिलित स्वार्थ का एक बहुत बड़ा अंश होता है। देशभक्ति में अपनी भलाई छिपी होती है। जब समूचे देश का कल्याण होगा तो व्यक्ति भी उससे लाभ उठायेगा। देश की उन्नति के मानी हैं कि हर व्यक्ति उसमें उन्नतिशील है। देश की मर्यादा का श्रेय वहाँ के एक एक व्यक्ति पर निर्भर है। मनुष्य यह जानता है कि यदि राष्ट्र की शान्ति में बाधा पड़ेगी तो उसका घर सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १७०७ ई० में इङ्गलैण्ड और स्काटलैंड दोनों एक राष्ट्र बन गये। उनकी सरकार एक हो गई और वहाँ के निवासियों ने अपनी पिछली हरकतों को भुला दिया। इसका एक मात्र कारण यह था कि दोनों देशों का इसमें सम्मिलित स्वार्थ था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में यूरप के तमाम राष्ट्रों की यह ख्वाहिश थी कि जापान उनकी राष्ट्रीयता को अपना ले। वे ऐसा क्यों चाहते थे? इसीलिये कि उनका सम्मिलित स्वार्थ था। यूरप के विभिन्न देशों की राष्ट्रीयता आज ख़तरे में है। सम्मिलित स्वार्थ पर धक्का पहुँचने का काफ़ी अन्देशा है। इसी की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। राष्ट्र संघ (The League of Nations) इस सम्मिलित स्वार्थ की रक्षा का सतत प्रयत्न करता रहता है।

क्या राष्ट्रीयता धर्म है?

धर्म और राष्ट्रीयता दोनों दो चीज़ें हैं। एक का दूसरे से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं है। उन्नीसवीं सदी के पहले लोग राष्ट्रीयता पर उतना ज़ोर नहीं देते थे जितना धर्म पर। धर्म के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करने पर तैयार रहते थे। इसी की रक्षा के लिये वे विदेशियों के आक्रमण का मुक़ाबिला करते थे। इसके प्रचार के लिये बड़े समारोह के साथ विदेशों पर चढ़ाइयाँ की जाती थीं। मध्ययुग में योरप में धर्म के लिये कई सौ वर्षों तक घमासान युद्ध होते रहे। वहाँ के धर्म युद्ध (Crusade) संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शायद ही कोई देश ऐसा था जिसमें इसके लिये युद्ध न हुआ हो। ख़ुद इंगलैंड इसका शिकार हुये बिना न रह सका। मेरी ट्यूडर के समय में ४०० आदमी ज़िन्दे इसीलिये जला दिये गये कि वे एक ख़ास मज़हब को मानने के लिये तैयार न थे। लोगों को अपने धर्म की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे देश की अन्य बातों से उसे बड़ा समझते थे। इसके सामने राजनीति का महत्व कम था। राष्ट्रीयता का तो कोई नाम भी नहीं जानता था।

शिक्षा के प्रचार और विज्ञान की उन्नति से लोगों का विचार बदला। भौतिकवाद के कारण लोग धर्म से उदासीन होने लगे। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि जब तक धर्म का चक्कर उनका पीछा न छोड़ेगा तब तक उनका देश उन्नति नहीं कर सकता। इस लिये उन्नीसवीं सदी में धर्म एक गौण वस्तु रह गया। लोग इसे व्यक्तिगत विश्वास की चीज़ समझने लगे। धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने लिया। हर देश को एक मज़बूत राष्ट्र बनने की इच्छा हुई। बीसवीं सदी के आरम्भ तक लगभग सभी देश राष्ट्र बन गये और धर्म का दौरदौरा भारतवर्ष को छोड़कर लगभग सभी देशों से लोप हो गया। पहले लोगों का विश्वास था कि धार्मिक एकता देश की उन्नति के लिये अनिवार्य है, लेकिन बाद में उन्हें मालूम हुआ कि राष्ट्रीयता धर्म से अच्छी चीज़ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक ही चीज़ें हैं। धर्म एक विश्वास की चीज़ है, लेकिन राष्ट्रीयता एक भावना है। धर्म में ऊपरी आचार विचार की आवश्यकता होती है, किन्तु राष्ट्रीयता इन सबसे वंचित है। इतनी एकता ज़रूर है कि विभिन्न धर्मावलम्बी एक राष्ट्र के अन्तर्गत रह सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के पहले जहाँ धर्म के नाम पर एकता स्थापित की जाती थी वहाँ अब राष्ट्रीयता को स्थान दिया गया है। इसीलिये कहा जाता है कि राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। हमारे देश में धर्म के लिये हिन्दू और मुसलमान कभी कभी आपस में लड़ बैठते हैं। इसकी वजह यही है कि वे राष्ट्रीयता को नहीं समझते। दोनों जमातों के बुद्धिमान लोग इसे दिल से बुरा समझते हैं।

राष्ट्रीयता की कसौटी

यह सीधा सा सवाल है कि हम राष्ट्रीयता को कैसे पहचानें। कौन सी ऐसी विशेषता है जिससे हम यह कह सकें कि अमुक देश में राष्ट्रीयता है और अमुक में नहीं। ऊपर जिन अंगों का वर्णन किया गया है वे किसी भी राष्ट्र के लिये आवश्यक हैं। लेकिन यह भी देखा गया है कि उनकी अनुपस्थित में भी राष्ट्रीयता क़ायम रह सकती है। एकता राष्ट्रीयता की कसौटी है।* जिस देश के लोगों की एक राष्ट्र-भाषा है, जिनका एक इतिहास है, और जो एक ही राजनैतिक सूत्र में बँधे हुये हैं वे अपने देश को राष्ट्र कह सकते हैं। जहाँ एक एक पग पर एकता दिखलाई पड़े वहीं राष्ट्रीयता का निवास होता है। विषमता

---

* Solidarity is the essence of nationality.

और राष्ट्रीयता इन दोनों में शत्रुता है। जिस देश में अधिक से अधिक एकता की भावना है और जहाँ के लोग देश के लिये सब कुछ करने पर तैयार रहते हैं वहीं राष्ट्रीयता रह सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ किसी प्रकार की विषमता रहती ही नहीं। विषमता रहती है लेकिन लोगों का ध्यान उनकी ओर न जाकर एकता की ओर अधिक रहता है। स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता की दूसरी कसौटी है। ग़ुलाम देश राष्ट्र नहीं बन सकता। जब तक देश का प्रत्येक निवासी अपने अन्दर आज़ादी महसूस नहीं करता तब तक वहाँ राष्ट्रीयता नहीं आ सकती। जिस देश के निवासियों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे अपना शासन स्वयं करें, वे राष्ट्रीयता ऐसी बड़ी चीज़ को हासिल नहीं कर सकते। इसकी परीक्षा वैसे तो अकसर होती रहती है लेकिन सबसे बड़ी परीक्षा उस वक्त होती है जब देश पर कोई हमला होता है। जब उसका बच्चा बच्चा उसका मुक़ाबिला करने पर तैयार है तो वहाँ की राष्ट्रीयता सराहनीय समझी जाती है। राष्ट्रीयता की तीसरी कसौटी देशवासियों का त्याग और उनकी आन्तरिक सेवा की भावना है। जिस देश में अधिक से अधिक सेवक और त्यागी होते हैं वहाँ की राष्ट्रीयता दृढ़ होती है। राष्ट्रीयता और देशभक्ति दोनों एक ही अर्थ रखते हैं। देशभक्ति राष्ट्रीयता का बाह्य स्वरूप है। यह बात असम्भव है कि किसी देश में राष्ट्रीयता हो किन्तु वहाँ के लोगों में देश के प्रति प्रेम न हो।

राष्ट्रीयता का विनाश

जब कि राष्ट्रीयता एक भावना है तो इसका अन्त कभी न कभी हो सकता है। मनुष्य के विचार बदलते रहते हैं। इसी के साथ उसकी स्थापित संस्थायें भी बदलती हैं। थोड़े बहुत परिवर्तन से राष्ट्रीयता ढीली पड़ सकती है, लेकिन इसका सर्वनाश नहीं हो सकता। इसके नाश का मूल कारण आपस का अविश्वास होता है। जब किसी देश के लोगों में आपस में अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तो उनके अन्दर स्वार्थ की मात्रा बढ़ जाती है और लड़ाई झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। लोग एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं। छोटी छोटी बातों में मतभेद के बीज उत्पन्न हो जाते हैं। प्रान्तीयता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि केन्द्रीय शासन कमज़ोर और लोगों के दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं। उन्हें अपने ही काम से काम रहता है। उस देश में सेवकों और त्यागियों का अभाव हो जाता है। किसी भी सामाजिक

झगड़ों अथवा राजनैतिक उथल-पुथल के कारण उनके टुकड़े टुकड़े हो जाने की सम्भावना रहती है। देश में सरस जीवन की कमी हो जाती है। सार्वजनिक कामों की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। उनके अन्दर उदासीनता के भाव इतने बढ़ जाते हैं कि देशोन्नति के बड़े से बड़े काम की वे अवहेलना करते हैं। उन्हें अपनी संस्कृति आकर्षित नहीं करती। वे विदेशी रहन-सहन के शिकार हो जाते हैं। उनके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। राजनैतिक संगठन होते हुये भी वहाँ सामाजिक अराजकता रहती है। लोग न्याय अन्याय की परवाह न कर अपना ही स्वार्थ साधन करते हैं। सभी प्रकार के अधिकारों का दुरुपयोग होता है और लोग अपने कर्तव्यों को भूल जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की अव्यवस्था होगी वहाँ राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। बड़ा से बड़ा राष्ट्र पतन के गड्ढे में गिर जाता है। आपस की फूट राष्ट्रीयता को समूल नष्ट कर देती है। राजनैतिक शक्ति की कमज़ोरी के कारण भी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। शासन की बागडोर ढीली होते ही, सामाजिक बन्धन छिन्न भिन्न हो जाते हैं। और विषयों से हटकर लोगों का ध्यान देश रक्षा की ओर लग जाता है।

क्या भारतवर्ष एक राष्ट्र है ?

भारतवर्ष की आधुनिक परिस्थिति से यह साफ़ ज़ाहिर है कि यह देश राष्ट्र नहीं है। यह राष्ट्र कहलाने के क़ाबिल ज़रूर है लेकिन यहाँ राष्ट्रीयता का अभाव है। इसके कई वजूहात हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह देश ग़ुलाम है। जबकि दुनिया का छोटा से छोटा मुल्क आज आज़ाद है, और अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है; वहाँ हिन्दोस्तान की ४० करोड़ जनता ग़ुलामी की जंज़ीर में जकड़ी हुई है। यहाँ के निवासियों में आज उस शक्ति का अभाव दिखाई पड़ता है जिससे वे विदेशी राज्य को दूर कर स्वतन्त्र राज्य कर सकें। विदेशी राज्य से भयंकर विदेशीपन है जो हिन्दोस्तानियों पर चढ़ता जा रहा है। इस देश में काफ़ी तादाद ऐसे लोगों की है जो सभी प्रकार से विदेशी हैं। उन्हें यहाँ की रहन सहन से घृणा है। उनका अधिकतर समय या तो विदेशों में कटता है या अपने देश की टीका टिप्पणी में। यहाँ के रसम रवाज़ उन्हें बुरे लगने हैं।

यही कारण है कि वे हिन्दोस्तान में रहते हुये भी अपने को हिन्दोस्तानी कहने में हिचकते हैं। अपने देशवासियों के साथ मिलने

जुलने में उन्हें हिकारत महसूस होती है। जो देश इस प्रकार के ऊँच नीच भावों से भरा होगा वहाँ राष्ट्रीयता एक स्वप्न है। हिन्दोस्तान में कई जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई ये सभी अपने को एक दूसरे से अलग समझते हैं। ख़ुद हिन्दुओं में कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें हिन्दू अछूत समझते हैं। ये जातियाँ अज्ञानवश एक दूसरे को अपना भाई नहीं समझतीं। उन्हें यह ध्यान नहीं है कि जब तक सारे देश की उन्नति न होगी तब तक उनकी भी उन्नति नहीं हो सकती। जब तक इनके अन्दर भारतीय होने का गर्व न होगा तब तक आपस का मन मुटाव दूर नहीं हो सकता। कोई वजह नहीं है कि एक क़ौम दूसरे को छोटा समझे और उसे दबाने की कोशिश करे। हर मामला जाती नहीं होना चाहिये। ज़्यादातर बातें देश की भलाई के लिये होती हैं। ऐसे अवसरों पर हर एक का फ़र्ज़ है कि वह अपने को एक देश का वासिन्दा समझ कर मुल्क की बेहतरी सोचे। हिन्दोस्तान एक सोने की चिड़िया है। लेकिन यह बात तभी ठीक हो सकती है जब हर सम्प्रदाय का बच्चा बच्चा अपने को हिन्दोस्तानी कहे। बड़े शर्म की बात है कि हमें इतना भी ढंग आज तक नहीं आया कि आपस में मिल जुल कर कैसे रहना चाहिये। साम्प्रदायिक झगड़े मुल्क की राष्ट्रीयता को जहन्नुम में डाल देंगे। यदि हमें हिन्दोस्तान को राष्ट्र बनाना है तो सबको अपना भाई समझकर ऊँच नीच का भाव दूर करना होगा।

हिन्दोस्तान में अनेक भाषायें हैं, लेकिन अंग्रेज़ी को छोड़ कर कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसे हम अपनी राष्ट्रभाषा कह सकें। भाषा द्वारा हम अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। इसी से हमारे संस्कृति की रक्षा होती है। जब तक इस देश की एक राष्ट्र भाषा नहीं होगी तब तक प्रान्तीयता का भाव दूर नहीं हो सकता। आज कल इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है कि हिन्दी या हिन्दोस्तानी को राष्ट्र भाषा बनाया जाय। इस क्षेत्र में कार्य हो रहा है और आशा है चन्द वर्षों में इस देश की एक राष्ट्रभाषा हो जायगी। एक बात और भी विचारणीय है कि यह देश अपनी कोई राष्ट्रीय वेष भूषा नहीं रखता। हमारा खाना पीना तक विदेशी पन से ख़ाली नहीं है। पोशाक में न तो हम अंग्रेज हैं और न हिन्दोस्तानी। कभी हमारी पोशाक़ फ़ारसी होती है, कभी अंग्रेज़ी और कभी अमेरिकन। इस नक़ल को भी हमें दूर करना होगा। मैं यह मानता हूँ कि खाने पीने और पहनने में लोगों को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये,

फिर भी उन्हें एक ऐसी पोशाक ज़रूर अपनानी चाहिये जिसे ज़्यादा से ज़्यादा लोग हर समय पहन सकें। यूरप के लोगों में पोशाक की राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई है। कड़ी से कड़ी गर्मी में वे भारतीय सरलता की नकल नहीं करते हैं। वे भूलकर भी सामाजिक नियमों की अवहेलना करना बुरा समझते हैं। भारतीयों में इसकी कमी है। हमारा ध्यान पहले दूसरों की नक़ल पर जाता है, फिर अपनी ओर। कांग्रेस ने इस पर काफ़ी ज़ोर दिया है और खद्दर को राष्ट्रीय वस्त्र माना है। उसने अपने एक प्रस्ताव में यह स्पष्ट किया है कि जो हिन्दोस्तानी अपने को भारतीय राष्ट्र का सदस्य समझता है उसका यह फ़र्ज़ है कि वह खद्दर की पोशाक पहने। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खद्दर से हमारी राष्ट्रीयता बढ़ रही है। इससे हमारे करोड़ों भूखे और नंगे पड़ोसियों की ज़रूरतें पूरी होती हैं और घरेलू काम धन्धों की वृद्धि होती है।

हिन्दोस्तान में पेशे भी नीच और ऊँच समझे जाते हैं। जो मज़दूर है और मज़दूरी करके अपना गुज़र करता है वह एक आफ़िस में काम करने वाले बाबू से छोटा समझा जाता है। जो बाज़ार में जूते की दूकान करता है उसका दर्जा मिठाई बेंचने वाले से छोटा गिना जाता है। भंगी, जो समाज में सबसे बड़ा सेवक होने का दावा रखता है, भारतीयों के लिये अछूत है। उसे छूना लोग पाप समझते हैं। इसी तरह और भी बहुत से पेशे हैं जिन्हें लोग नीच कह कर पुकारते हैं। लेकिन अगर ग़ौर से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन पेशों के बग़ैर हमारा काम एक दिन भी नहीं चल सकता। अगर इन्हीं को हम छोटा समझते हैं तो यह हमारी बेवकूफ़ी है। यूरप के देशों में पेशे के कारण कोई व्यक्ति समाज में छोटा या बड़ा नहीं गिना जाता। सभी आज़ादी के साथ एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इससे समानता और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा होती है। जो काम हमारे लिये जरूरी हैं उन्हीं के करने वालों से हम प्रेम के बदले घृणा करें तो यह हमारी कमज़ोरी नहीं तो और क्या है। इसीलिये संसार के सबसे बड़े महापुरुष महात्मा गांधी अपना शौच और वस्त्र स्वयं साफ़ करते हैं। उनका कहना है कि जब तक हिन्दोस्तानियों में हर एक को अपना भाई कहने का अभिमान न होगा तब तक इस मुल्क का कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह की और भी सामाजिक कमज़ोरियाँ देश की उन्नति को रोके हुये हैं। इधर कुछ वर्षों से राष्ट्रीयता की लहर बड़े ज़ोरों से बह रही है। सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जा रहा है और

एकता तथा समानता के भाव लाये जा रहे हैं। इस देश की राष्ट्रीयता में आवागमन के साधन भी रुकावट डालते हैं। कितने ही ऐसे गाँव हैं जहाँ न तो कोई सड़क गई है और न पास में स्टेशन है। इससे वहाँ के लोग नये विचारों के सम्पर्क में नहीं आने पाते। सुधारकों को वहाँ पहुचने में कठिनाई होती है। धीरे धीरे यह कमी भी दूर हो रही है। कृषि-प्रधान देश होने से इस देश की राष्ट्रीयता यूरप से भिन्न होगी। खेती इस देश का राष्ट्रीय पेशा है। यदि इसे भूलकर केवल नौकरी के चक्कर में हम पड़े रहें तो हमारे आर्थिक और नैतिक विकास रुके रहेंगे। हमारी राष्ट्रीयता का आधार शोषण नहीं है। हमारी सभ्यता हमें इसके लिये रोकती है। वह हर दिशा में न्याय और नेकी का ही प्रचार करती है। इसीलिये हमारी राष्ट्रीयता योरप से भिन्न होगी। महात्मा गाँधी ने इस राष्ट्रीयता का आधार अहिंसा और सत्य बतलाया है। यदि लोगों ने इसे समझा और इन्हीं दोनों पर भारतीय राष्ट्र की दीवार खड़ी की गई तो इसमें कोई शक नहीं कि यह एक आदर्श राष्ट्र होगा। दुनिया के और राष्ट्र इसकी नक़ल करेंगे। किसी समय में यह देश सभ्यता की प्रयोग शाला रह चुका है।*

राष्ट्रीयता का भविष्य

ऊपर कहा गया है कि वर्तमान युग में राष्ट्रीयता एक धर्म है। जो अत्याचार धर्म के नाम पर किये जाते थे वे सब राष्ट्रीयता के हवाले कर दिये गये हैं। हर देश में यह हवा बह रही है कि वही दुनिया में सबसे बढ़-कर हों। उसी के पास सबसे बड़ी फ़ौज, सबसे ज्यादे जंगी जहाज़, और भयंकर से भयंकर हथियार हों। संसार के बडे बड़े राष्ट्र इसी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि राष्ट्रीयता का भविष्य क्या होगा। जब आसमान लाल होता है और हवा बन्द हो जाती है तो यह अन्दाज़ लगाया जाता है कि आँधी आयेगी। और यह अनुमान बहुत कुछ ठीक निकलता है। इसी तरह दुनिया की हरकत को देखते हुये हम अन्दाज़ कर सकते हैं कि इन राष्ट्रों का भविष्य कैसा है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि मौजूदा राष्ट्रीयता एक भयंकर बीमारी है। हर राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति बढ़ा रहा है। वर्तमान विश्व-व्यापी युद्ध इसी का परिणाम है। इसी लड़ाई के साथ राष्ट्रीयता का भी वारा न्यारा होगा। वह इस रूप में ज़िन्दी नहीं रह सकती। उसने

* India is a university of culture.

अपने देश वासियों को साम्राज्य-पिपासा से पागल बना दिया है। सभ्यता के नाम पर वह ज़िन्दी है, वरन् कभी का उसका अन्त हो गया होता। मौजूदा राष्ट्रीयता अर्थ लोलुपता की खानि है। वह किसी प्रकार से शक्ति का संचय करना चाहती है। और वह शक्ति कोई आध्यात्मिक वा मानसिक नहीं बल्कि पैशाचिक है। उसका दारोमदार तलवार और तोप पर है। फिर हम क्यों न कहें कि आधुनिक युग की राष्ट्रीयता राक्षस से भी भयंकर है। यदि हम अपने देश में इसीलिये एकता चाहते हैं कि औरों को दबाया जाय ; यदि हमारी शक्ति संचय का मक़सद दूसरों को ग़ुलाम बनाना है ; यदि हमें अच्छी से अच्छी सभ्यता को दबा कर अपनी पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रचार करना है; तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि मौजूदा राष्ट्रीयता का विनाश होगा और इसकी जगह एकता और सहयोग का कोई दूसरा साधन होगा। बहुत मुमकिन है, इसका रूप बदलकर इसे प्रेम और शान्ति का जामा पहना दिया जाय।

राष्ट्रीयता की वर्तमान प्रगति को देखते हुये राजनीतिज्ञों का कहना है कि इसके बदले कोई दूसरी चीज़ लानी चाहिये। इसीलिये बीसवीं सदी में अन्तर्राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ है। इसका मक़सद यह है कि लोगों में विश्व-बन्धुत्व का भाव पैदा हो। वे अपने देश की उन्नति वहीं तक चाहें जहाँ तक दूसरे देश की उन्नति में बाधा न पड़े। सम्पूर्ण समाज एक इकाई है इसलिये दुनिया को टुकड़े टुकड़े करके और फिर उनके आपस में टकराने से काम नहीं चल सकता। जैसे बड़े से बड़े राष्ट्र के अन्दर प्रान्तीयता की भावना हानिकर होती है उसी तरह वर्तमान राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति में बाधक है। इसलिये राष्ट्रीयता का भविष्य अन्धकारमय है। बहुत सम्भव है इसका स्थान अन्तर्राष्ट्रीयता को प्राप्त हो। विश्व संघ का स्वप्न बड़े बड़े राजनीतिज्ञ अभी से देख रहे हैं।* राष्ट्र संघ (The League of Nations) की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गई है। संसार के प्रमुख राष्ट्र अभी राष्ट्रीयता के नशे में चूर हैं और उन्हें इसके सिद्धान्त मान्य नहीं हैं, लेकिन अन्त में वे पश्चाताप करेंगे और इसी प्रकार की कोई चीज़ बनाकर शान्ति और कल्याण का अनुभव करेंगे। जब तक हर देश अपनी अपनी खँजड़ी बजाता रहेगा और वह अपने सरीखे दूसरे देशों की उन्नति

---

* World Federation—H. G. Wells.
One World—Wilki.

पसन्द नहीं करेगा तब तक न तो संसार में शान्ति होगी और न कोई सभ्यता जीवित रहेगी। हमें स्वदेशी और विदेशी का भाव धीरे धीरे मिटाना चाहिये। हर इन्सान, चाहे वह दुनिया के उत्तर में रहता है या दक्खिन में, भाई भाई है। एक के सुख दुख का असर दूसरे पर अनिवार्य रूप से पड़ेगा। मौजूदा राष्ट्रीयता इन गुणों से वंचित है। इसीलिये यह स्थायी नहीं रह सकती। कुछ समय व्यतीत होने पर मानव-समाज को यह अनुभव होगा कि शान्ति का बीज विश्व कल्याण में है। प्रत्येक देश शरीर के अंग के मानिन्द है जिसकी पीड़ा पूरे शरीर को कष्ट देती है।

अध्याय १६

राज्य के अन्तिम उद्देश्य

राज्य का अन्त—दो मार्ग—एक भ्रम—

(क) व्यक्तिवाद :—तात्पर्य—व्यक्तिवाद और १६ वीं सदी—बेन्थम—मिल—स्पेन्सर—अदम स्मिथ—व्यक्तिवाद का आधार—व्यक्तिवाद की कमज़ोरियाँ व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्रवाद—वर्तमान रूप।

(ख) समाजवाद :—विषय प्रवेश—परिभाषा—समाजवाद का इतिहास—वैज्ञानिक समाजवाद इतिहास का आर्थिक पहलू—वर्गवाद—शारीरिक परिश्रम का मूल्य—समाजवाद के गुण और दोष—हिन्दोस्तान और समाजवाद।

राज्य का अन्त

अब तक राज्य की आवश्यकता और इसके संगठन का वर्णन किया गया है। अब देखना चाहिये कि इसका अन्तिम उद्देश्य क्या है। हम राजकीय नियमों का पालन क्यों करते हैं ? जैसे मनुष्य के हर काम का कोई उद्देश्य होता है उसी तरह राज्य भी बिना किसी निश्चित उद्देश्य के नहीं टिक सकता। हर संगठन, हर जमात, और हर व्यक्ति कोई लक्ष्य सामने रख कर आगे क़दम बढ़ाता है। किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि उसका अन्तिम उद्देश्य क्या है तो वह यही कहेगा कि 'सुख'। यह पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना नहीं मिल सकता। व्यक्ति का सतत परिश्रम इसीलिये जारी है कि वह पूरी आज़ादी के साथ जीवन व्यतीत करे। न तो उसकी जीवन यात्रा में कोई रुकावट पड़े और न किसी वस्तु की उसे कमी हो। यही उद्देश्य राज्य का भी है। कारण यह है कि वह व्यक्ति से कोई अलग वस्तु नहीं है। उसके मस्तिष्क का बाह्यरूप राज्य कहलाता है। राज्य व्यक्ति की ही रचना है। मनुष्य किसी ऐसी चीज़ का निर्माण नहीं कर सकता जिसका उद्देश्य उसके उद्देश्य से भिन्न हो। ऐसा करना उसके स्वभाव के विरुद्ध है। वह सब कार्य आत्मसुख और सन्तोष के लिये करता है। स्वतन्त्रता में उसे निश्चिन्त जीवन की आभा दिखाई पड़ती है। राज्य की उत्पत्ति इसी की पूर्ति का एक साधन है। प्रश्न यह है कि क्या

पूर्ण स्वतन्त्रता के बाद राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायगी ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उसका रहना और न रहना दोनों बराबर होगा। वह पूर्ण स्वतन्त्रता कभी आयेगी या नहीं यह कोई नहीं कह सकता। समाज का कोई नियम स्थिर नहीं है। किस समय यह समाज कौन सा रुख़ धारण करेगा यह कोई नहीं जानता। आज ही कोई छोटी सी घटना ऐसी हो सकती है जो हमारे लिये बिलकुल नाचीज़ है, लेकिन आज से ५० वर्ष बाद उसका प्रभाव समाज पर इतना गहरा पड़ सकता है कि उससे दुनिया की काया पलट सकती है। जिस समय १२ मील फ़ी घंटा चलने वाले एक छोटे से इंजन ईजाद हुआ उस समय किसी को ख़याल भी न था कि आगे चलकर यही विश्व के इतिहास में क्रान्ति पैदा करेगा। लेकिन हम साफ़ देखते हैं कि मशीनों के समय से इतिहास में एक नया ज़माना शुरू होता हैं। कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि पूर्ण स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये मृगतृष्णा है। वह कभी हासिल होने वाली चीज़ नहीं है। परन्तु कुछ लोग इसकी आशा करते हैं।

दो मार्ग

यह बात सर्व-सम्मति से निश्चित है कि पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। अर्थात् जिस दिन व्यक्ति स्वतन्त्रता पूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करने लगेगा उस समय राज्य की अन्तिम क्रिया पूरी हो जायगी। यह समय कब आयेगा इसे कोई नहीं जानता। इतना ज़रूर है कि मनुष्य उसी दिशा में बढ़ता चला जारहा है। किसी भी लक्ष्य पर पहुँचने के लिये कई मार्ग हो सकते हैं। व्यक्ति को स्वतन्त्रता तक पहुँचाने में मालूम नहीं कितने रास्ते निकाले गये और भविष्य में कितने निकाले जायँगे। मानव शास्त्र का जितनी गहराई के साथ अध्ययन किया जा रहा है उतने ही नये रास्ते निकलते जा रहे हैं। अब तक जितने मार्ग निकाले गये हैं उन सब में दो उल्लेखनीय हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि बाकी मार्ग इन्हीं से मिलते जुलते हैं। इन्हीं को दो सिद्धान्त कहा गया है। मार्ग और सिद्धान्त में यहाँ अन्तर इसलिये नहीं है कि हम एक ही बात को दो प्रकार से पूछ सकते हैं। एक तो यह कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये किन किन रास्तों से जाना होगा ? इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि एक मार्ग व्यक्तिवादियों का (Individualistic) है और दूसरा समाजवादियों का (Socialistic)। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पूर्ण स्वतन्त्रता के मुख्य सिद्धान्त कौन कौन से हैं ? इसका भी उत्तर यही

होगा कि व्यक्तिवाद और समाजवाद (Individualism and Socialism) । इन्हें समझने के लिये कुछ विस्तृत वर्णन करना चाहिये।

एक भ्रम

कुछ लोग यह समझते हैं कि व्यक्तिवाद (Individualism) और समाजवाद (Socialism) एक दूसरे के विरोधी सिद्धान्त हैं। एक समाज को पूरब की ओर ले जाता है और दूसरा पच्छिम को। एक दाहिने खींचता है और दूसरा बायें। इसीलिये वे उन्हें दाहिना और बायाँ पक्ष कह कर सूचित करते हैं। इतना ही नहीं, अकसर इन्हें एक दूसरे का विरोधी समझ कर गरमा गरम बहस छिड़ जाती है। लेकिन यह एक निरा भ्रम है। दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों का उद्देश्य एक है। दोनों व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने के साधन हैं। दोनों का लक्ष्य उसे अधिक से अधिक सुखी और प्रसन्न रखना है। मेरा तो विचार है कि ये दोनों मिलकर एक पूर्ण सिद्धान्त बनाते हैं। एक के बिना दूसरा नग्न है। अपने अपने क्षेत्र में भी दोनों पूर्ण हैं। इसलिये समाजवाद और व्यक्ति वाद में विरोध का कोई प्रश्न नहीं उठता। इन दोनों सिद्धान्तों में अन्तर है, लेकिन उद्देश्य का नहीं। अन्त दोनों का एक है। फ़रक़ केवल रास्ते का है। जैसे किसी हिन्दोस्तान के रहने वाले को लंदन जाना है तो वह कलकत्ते से जहाज़ से अथवा करांची तक रेल से जाकर फिर उधर से भी जहाज़ द्वारा जा सकता है। किसी भी तरह उसे लंदन पहुचना है। इसी तरह दोनों सिद्धान्तों का उद्देश्य व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी करना है। अन्तर इतना ही है कि व्यक्तिवाद किसी और तरह से इस स्वतन्त्रता को दिलाना चाहता है और समाजवाद किसी दूसरे तरीक़े से। इसमें कौन अच्छा है और कौन बुरा यह कहना कठिन है। कारण यह है कि दोनों के अच्छे बुरे होने की पहचान कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इसके अतिरिक्त दोनों समाज की दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। यह हो सकता है कि किसी देश में समाजवाद सफल हो, वहाँ का समाज उसके अनुकूल और परिस्थिति उपयुक्त हो। यह भी सम्भव है कि वह फ़ेल कर जाये और उसके स्थान पर व्यक्तिवाद सफल हो। इसलिये अच्छे और बुरे का कोई प्रश्न नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले दोनों सिद्धान्तों को अलग अलग समझें। इससे हमें उनके विभिन्न वातावरण की आवश्यकता का ज्ञान होगा। इसके बाद

हम दोनों की कमज़ोरियों का अध्ययन करें। तभी हम यह निश्चित कर सकते हैं कि कौन सा सिद्धान्त अधिक सुलझा हुआ अथवा सुलभ है।

(क)

व्यक्तिवाद

(Individualism)

तात्पर्य जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, व्यक्तिवाद इस बात का समर्थन करता है कि राज्य के सारे संगठनों का आधार व्यक्ति है। उसी पर मानव-समाज की नीव पड़ी है। जैसे व्यक्ति में व्यक्तित्व सर्व प्रधान होता है उसी तरह राज्य में व्यक्ति प्रधान है। उसी की भलाई और उन्नति के लिये सामाजिक अथवा राजनैतिक विधान बनाया गया है। व्यक्ति एक केन्द्र है और बाक़ी चीजें उसके चारों ओर घूम रही हैं। उससे अलग किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। उसी से सबको शक्ति पहुँचती है। वही सबका जन्मदाता है। उसी की करामात से विश्व में परिवर्तन होते हैं। इस सिद्धान्त से पता चलता है कि सरकार का एक मात्र कर्त्तव्य व्यक्ति की रक्षा और उन्नति करना है। यह बात ग़लत है कि राज्य और समाज की उन्नति हो परन्तु व्यक्ति एक स्थिति में पड़ा रहे। वस्तु की उन्नति अवनति उसके हाथ की चीज़ है। चीज़ों को वही बनाता और बिगाड़ता है। उसी की बुद्धि का फल है कि मनुष्य बन्दर से उन्नति करते करते वर्तमान सभ्यता को प्राप्त हुआ है। झोपड़ियों को महलों में उसी ने तबदील किया है। उसी की अनोखी बुद्धि ने पाताल से लोहे को निकाल कर मशीनों का रूप दिया है। व्यक्ति से अलग संसार निरर्थक है। जैसे प्राण रहित शरीर मिट्टी है, उसी तरह व्यक्ति से अलग समाज एक निराकार भ्रम है। इस सिद्धान्त के अन्दर इस बात का वर्णन किया गया है कि व्यक्ति और सरकार में क्या सम्बन्ध हो, सरकार कहाँ तक व्यक्ति के कामों में हाथ डाले, किस हद तक व्यक्ति क़ानूनों का दास है, और फ़ौज, पुलीस आदि का संगठन क्योंकर जायज़ ठहराया जाय। मोटे तौर से हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद के अन्दर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का वर्णन किया जाता है। इसी 'बाद' के अन्तर्गत स्वतन्त्रता को दर्शन शास्त्र का रूप दिया गया है। इसकी कसौटी पर किसी राज्य का अध्ययन करके बतला सकते हैं कि इसमें नागरिक को

किस हद तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। व्यक्तिवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो राज्य की परख व्यक्ति से करता है।

व्यक्तिवाद और १६वीं सदी

व्तक्तिवाद की भावना बहुत ही प्राचीन है। जबसे मनुष्य ने समाज बनाना आरम्भ किया उस समय से अब तक वह व्यक्ति की सत्ता में विश्वास करता है। इक़रार सिद्धान्त के मानने वालों ने उसी के आधार पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया है। हाब्स, लाक और रूसो तीनों व्यक्तिवादी थे। हाब्स का व्यक्तिवाद निकम्मा और शक्ति हीन है। वह सारी शक्ति राजसत्ता में ही निर्धारित कर देता है। प्रजा को बोलने तक का अधिकार नहीं देता। उसके अनुसार राजा प्रजा से मनमाना टैक्स वसूल कर सकता है। उसके बनाये हुये कानूनों में प्रजा को टीका टिप्पणी करने का अधिकार नहीं है। राजा अपने कर्त्तव्य का पालन भले ही न करे, परन्तु प्रजा को उसकी आज्ञा माननी होगी। वह व्यक्ति की सत्ता को तो स्वीकार करता है, लेकिन उसके अधिकार को छीनकर उसे शक्तिहीन बना देता है। यदि उसे व्यक्तिवाद का विरोधी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि उसके राज्य में न तो व्यक्ति को कोई अधिकार है और न अन्त में उसका अस्तित्व ही रह जाता है। वह व्यक्तिवादी इसी अर्थ में है कि प्रत्येक व्यक्ति की सलाह से राज्य की स्थापना कराता है। लाक का व्यक्तिवाद हाब्स से अच्छा है। उसके अनुसार व्यक्ति को किसी हद तक स्वतन्त्रता प्राप्त है। रूसो, जो कि व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है, हाब्स का दूसरा भाई है। कहने को तो वह व्यक्तियों को सभी प्रकार की स्वतन्त्रता देता है, लेकिन अपने इक़रार सिद्धान्त में उन्हें इस क़दर बाँध देता है कि वे साधारण अधिकारों से भी वंचित हो जाते हैं। प्रसंगवश इन दार्शनिकों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ कर दिया गया है, वरन् राज्य की उत्पत्ति नामक अध्याय में इनका वर्णन हो चुका है।

भावना और आन्दोलन दोनों में सदियों का अन्तर होता है। सम्भव है कोई भावना आज समाज में हो और उसे कोई जानता न हो। थोड़े से लोग, उस पर विचार कर रहे हों। सौ पचास वर्ष बाद वही भावना संगठित रूप धारण कर सकती है। उसी को लोग आन्दोलन कहते हैं। आज जितने भी धार्मिक, राजनैतिक, या सामाजिक आन्दोलन चल रहे हैं उनकी बुनियाद मालूम नहीं कितने सौ वर्ष पहिले पड़ी होगी। हमें यहाँ

किसी आन्दोलन का इतिहास नहीं लिखना है। केवल इतना कहना है कि व्यक्तिवाद की भावना काफ़ी पुरानी है, लेकिन इसका आन्दोलन १६ वीं सदी में आरम्भ हुआ। किसी सिद्धान्त की तिथि उसकी भावना से नहीं जोड़ी जाती। उसका जन्म उस समय से माना जाता है जब उस पर कोई वैज्ञानिक ढंग से अपना विचार प्रकट करे। यह भी सम्भव है कुछ लोग उस पर अमल करें और उसी को लेकर कोई आन्दोलन चल पड़े। व्यक्तिवाद की भावना सैकड़ों वर्ष से इक्के दुक्के दिमाग़ में अपना काम कर रही थी। उन्नीसवीं सदी में बेन्थम, मिल और स्पेन्सर (Bentham, Mill and Spencer) ने इस पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया। तब से यह भावना सिद्धान्त के रूप में परिणत है। काफ़ी लोग इस पर अमल करते हैं। इस छोटे से अध्याय में इन सब का वर्णन करना असम्भव है। लेकिन व्यक्तिवाद को समझने के लिये इनका संक्षिप्त वर्णन नितान्त आवश्यक है।

बेन्थम
Bentham

बेन्थम का कहना है कि सरकार जो कुछ करती है उसकी अच्छाई और बुराई की पहचान यही है कि उससे बहुसंख्यक प्राणियों को लाभ पहुँचता है या नहीं। यदि राज्य में अधिक से अधिक व्यक्ति सुखी, स्वतन्त्र और सन्तुष्ट हैं तो वहाँ की सरकार अच्छी है, यदि नहीं तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह साफ़ कहता है कि प्रत्येक संगठन का उद्देश्य व्यक्ति को सुख पहुचाना है। जो राज्य इसे पूरा नहीं करता उसे जीवित रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। बेन्थम को हम सच्चे व्यक्तिवादियों की कोटि में नहीं गिन सकते। उसका सिद्धान्त व्यक्तिवाद का समर्थन और खंडन दोनों करता है। राज्य के अधिक से अधिक व्यक्तियों के सुख की चिन्ता तो वह करता है, लेकिन सब के सुख की उसे परवाह नहीं है। राज्य की पहचान बहुसंख्यक सुख से नहीं करनी चाहिये। यदि थोड़े भी व्यक्ति दुखी हैं तब भी हम उसे दोषी ठहरा सकते हैं। बेन्थम इसकी परवाह नहीं करता। वह अधिक से अधिक लोगों को ज़्यादा से ज़्यादा सुख देना तो चाहता है लेकिन बाकी लोगों का कोई ज़िक्र नहीं करता।* सच्चा व्यक्तिवादी वही है जो सब के सुख का विधान

* Greatest happiness of the greatest number.

बनाये। बेन्थम इस बात को मानता है कि समाज व्यक्तियों का समूह है, व्यक्ति से अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है।

वास्तव में व्यक्तिवाद का आरम्भ मिल से होता है। उसकी 'स्वतन्त्रता" (Liberty) नामक पुस्तक मनुष्य के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ करती है। वह लिखता है, "मनुष्य अपने मन, शरीर, तथा अपनी सभी चीज़ों पर पूरा अधिकार रखता है।'* वह यह भी लिखता है कि किसी हद तक उसकी आज़ादी में सरकार दख़ल दे सकती है। व्यक्तिवाद के अनुसार सरकार के मुख्य ६ कर्तव्य हैं :—

मिल
J. S. Mill

१—बाहरी हमले से देश की रक्षा करना।

२ यदि व्यक्तियों में लड़ाई झगड़े हों तो उसे शान्त करना।

३—चोरी और डाकों से व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना।

४—इस बात की देख रेख रखना कि व्यक्ति आपस में इकरार को कायम रक्खें।

५—दुर्बलों की रक्षा करना।

६—व्यक्ति को ऐसी विपत्तियों से बचाना जिनका रोकना सम्भव है अर्थात् हैज़ा, प्लेग इत्यादि।

मिल का कहना है कि व्यक्ति को अपनी रक्षा का पूर्ण अधिकार है। इसी के निमित्त उसने समाज की रचना की है। इसी की रक्षा के लिये वह सामाजिक तथा राजनैतिक बन्धनों का दास है। इतना उसे ज़रूर ध्यान रखना चाहिये कि दूसरों के अधिकारों की अवहेलना न हो। वह इस बात के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता कि अमुक काम को करे। इसके लिये यह कहना काफ़ी न होगा कि वह काम उसकी भलाई के लिये है। दूसरों के तर्क में वह बाँधा नहीं जा सकता। नम्रतापूर्वक समझा बुझाकर किसी काम को करने के लिये वह तैयार किया जा सकता है। किसी शक्ति को यह अधिकार हरगिज़ नहीं मिलना चाहिये कि वह ऊँट की नकेल की तरह व्यक्ति को ज़बरदस्ती किसी मार्ग पर खींचे। इससे अच्छे से अच्छे मार्ग व्यक्ति के लिये दुखदायी होंगे। सुखी मार्ग वही है जिसका स्वतन्त्रता पूर्वक अनुसरण किया जाय। मिल ने व्यक्ति के कार्यों

---

* Over himself, over his own body and mind the individual is sovereign.

को दो भागों में विभाजित किया है। पहले प्रकार के काम वे हैं जिनका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से है। दूसरों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार के कार्यों को करने के लिये वह पूर्ण स्वतंत्र है। दूसरों को इनमें दख़ल देने का अधिकार नहीं है। इन्हें व्यक्तिगत कार्य कहते हैं। दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जो व्यक्ति के अतिरिक्त औरों से भी सम्बन्ध रखते हैं। उनका प्रभाव न केवल उस व्यक्ति पर बल्कि औरों पर भी पड़ता है। ऐसे कार्यों के लिये उसे पूरी आज़ादी नहीं है। उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि अपने स्वार्थ के लिये वह औरों के अधिकार में बाधक न हो। इन कार्यों को सामाजिक कार्य कहते हैं। मिल लिखता है, "स्वतंत्रता वह है जिस पर चल कर हम अपनी इच्छानुसार अपनी भलाई करते हुये औरों के अधिकार में बाधक न हों अथवा उनके अधिकारों पर हावी न हो जायँ। मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा का संरक्षक है। वह दूसरों के बतलाये हुये मार्गों की अपेक्षा अपने बनाये हुये रास्तों पर चलकर अधिक प्रसन्न रहता है।"*

विचारों की स्वतंत्रता के लिये मिल इस बात की ताईद करता है कि हर इन्सान अपनी राय क़ायम करने में स्वतन्त्र है। वह यह भी लिखता है कि वह आज़ादी के साथ अपनी राय को ज़ाहिर भी कर सकता है। केवल एक बात का उसे ध्यान रखना चाहिये कि इससे वह किसी ख़तरे में न पड़े। वह इस बात पर ज़ोर देता है कि विचारने और काम करने में जब तक व्यक्ति को आज़ादी न होगी तब तक न वह किसी नई चीज़ की खोज और न अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मिल के व्यक्तिवादी होने में किसी को शक नहीं है पर उसे आदर्श व्यक्तिवादी

---

* The only freedom which deserves the name is that of pursuing our own good in our own way, so long as we do not attempt to deprive others of theirs, or impede their efforts to obtain it. Each is the proper guardian of his own health, whether bodily or mental and spiritual. Mankind are greater gainers by suffering each other to live as seems good to themselves, than by compelling each to live as seems good to the rest.

नहीं कहा जा सकता। वह लिखता है कि उसके नियम सभी व्यक्तियों पर लागू नहीं होते। लड़के और असभ्य स्वतंत्रता की कोटि से बाहर हैं। मिल की आज़ादी केवल उन्हीं के लिये है जिनकी दिमाग़ी ताकत काफ़ी ऊँची हो चुकी है अर्थात् जो बालिग़ हैं। लेकिन वह इस बात का ज़िक्र नहीं करता कि किस आयु में बच्चे बालिग़ होते हैं। वह लिखता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता में सरकार को इसलिये बाधा नहीं डालनी चाहिये कि कुछ कामों को वह सरकारी अफ़सरों से अच्छी तरह कर सकता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि वे उसकी अपेक्षा अधिक कुशल होते हैं तब भी स्वनिर्मित मार्ग जितना सन्तोष प्रदान करता है उतना दूसरा नहीं। नैतिक दृष्टि से भी यह बात उचित है कि जिन कामों को व्यक्ति कर सकता है उनमें सरकार को हाथ नहीं डालना चाहिये। मिल का कहना है कि सरकार एक आवश्यक बुराई है।* इसकी आवश्यकता केवल उन्हीं कामों के लिये है जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है।

स्पेन्सर
Herbert Spencer

मिल के बाद दूसरा व्यक्तिवादी स्पेन्सर है। वह लिखता है कि प्रकृति का यह नियम है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस, अर्थात् संसार में उन्हीं व्यक्तियों को रहने का अधिकार है जो वीर और साहसी हैं। हिन्दू शास्त्रों में भी कहा गया है कि "वीर भोग्या वसुन्धरा"। कमज़ोर दुखी और अपाहिज़ों के लिये संसार में कोई स्थान नहीं है। सभी जीवों में यह बात पाई जाती है कि कमज़ोर बलवानों का भोजन है। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। पेड़ से गिर जाने वाला बन्दर अपने समूह से निकाल दिया जाता है। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। उसके ऊपर भी यह नियम लागू होता है। वह इसका उलंघन नहीं कर सकता। समाज दुर्बलों के लिये नहीं है। स्पेन्सर इस बात से सहमत है कि सरकार का व्यक्ति के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। चन्द बातों को छोड़ कर, मसलन सेना, पुलीस और इन्साफ़, वह उसके मामले में दख़ल नहीं दे सकती। स्पेन्सर व्यक्तिवाद की उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ दया, धर्म और सहायता की कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती। वह लिखता है कि सरकार को दान देने, ग़रीबों की रक्षा करने, धर्म शालायें आदि बनवाने तथा इसी तरह का कोई काम करने

---

* State is a necessary evil.

का अधिकार नहीं है। यदि वह ऐसा करती है तो न केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता बल्कि प्राकृतिक नियम का उलंघन करती है। व्यक्ति के अन्दर इन कार्यों के करने की शक्ति है। उसे यह अवसर मिलना चाहिये कि वह इसे कार्यान्वित करे।

स्पेन्सर के इस कथन से हम सहमत नहीं हैं। यह ठीक है कि उसका व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। उसे पूरी आज़ादी है कि वह जिसे चाहे लूट ले और मार डाले। यदि समाज में इस आज़ादी का एलान कर दिया जाय तो मज़बूत से मज़बूत सरकार क़ायम नहीं रह सकती। समाज का सङ्गठन केवल शारीरिक शक्ति के भरोसे कायम नहीं है। हमें आश्चर्य है कि दर्शन शास्त्र का इतना बड़ा विद्वान होते हुये स्पेन्सर और शक्तियों को भूल जाता है। दूसरी कमी जो हमें उसके व्यक्तिवाद में दिखाई पड़ती है वह उसकी मानसिक क्रूरता है। कोई भी व्यक्ति जो अपने को इन्सान कहने का दावा करता है, इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि दान देना अथवा दीन-दुखियों की सहायता करना गुनाह है। स्पेन्सर को यह बात मालूम नहीं है कि सामाजिक प्राणियों में मनुष्य का स्थान सब से ऊँचा है।* प्रकृति का जङ्गली नियम सामाजिक व्यवस्था में लागू नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि स्पेन्सर पक्का व्यक्तिवादी है। उसने साफ़ शब्दों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एलान कर सरकार को उठा कर एक छोटे से दायरे में रख दिया है।

अदम स्मिथ
Adam Smith

ऊपर कहा गया है कि बेन्थम, मिल और स्पेन्सर इन तीनों ने वैज्ञानिक ढंग से व्यक्तिवाद पर विचार किया है। थोड़े से शब्दों में इनका विचार पाठक-गण के सामने रख दिया गया है। हमारा अनुमान है कि इन विद्वानों ने व्यक्तिवाद पर जो प्रकाश डाला है वह इसे समझने के लिये काफ़ी है। फिर भी एक और प्रसिद्ध व्यक्तिवादी का विचार उद्धृत करना कोई अनुचित न होगा। वह है अदम स्मिथ (Adam Smith)। उसके विचारों का प्रभाव विद्वानों पर गहरा पड़ा है। वह लिखता है कि व्यक्ति अपने लाभ को अच्छी तरह समझता है। उसकी बुद्धि इतनी तीव्र है कि वह भले बुरे में अन्तर कर सकता है। उस

---

* बड़े भाग्य मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ निगमागम गावा॥

पर चलना अथवा आँख चुराना उसकी इच्छा पर है। तुलसीदास जी भी इस मत से सहमत हैं।* ऐसी दशा में उसे पूरी आज़ादी मिलनी चाहिये कि वह अपने लाभ के लिये जो चाहे करे। इसका परिणाम न केवल व्यक्ति के लिये बल्कि समाज-हित की दृष्टि से अच्छा होगा। यदि वह सचमुच अपने लाभ की चिन्ता करे और ईमानदारी के साथ अपने बनाये हुये मार्ग पर चले तो उसका अहित नहीं हो सकता। आर्थिक-क्षेत्र में यह नियम और भी अच्छी तरह लागू होता है। यदि सब लोग बिना किसी रुकावट के तिजारत करें तो जिनकी बुद्धि अच्छी होगी वे अधिक धन पैदा करेंगे। साथ ही किसी को यह कहने का मौका न मिलेगा कि दूसरा उससे बाज़ी क्यों मार ले जाता है। कारण यह है कि इस आज़ादी के संग्राम में सभी अपनी बुद्धि का प्रयोग करेंगे। इससे न केवल उसी को सुख पहुँचेगा, बल्कि उसके परिश्रम से औरों को भी लाभ होगा। स्मिथ लिखता है कि व्यापार के ऊपर किसी तरह का टैक्स लगाना व्यक्ति की आज़ादी को छीनना है। व्यापार में अपनी इच्छानुसार धन लगाकर लाभ उठाने की उसे पूरी स्वतन्त्रता है। मज़दूरों को चाहिये कि जहाँ अधिक से अधिक मज़दूरी मिले वहाँ काम करें। जिस राज्य में इतनी आज़ादी के साथ मुकाबिला होगा वहाँ उत्पत्ति की वृद्धि के कारण चीज़ें सस्ती होंगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढ़ेगा। वस्तुओं का मूल्य निर्धारण, मज़दूरी की दर, व्यापारिक टैक्स—इन कार्यों को जब सरकार स्वयं करती है तो इससे दोहरी हानियाँ होती हैं। एक तो व्यापार में रुकावट पड़ती है दूसरे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। सरकारी प्रतिबन्ध उसके स्वाभाविक विकास में बाधक होते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मिथ का यह सिद्धान्त निहायत साफ़ और सुलझा हुआ है। यही कारण है कि १८ वीं शताब्दी के अन्त में दुनिया के लगभग सभी देशों ने इसे स्वीकार किया था। लेकिन अधिकतर इसी परिणाम पर पहुँचे कि इसमें भी वह कमजोरी मौजूद है जो स्पेन्सर के सिद्धान्त में है। जैसे एक मज़बूत आदमी किसी कमज़ोर को दबा कर उससे बेजा फायदा उठा सकता है, उसी तरह बड़ी बड़ी तिजारतें छोटी तिजारतों को बरबाद कर सकती हैं। स्मिथ का सिद्धान्त हिन्दुस्तान पर

---

* गुण अवगुण जानै सब कोई।
जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥

लागू कर दिया जाय तो देश के लगभग चौदह करोड़ मनुष्य भूखों मर जायँगे। यह देश जापान, जर्मनी, इङ्गलैंड, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों का मुक़ाबिला नहीं कर सकता। यहाँ की तिजारत इतनी पिछड़ी हुई है कि अभी इसकी रक्षा की आवश्यकता है। एक कहावत है, "हुकूमत तिजारत के पीछे पीछे चलती है"।* इस दौड़ान में उन्हीं देशों को फ़ायदा होगा जो तिजारत में बढ़े हुये हैं। वे अपने माल से दुनिया के बाज़ारों को पाट देंगे। परिणाम यह होगा कि पिछड़े हुये देशों के लोग या तो भूखों मर जायेंगे या उनके ग़ुलाम बन कर रहेंगे। यही नहीं, चन्द मुल्क बड़े बड़े साम्राज्य क़ायम करके दुनिया की दौलत पर गुलछर्रे उड़ायेंगे। इसलिये स्मिथ का यह सिद्धान्त हमें मान्य नहीं है।

व्यक्तिवाद का आधार

यह सभी जानते हैं कि व्यक्तिवाद का आधार व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिन दार्शनिकों का ऊपर वर्णन किया गया है उन्हीं के विचार इस सिद्धान्त के आधार हैं। अर्थात् व्यक्तिवाद के मुख्य दो आधार हैं, भौतिक और मानसिक। भौतिक आधार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह संसार में जो चाहे करे। परन्तु अपनी शक्ति और अपने हित के साथ औरों का भी ध्यान रक्खे। इसी से सामाजिक व्यवस्था क़ायम रहेगी। राज्य इससे परे नहीं है। मानसिक आधार का तात्पर्य व्यक्ति के मस्तिष्क से है। विचार स्वतंत्र है। व्यक्ति जो चाहे सोच सकता है। लेकिन अच्छा होगा कि वह बुरी बातों का चिन्तन न करे। उसके बाहरी काम मानसिक चिन्तन पर निर्भर करते हैं। वह जैसा सोचता है वैसा ही करता है। इसलिये भौतिक और मानसिक आधार को अलग अलग नहीं कर सकते। ये दोनों मिलकर व्यक्तिवाद के पाये को ठोस बनाते हैं। समाज में सभी व्यक्ति एक मार्ग पर विचार करें तो इतनी विषमता न होगी। यदि व्यक्ति सोचने और कार्य करने में स्वतंत्र है तो उसे और किसी स्वतंत्रता की आवश्यकता नहीं है। इसलिये इन दोनों को व्यक्तिवाद का आधार ठहराया गया है। कुछ विद्वानों ने भौतिक आधार को आर्थिक और वैज्ञानिक दो भागों में बाँट रक्खा है। ऐसा करना कोई गलती नहीं है, लेकिन हमें इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखलाई पड़ती।

* Trade follows the flag.

व्यक्तिवाद की कमज़ोरियाँ

प्रत्येक सिद्धान्त में थोड़ी बहुत कमज़ोरियाँ होती हैं। व्यक्तिवाद में भी कुछ ऐसी कमज़ोरियाँ हैं जिनका वर्णन करना आवश्यक है। इसके अन्दर छोटी से छोटी बातें काफ़ी बढ़ा चढ़ा कर कही गई हैं। कहीं कहीं पर तो ऐसी बातें कही गई हैं जो सत्य से कोसों दूर हैं। स्पेन्सर का यह कहना कि दान और धर्म को हटा दिया जाय, मनुष्य को पशु से भी नीचे गिराना है। जब वह समाज में रहता है तो उसका धर्म है कि औरों की भी थोड़ी चिन्ता करे। एक मात्र स्वार्थ-पूर्ति में लगा हुआ व्यक्ति पशु से ऊँचा नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त में राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया गया है। लगभग सभी व्यक्तिवादी एक स्वर से राज्य को बुरा ठहराते हैं। मिल इसे एक आवश्यक बुराई कहता है। लेकिन उन्हें मालूम होना चाहिये कि राज्य कोई बुरी चीज़ नहीं है। सरकार अच्छी और बुरी हो सकती है। वह भी इसलिये नहीं कि दो चार सरकारी अफ़सर निकम्मे हैं। दो चार की कमज़ोरियों के कारण पूरी सरकार को दोषी ठहरना उचित नहीं है। इतने कड़े शब्दों में उसकी टीका टिप्पणी से राजनैतिक संगठन की अवहेलना करना है। सरकार और व्यक्ति दोनों की शक्तियों में अन्तर है। अपने अपने क्षेत्र में दोनों की आवश्यकता है। नियन्त्रण के बिना व्यक्ति को अनुचित कार्य करने का अवसर मिलता है। वह हर हालत में अपने स्वार्थ को पहले देखता है। इसके बाद वह औरों की भलाई बुराई पर विचार करता है। उसके अन्दर यह स्वाभाविक कमज़ोरी है कि वह अपने आप को दोषी नहीं मानता। अपनी ग़लतियों को छिपाना उसका स्वभाव है। बहुत थोड़े से महापुरुष अपने अपराधों को मानकर प्रायश्चित्त करते हैं। सरकारी कचहरियाँ न हों तो इनकी संख्या और भी बढ़ जाय। सरकार किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं करती। उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता। वह जिस प्रकार व्यक्ति को दंड देती है उसी तरह अपने अफ़सरों को भी दंड देने के लिये तैयार रहती है। वह सबको एक नज़र से देखती है। यह कहना कि सभी व्यक्ति बराबर सोच सकते हैं, उनकी बुद्धि समान है और सबको एक प्रकार की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, बिलकुल ग़लत है। सब लोग समान बुद्धि वाले नहीं होते।* अधिकारों का कोई सदुपयोग

---

* मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना।

और कोई दुरुपयोग करता है। फिर दोनों को समान स्वतन्त्रता कैसे दी जा सकती है। एक आदमी अपने समय का उपयोग पढ़ने लिखने में करता है, दूसरा उसी को मार झगड़े तथा चोरी आदि दुष्कर्मों में लगाता है। गणित के प्रश्न की तरह मनुष्य के स्वभाव का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

व्यक्तिवादियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी सरकार की अवहेलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिवाद के सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी में व्यक्ति को काफ़ी लाभ पहुँचाया और कितने ही गन्दे क़ानूनों को निकाल बाहर किया, लेकिन सरकार की महत्ता को कम नहीं किया जा सकता। व्यक्ति कितना भी पूर्ण समाज बना ले, फिर भी आपस के भेद भाव लोप नहीं हो सकते। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उनकी देख भाल करती रहे। बीसवीं सदी में अनेक नये नये संगठन बनते हैं। उनका आपस में टकराना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में सरकार की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। वही इनकी देख भाल और इनके अधिकारों का बटवारा करती है। वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है।

आवागमन की सुविधा के कारण राष्ट्रों का सम्बन्ध बढ़ रहा है। व्यापार, संस्कृति, साहित्य तथा अन्य साधन मानवता के भेद भाव को दूर कर रहे हैं। प्रत्येक देश विदेशियों के सुख दुख को सोचने के लिये बाध्य है। चूंकि उनकी परिस्थिति का प्रभाव उसके लिये अनिवार्य है, इसलिये पड़ोसी राष्ट्रों की ओर से आँख नहीं चुराई जा सकती। ये कार्य व्यक्ति की शक्ति से बाहर हैं। जो शक्ति सरकार को प्राप्त है वह व्यक्ति को नहीं। कितने ही कार्यों को व्यक्ति नहीं कर सकता, लेकिन सरकार उसे करती है। राजनैतिक व्यवस्था के बिना व्यक्ति कोई संगठन नहीं बना सकता। उसकी उन्नति के लिये शान्तिमय वातावरण सरकार ही तैयार करती है। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि व्यक्तिवादी सरकार को इतनी छोटी नज़र से क्यों देखते हैं।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य और व्यक्ति का भेद भाव अस्वाभाविक है। एक ओर राज्य और दूसरी ओर व्यक्ति को रख कर सामाजिक व्यवस्था की बातें करना हवाई किले बनाना है। व्यक्ति समाज से अलग नहीं है। उसके विचारों तथा कार्यों का प्रभाव औरों पर पड़ता है। समाज को दूषित करने के लिये वह स्वतन्त्र नहीं हैं। कुछ तो उसके अच्छे विचार और कुछ सरकारी नियम उसे कुमार्ग पर चलने से रोकते

हैं। इसलिये उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो व्यक्ति को पतन की ओर ले जाती है। राजनैतिक वा सामाजिक व्यवस्था मनुष्य के कल्याण के लिये है। इसका विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि आत्मोन्नति के लिये इनकी आवश्यकता अनिवार्य है। मनुष्य परिस्थिति का दास और अपनी कमज़ोरियों का गुलाम है। सद्विचारों के कोसने पर भी वह बुरे मार्ग पर चला जाता है। ऐसे अवसरों पर सरकार उसकी सहायता करती है। वह उसे दंड देकर आगे के लिये आगाह कर देती है कि ऐसा नहीं करना चाहिये। यहाँ पर सरकार और सद्विचार दोनों के कार्य एक हैं। इसमें कोई शक नहीं कि सरकार सद्विचारों का एक सम्मिलित रूप है, और व्यक्ति को उसे विरोधी समझना एक झूठी कल्पना है। सरकार व्यक्ति के लिये वही करती है जिसकी उसे आवश्यकता है। यह बात तर्क के विरुद्ध है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधा डालती है। दो चार घटनाओं से कोई वसूल नहीं बनता। यदि व्यक्ति को समाज में रहना है तो उसे औरों को बचा कर चलना होगा। वह किसी के अधिकारों को कुचल नहीं सकता। इसलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी व्यक्तिवादियों का तर्क ग़लत है कि व्यक्ति और सरकार में विरोध है। सरकार व्यक्ति के मस्तिष्क से निकली हुई एक सुन्दर वस्तु है। यदि वह चन्द ऐसे कानून पास करती है जो व्यक्ति के लिये हानिकारक हैं तो इन्हें कोई अच्छा नहीं कह सकता। इस प्रकार के क़ानून व्यक्ति की उन्नति में बाधक हो सकते हैं। अतएव उसका कर्तव्य है कि वह इनका विरोध करे। राज्य के अमानुषिक अत्याचारों का विरोध करना नागरिक का कर्तव्य है।

व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्रवाद

प्रजातन्त्रवाद में व्यक्ति के अधिकार का ध्यान रक्खा गया है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के राजनैतिक अधिकारों की वृद्धि करना है। केन्द्रीय शासन केवल इस बात की देख रेख करे कि प्रान्तों में शासन की व्यवस्था ठीक ठीक चलती रहे। सबको स्थानीय स्वराज प्राप्त हो। किसी की इच्छा के विरुद्ध न कोई क़ानून पास किया जाय और न टैक्स लगाया जाय। राज्य के मसले जनता की राय से हल किये जायँ। असली प्रजातन्त्रवाद वह है जहाँ व्यक्ति को यह मालूम न हो कि उनका शासक कोई और है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के अन्दर व्यक्तिवाद की वृद्धि की लिये काफ़ी स्थान दिया गया है। लेकिन इसमें एक कठिनाई

है। पुराने ज़माने में यूनान और रोम के प्रजातन्त्रवाद का युग अब जाता रहा। उस समय छोटे छोटे राज्य थे। हर नागरिक की राय से काम किया जाता था। व्यक्ति राज्य का स्थूल अंग था। ऐसी व्यवस्था आज नहीं चल सकती। राज्य की सीमा इतनी बढ़ गई है कि सबसे राय लेकर काम करना असम्भव है। किसी क़ानून पर वर्षों ख़र्च करने पर भी एक एक की राय नहीं ली जा सकती। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था की गई है। नागरिक को अधिकार है कि वह अपना वोट जिसे चाहे दे। उसी के चुने हुये प्रतिनिधि उसका शासन करते हैं। इस प्रतिनिधित्व के अन्दर व्यक्तिवाद का सच्चा सिद्धान्त चालू नहीं हो सकता। व्यक्ति की राय वही होती है जो उसके पार्टी की। इसीलिये कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद की उन्नति के साथ व्यक्तिवाद का लोप होता जाता है। वैसे तो व्यक्तिवाद तब तक ज़िन्दा रहेगा जब तक व्यक्ति का स्तित्व क़ायम है, लेकिन उसका रूप बदलता रहेगा। व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता में कमी हो सकती है, लेकिन कड़े से कड़े शासन के अन्तर्गत उसकी उपयोगिता कम नहीं की जा सकती।

वर्तमान रूख़

आज दुनिया की नज़र व्यक्तिवाद की ओर नहीं है। इस युग में तीन वादों का बोलबाला है। अभी यह कहा नहीं जा सकता कि इन तीनों में किसकी विजय होगी। हमारा तात्पर्य प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद और ताना-शाही (Dictatorship) से है। इन तीनों का मुक़ाबिला ज़ोरों के साथ हो रहा है। एक वाद की कोशिश दूसरे को कुचल डालने की है। प्रश्न यह है कि इन तीनों के अन्दर व्यक्तिवाद की कहाँ तक गुंजाइश है। प्रजातन्त्रवाद का ज़िक्र ऊपर किया गया है। उससे स्पष्ट है कि व्यक्ति धीरे धीरे पार्टियों के अन्दर बँधता जा रहा है। उसकी निजी राय की तब तक कोई क़ीमत नहीं है जब तक वह किसी पार्टी की राय न हो। उसे विवश होकर किसी न किसी पार्टी का सदस्य बनना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक प्रजातन्त्रवाद व्यक्तिवाद के अनुकूल नहीं है।

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। जहाँ देखिये वहीं इसकी चर्चा होती है। कोई देश बाकी नहीं है जहाँ समाजवादी आन्दोलन जारी न हो। वैसे तो समाजवाद का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के 'ख' भाग

में किया गया है, लेकिन यहाँ यह जिक्र करना कोई अनुचित न होगा कि उसके अन्दर व्यक्ति के लिये कितना स्थान है। इसमें कोई शक नहीं कि समाजवादी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सुख की चिन्ता व्यक्तिवादियों से कम नहीं करते। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। समाजवाद के अन्दर व्यक्ति सरकार के हाथ की कठपुतली है। वही उसके लिये सब कुछ करती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा उद्योग समाजवाद के अन्दर गुनाह ठहराया गया है। व्यक्ति मशीन का एक पुर्ज़ा है जिसे चलाने का अधिकार केवल सरकार को है। वही छोटे बड़े सभी कामों को करने की क्षमता रखती है। व्यक्ति की आवश्यकताओं को समझने अथवा पूरा करने की शक्ति उसमें अधिक है। इससे स्पष्ट है कि समाजवाद के अन्दर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। लोगों की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि उनकी सरकार मज़बूत हो और वही सब कुछ करे। व्यक्ति अपना न्याय स्वयं नहीं कर सकता, इसलिये सरकार उसके हर काम की निगरानी रक्खे। समाजवादी यह कहते हैं कि हर इन्सान् ईमानदार और होशियार नहीं होता। इसलिये दूसरे लोग उससे वेजा फ़ायदा उठा सकते हैं। व्यक्तिवाद इस विषमता पर ध्यान नहीं देता। यदि सभी व्यक्ति समान होते तो अपने सरीखे औरों को भी देखते। उस दशा में व्यक्तिवाद चल सकता है। लेकिन मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने पर यह पता चला है कि वह स्वभाव से स्वार्थी होता है। अपने लाभ के सामने वह औरों की चिन्ता नहीं करता। यही कारण है कि समाजवादी व्यक्तिवाद को ख़तरनाक समझते हैं।

जर्मनी की लड़ाई के बाद संसार में एक नये वाद का जन्म हुआ है। वह है तानाशाही। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद की असफलता का मुख्य कारण विश्व-व्यापी आर्थिक संकट है। लड़ाई के बाद दुनिया में एक विकट ग़रीबी और बेकारी फैली। प्रजातन्त्रवाद इसे दूर नहीं कर सका। इन्हीं को दूर करने के लिये तानाशाही का जन्म हुआ। जर्मनी, इटली आदि देशों में इसी का ज़ोर है। इन देशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कहाँ तक स्थान है इसका पता वहाँ की शासन पद्धति से चलता है। तानाशाह वहाँ सर्वे सर्वा गिना जाता है। उसके सामने किसी व्यक्ति की सुनाई नहीं होती। उसकी पार्टी के सदस्यों को छोड़ कर औरों का न कोई स्थान है और न उनकी इज़्ज़त होती है। तरह तरह के टैक्सों से

उन्हें दबाया जाता है। अपनी पार्टी के अन्दर भी कोई तानाशाह का विरोध नहीं कर सकता। उसे हाँ में हाँ मिलाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रहता। देश की उन्नति के सामने व्यक्ति की चिन्ता नहीं की जाती। तानाशाह की मर्ज़ी के मुताबिक किसी भी देश से लड़ाई छिड़ सकती है। इससे प्रजा को कितना कष्ट होगा, इसकी कोई चिन्ता नहीं की जाती। यद्यपि तानाशाही का सिद्धान्त एक है, परन्तु विभिन्न देशों में इसके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। सभी हिंसा के पक्षपाती हैं। तलवार का ज़ोर उनके लिये आवश्यक है। अपने विपक्षी को समूल नष्ट कर देना तानाशाही की विशेषता समझी जाती है। तानाशाहों के लिये राष्ट्रीयता इतनी प्रिय है, कि उसके लिये वे सब कुछ कर सकते हैं। फांसी देना, तलवार के घाट उतारना, देश निकाला देना, उसके लिये आम बात है। सरकारी बातों का विरोध वहाँ सहन नहीं किया जाता। व्यक्ति को यह हुक्म है कि सरकारी फ़रमानों को वह खुशी खुशी मान ले। उसे स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी राय ज़ाहिर करने की इजाज़त नहीं है। प्रेस भी मनमाना ख़बरें नहीं छाप सकता। तानाशाही के अन्दर नागरिकता का वह व्यापक रूप नहीं है जो प्रजातन्त्रवाद के अन्दर पाया जाता है। वहाँ पर नागरिकता एक विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इससे स्पष्ट है कि यह वाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्व नहीं देता और उसे राष्ट्रोन्नति का एक साधन मात्र समझता है। इन तीनों वादों से हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग व्यक्तिवाद का पक्षपाती नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता धीरे धीरे लुप्त होती जा रही है। यदि यह आन्दोलन बढ़ता गया तो इसको रोकने के लिये पुनः व्यक्तिवाद का श्री गणेश होगा। यह सामाजिक नियम है कि जब कोई वाद अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है तो उसका विरोधी वाद धीरे धीरे उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

(ख)

समाजवाद

(Socialism)

विषय प्रवेश

समाजवाद एक ऐसा विषय है जिसमें प्रवेश करने के लिये कई रास्ते हैं। विद्वानों ने इस पर इतने प्रकार से विचार किया है कि सबका ज़िक्र करना एक पुस्तक लिखना है। इस वाद के विषय में अभी तक लोगों को यह पता

नहीं है कि इसकी ठीक ठीक परिभाषा क्या है और इसकी कौन सी शाखा अच्छी है। कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद की ५७ क़िस्में हैं। सन् १८९२ ई० में ली फ़िगारो (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी अख़बार में समाजवाद की ६०० परिभाषायें प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ ज़िक्र भी नहीं किया जा सकता। सर विलियम हरकार्ट (Sir William Harcourt) लिखता है, "हम सभी समाजवादी हैं क्योंकि हम लोग समाज में ही रहते हैं।"* कालेज के विद्यार्थी से लेकर बड़े बड़े विद्वानों तक हर एक अपने आपको समाजवाद का पंडित समझता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार के समाजवाद हैं। इसकी उपमा एक हैट से दी गई है जिसे कोई भी पहन सकता है। एक फ्रांसीसी विद्वान लिखता है, "समाजवाद एक ऐसा मज़हब है जिसकी अनेक शाखायें और उपशाखायें हैं।" जर्मनी में इसकी जो गति है वह फ्रांस में नहीं। इंगलैंड का समाजवाद रूस से भिन्न है। यह कहना अनुचित न होगा कि हर देश का समाजवाद भिन्न भिन्न है। लार्ड वेमेस (Lord Wemyss) ने समाजवादियों को ३ वर्गों में विभाजित किया है:—

१—राह चलते समाजवादी (Socialists of the Street)।

२—विद्यार्थी समाजवादी (Socialists of the School)।

३—कौंसिलों के समाजवादी (Socialists of the Senate)।†

परिभाषा

समाजवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो समाज की सत्ता को व्यक्ति से बड़ा समझता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य में सरकार ही सब कुछ करे और व्यक्तिगत उद्योग धन्धे बन्द कर दिये जायँ। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा रहेगी तब तक लोग अपने ही लाभ की चिन्ता करेंगे। नतीजा यह होगा कि समाज में कोई धनी होगा और कोई ग़रीब। इसी अन्तर को दूर करने वाले सिद्धान्त को समाजवाद कहते हैं। इसका उद्देश्य धनी ग़रीब

---

* We are all socialists because we live in society

† समाजवाद की व्याख्या करते हुये लार्ड वेमिस लिखता है:—

"What is communist? One who has yearnings,
For equal division of unequal earnings:
An idler or bungler or both, he is willing
To fork out his penny and pocket your shilling."

के अन्तर को मिटाने के साथ समाज की एक ऐसी योजना बनाना है जिससे पूर्ण समानता की उत्पत्ति हो। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पत्ति सभी विषमताओं की जड़ है। उन्नति, अवनति सभ्यता, असभ्यता सब कुछ इसी की करतूत है। जिसके पास समाज में धन है उसी के लड़के शिक्षित हो सकते हैं, उसी का ध्यान कला और संगीत की ओर जा सकता है, उसी की बात औरों को माननी पड़ती है और वही सब प्रकार से सभ्य गिना जाता है। जब सम्पत्ति के क्षेत्र में समानता होगी तो और विषमतायें अपने आप दूर हो जायेंगी, समाज में पूर्ण शान्ति रहेगी, और एक नई सभ्यता का आरम्भ होगा जो पिछली सभ्यताओं से ऊँची और सही होगी। समाजवाद की परिभाषा करते हुये जान स्पार्गो (John Spargo) लिखता है, "समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है। मौजूदा समाज की टीका टिप्पणी का नाम समाजवाद है। सामाजिक उत्थान के एक सिद्धान्त को समाजवाद कहते हैं।" एच० जी० वेल्स का कहना है कि, आर्थिक क्षेत्र में समानता उत्पन्न करने वाले सिद्धान्त को समाजवाद कहते हैं।" वह यह भी लिखते हैं कि प्रजातन्त्रवाद का युग समाजवाद का युग कहलाता है। बर्नार्डशा (Bernard Shaw) अपनी एक पुस्तक* में लिखते हैं, "मनुष्य की यह हार्दिक इच्छा है कि दुनिया की दौलत का बटवारा उसके परिश्रम के अनुसार किया जाय। इसी इच्छा को समाजवाद कहते हैं।" वे प्रजातन्त्रवाद की उन्नति को समाजवाद की कहते हैं। एफ० एस० मारविन† लिखता है, "ग़रीबों की आह और न्याय की आवश्यकता इन दोनों से प्रेरित होकर समाजवाद की उत्पत्ति हुई है।" यह बात निर्विवाद है कि समाजवाद आर्थिक विधान का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। आगे चलकर जब इस पर और प्रकाश डाला जायगा तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

समाजवाद का इतिहास

समाजवाद की भावना काफ़ी पुरानी है। अफ़लातून के ग्रन्थों में इस वाद की भावना मौजूद है। एक समालोचक ने तो यहाँ तक कहा है कि उसका रिपबलिक (Republic) नामक ग्रन्थ समाजवाद पर ही लिखा गया है। मध्यकाल में आगस्टाइन ने अपनी 'देव नगरी' (City of God) में इस बात का ज़िक्र किया है विषमता से बढ़कर

---

* Fabian Essays in Socialism.

† F. S. Marvin in his Century of Hope.

कोई दूसरी बुराई नहीं है। अफ़लातून से लेनिन तक मालूम नहीं कितने प्रकार के समाजवाद का ज़िक्र मिलता है। मनुष्य एक विचारक प्राणी है। वह समाज की सभी आवश्यकताओं पर विचार करता रहता है। जिस समय समाज के सामने कोई गहरी समस्या खड़ी होती है उस समय वह सोच कर इसका कोई न कोई इलाज निकालता है। लगभग सभी वाद इन्हीं आवश्यकताओं के पूरक हैं। अतएव समाजवाद का इतिहास तभी समझ में आ सकता है जब इसकी आवश्यकता पर थोड़ा प्रकाश डाला जांय। १७८९ ई० में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद यूरप में मशीनों की उत्पत्ति हुई। इससे व्यापार पर एक नया प्रभाव पड़ा। एक प्रकार से मशीनों के युग से मनुष्य की एक नई सभ्यता आरम्भ होती है। जीवन के सभी क्षेत्रों में एक महान क्रान्ति हुई। सबका ज़िक्र करना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल आर्थिक पहलू की थोड़ी चर्चा की जायगी। मशीनों के कारण पूँजीवाद का जन्म हुआ। जब तक हाथ से काम होता था तब तक लोगों की आवश्यकतायें कम थीं और आर्थिक दृष्टि से विषमता का कोई भय न था। शारीरिक परिश्रम का मूल्य अधिक था। मशीनों के कारण शारीरिक परिश्रम का मूल्य कम होने लगा। कारख़ानों के अन्दर मज़दूरों से बड़ी बेरहमी के साथ काम लिया जाता था। दूसरी ओर मशीनों के मालिक पूँजीवादी होते गये। सम्पत्ति धीरे धीरे थोड़े से लोगों के हाथों में आती गई। मज़दूर वर्ग गरीब होता गया। कुछ समय बाद सारा समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया—धनी वर्ग और ग़रीब वर्ग।

आर्थिक विषमता के भयंकर परिणाम को देखते हुये कुछ लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। प्रत्येक देश में एक ऐसे संगठन की उत्पत्ति हुई जिसका उद्देश्य पूँजीवाद का विनाश करना था। यही आन्दोलन समाजवाद का आन्दोलन है। इसका स्वरूप हर देश में अलग अलग है। जिस देश की जैसी सामाजिक व्यवस्था है उसी के अनुसार उस देश का समाजवाद भी है। कहीं पर इसका रूप अत्यन्त उग्र है और कहीं पर नम्र। इस छोटे से अध्याय में प्रत्येक देश के समाजवाद पर प्रकाश डालना असम्भव है, किन्तु इसे समझने के लिये इनका सूक्ष्म वर्णन आवश्यक है। साधारण तौर से समाजवाद की नौ किस्में हैं। पहला यूटोपियन समाजवाद है (Utopian-Socialism)। इसके अन्दर वे समाजवादी हैं जिन्होंने एक ऐसे संसार की कल्पना की है जहां पूर्ण स्वतंत्रता और समानता है। दूसरा क्रिश्चियन समाजवाद (Christian

Socialism) है। 'साधु-थामस' पहला विद्वान् है जिसने इस पर अपना विचार प्रकट किया है। इसकी प्रथा मध्य युग में ईसाई साधुओं के अन्दर प्रचलित थी। कोई ईसाई साधु अपनी निजी संपत्ति नहीं रखता था और उनकी चीज़ें सम्मिलित होती थीं। उनका कहना था कि सभी सम्पत्ति ईश्वर प्रदत्त है। आज कल के समाजवादी उपर्युक्त वाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उसका सम्बन्ध ईसाई धर्म से है। तीसरा समाजवाद फेवियन समाजवाद (Fabian Socialism) कहलाता है। १८८४ ई० में इसकी नीव डाली गई थी। इसके अनुयायियों का विश्वास है कि क्रान्ति करने की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेज़ी शासन पद्धति की तरह इसका स्वतः विकास होगा। एनिवेसेन्ट इसी समाजवाद में विश्वास करती थीं।

चौथा समाजवाद 'सिन्डिकलइज़्म' (Syndicalism) है। यह केवल फ्रांस में प्रचलित है। इसके अनुसार क्रान्ति से ही परिवर्तन हो सकता है। पाँचवाँ समाजवाद 'स्टेट समाजवाद' (State Socialism) है। इसकी जन्मभूमि इङ्गलैंड है। इसके अनुसार सभी प्रकार की तिजारत करने का अधिकार केवल सरकार को मिलना चाहिये। छठवाँ समाजवाद 'गील्ड समाजवाद' (Guild Socialism) है। यह रूसी सोवियट से मिलता जुलता है। इसके अनुसार सभी प्रकार के व्यवसाय एक संगठित जमात द्वारा होने चाहिये। यह वाद एक आदर्श समाज की कल्पना करता है। सातवाँ समाजवाद 'बोलसेविज़्म' (Bolshevism) कहलाता है। १९१७ ई० में जब रूस की बागडोर लेनिन के हाथ में आई उस समय इसका जन्म हुआ था। इसी के अनुसार आज रूस में मज़दूरों का राज्य है। आठवाँ समाजवाद कम्यूनिजम (Communism) है। इसके अनुसार छोटी से छोटी चीज़ पर सरकार का अधिकार होना चाहिये। व्यक्ति अपनी निज की सम्पत्ति नहीं रख सकता। यह समाजवाद सबसे उग्र गिना जाता है। इस शब्द का प्रयोग पहले पहल १८४० ई० में पेरिस में किया गया था। नवाँ समाजवाद 'अनारकिज़म' (Anarchism) है। यह वाद समाजवाद की अंतिम कोटि है। इसके अनुसार सरकार की आवश्यकता नहीं है। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह स्वतंत्रता पूर्वक उसका उपभोग करे।* कुछ लोग इसे समाजवाद से भिन्न मानते हैं।

---

* From every one according to his ability, to every one according to his needs.

ऊपर जिन समाजवादों का वर्णन किया गया है उनका दर्शन शास्त्र या तो अपूर्ण है या सर्व मान्य नहीं है। वास्तव में जिस समाजवाद का हमें इस अध्याय में वर्णन करना है वह सबसे परे है। इसी का वर्णन विस्तार पूर्वक करना है। वैज्ञानिक समाजवाद की नीव पहले पहल कार्लमार्क्स ने १८४८ ई० में डाली थी। आमतौर से जब 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद से होता है। मार्क्स समाजवाद का पिता कहा जाता है। यह एक यहूदी था। इसका जन्म ५ मई सन् १८१८ ई० को जर्मनी में हुआ था। इसके विचार इतने उग्र थे कि वहाँ से देश निकाला दे दिया गया। कई देशों में घूमता हुआ १८४८ ई० में वह लन्दन पहुँचा। वहीं १४ मार्च सन् १८८३ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अपनी 'कैपिटल' (The Capital) नामक पुस्तक में किया है। यह समाजवादियों का धर्म ग्रन्थ माना जाता है। मार्क्स पक्का क्रान्तिकारी था। वह अपने समय से सैकड़ों वर्ष पहले पैदा हुआ था। जो कुछ वह कहता उसे स्पष्ट और खुले दिल से कहता था। मार्क्स के एक एक शब्द समाजवाद के अन्दर पत्थर की लकीरें हैं। वह लिखता है कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं, जाहिल, मूर्ख और समाजवादी। जो मार्क्स को नहीं जानता वह मूर्ख है। जो उसे जानता है किन्तु उसमें विश्वास नहीं करता वह जाहिल है। जो उसे जानता और उसमें विश्वास करता है वह समाजवादी है।

वैज्ञानिक समाजवाद
Scientific Socialism

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद इतनी तेजी के साथ आ रहा है कि इसे कोई रोक नहीं सकता। जिस प्रकार हम सत्य को नहीं दबा सकते, उसी तरह यह वाद भी नहीं दबाया जा सकता। अपने समाजवाद के अन्दर मार्क्स तीन सिद्धान्तों का वर्णन करता है। इन्हीं के ऊपर समाजवाद का दारोमदार है। इसे समझने के लिये इनकी जानकारी आवश्यक है। ये तीनों सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—इतिहास का आर्थिक पहलू।

२—वर्गवाद।

३—शारीरिक परिश्रम का मूल्य।

प्रत्येक पर अलग अलग विचार किया गया है। इसके पहले हम मार्क्स की उन चन्द बातों का वर्णन कर देना चाहते हैं जिनको हर एक समाजवादी दिल से मानता है। यद्यपि ये वाक्य एक व्यक्ति के हैं फिर भी समाजवादी इन्हें ब्रह्म वाक्य समझते हैं। मार्क्स लिखता है 'धर्म अफ़ीम है।' मज़हब को लोगों ने ढोंग बना रक्खा है। पूँजीपति, जिन्हें खाने पीने की कोई चिन्ता नहीं है, धर्म के पक्षपाती होते हैं। विचारे ग़रीब, जो सुबह से शाम तक काम करते हैं, मज़हब के किसी वसूल को नहीं बरतते। सवेरे से शाम तक जी तोड़ परिश्रम करने पर भी जब उन्हें पेट भर खाना नहीं मिलता तो वे पूजा पाठ अथवा गंगा स्नान के लिये कहाँ से समय निकालें। धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि जिसके पास जो कुछ है वह उसी में सन्तोष करे। इसका तात्पर्य यह है कि विचारा ग़रीब मज़दूर हमेशा ग़रीब बना रहे। धार्मिक संस्थाओं को मार्क्स ने ढोंगियों का संगठन बतलाया है। वह लिखता है कि संसार में मशीनें बेकारी की जड़ हैं। मार्क्स की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य दिखाई पड़ती है। वह लिखता है कि समाजवाद की स्थापना होने के बाद संसार में शान्ति का युग आरम्भ होगा। लोगों में प्रसन्नता और सन्तोष की बृद्धि होगी। जब तक इस वाद की स्थापना नहीं होगी तब तक व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय लाभ के लिये व्यक्ति और देश आपस में लड़ते रहेंगे। वर्तमान प्रजातंत्रवाद में, जिसे जनता का राज्य कहा जाता है, और जिसके नाम पर एकता और समानता की डुग्गी पीटी जाती है, लड़ाइयों का ताँता सा बँधा हुआ है। साम्राज्य पिपासा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। इसे देखते हुये यह शंका होती है कि मुमकिन है मार्क्स के समाजवाद से ही शान्ति की स्थापना हो।

इतिहास का आर्थिक पहलू
Economic interpretation of History

एक सज्जन लिखते हैं "इतिहास मरे हुये आदमियों का जलूस है। इससे कोई लाभ नहीं है।" जो लोग इतिहास के पक्ष में है उनका यह कहना है कि यह हमारे पूर्वजों की कीर्तियों का संग्रह है। इससे हम पिछले ज़माने की घटनाओं से वर्तमान युग में सुधार करते हैं। एक तीसरे वर्ग के लोग इतिहास को मनुष्य की सभ्यता का कारनामा समझते हैं। मार्क्स ने इसे एक नई दृष्टि से देखा है। वह लिखता है कि इतिहास ग़रीबों की वह कहानी है जिसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आरम्भ से अब तक जितने भी परिवर्तन हुये हैं इतिहासों में

उनके भिन्न भिन्न कारण बताये गये हैं। लेकिन मार्क्स का कहना है कि इन सबका कारण केवल आर्थिक है। जब तक मनुष्य के पास धन की कमी थी तब तक उसकी आवश्यकतायें कम थीं। उसके अन्दर शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि का नाम न था। इस काल को जंगली ज़माना कहा गया है। इतिहास इस जंगलीपन का कुछ और कारण बतलाता हैं किन्तु ग़ौर से देखने पर पता चलता है कि धन के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।

आर्थिक साधन में जब उन्नति हुई और लोगों की आवश्यकतायें बढ़ीं तो इतिहास का नया युग आरम्भ हुआ। मनुष्य के जीवन में अनेक परिवर्तन दिखाई देने लगे। लोगों के सुख में वृद्धि हुई। आवागमन की वृद्धि से ज्ञान का भांडार बढ़ने लगा। कुछ समय बाद जब मशीनों का युग आया तो मनुष्य की सभ्यता में महान क्रान्ति हुई। कोई इसका कारण मानसिक बतलाता है, कोई वैज्ञानिक, और कोई दिमाग़ी। लेकिन मार्क्स साफ़ लिखता है कि नई सभ्यता का जन्म नये आर्थिक साधनों के कारण हुआ है। दुनियाँ में जो ऐसो-आराम दिखाई पड़ता है उसका कारण केवल आर्थिक है। इतिहास में जो काल विभाजन किये जाते हैं उनका एक मात्र कारण आर्थिक है। इतिहास ग़रीब दुखियों की कहानी वर्णन नहीं करता। उसके अन्दर राजाओं का ही ज़िक्र किया जाता है। यह सारा संसार अर्थ पर चलायमान है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे धन की आवश्यकता न हो। इतिहास में जितनी भी लड़ाइयाँ हुई हैं उनकी जड़ में आर्थिक लाभ है। धन की उत्पत्ति की जैसी व्यवस्था होती है उसी प्रकार लोगों का रहन सहन बनता है। यही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा नैतिक वसूलों को निश्चित करती है।

आमतौर से लोग मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं। एक धनी वर्ग, दूसरा मध्यम वर्ग, और तीसरा ग़रीब वर्ग। मार्क्स इस विभाजन से सहमत नहीं है। वह लिखता है। कि समाज केवल दो वर्गों में बँटा हुआ है। एक को 'पूँजीपति' (Capitalists) और दूसरे को 'मज़दूर' (Proletariat) वर्ग कहते हैं। मशीनों से पहले इन दोनों में कोई विशेष अन्तर न था, लेकिन मशीनों की वृद्धि के कारण यह अन्तर धीरे धीरे बढ़ने लगा। पूँजीपति

वर्गवाद
Class Struggle theory

बड़ी बड़ी मिलों के स्वामी बन गये और मज़दूरों को विवश होकर उनमें काम करना पड़ा। वे हर प्रकार से धनियों के दास होते गये। समाज में पूँजीपतियों का बोलबाला बढ़ता गया। राजनीति में उन्हीं की बात महत्व पूर्ण गिनी जाने लगी। एक प्रकार से वे ही शासक बन बैठे। इसके विपरीत, मज़दूर वर्ग उनके हाथ की कठपुतली होता गया। उसकी ग़रीबी प्रतिदिन बढ़ती गई। लेकिन जब इन्हें होश हुआ तो ये अपने अधिकार की चेष्टा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि पूँजीपति और मज़दूर इन दोनों वर्गों में लड़ाई आरम्भ हुई। मार्क्स लिखता है कि यह युद्ध इतिहास के आरम्भिक युग से चल रहा है, परन्तु किसी को इसका पता न था। धर्म और अध्यात्मवाद के कारण लोगों का ध्यान आर्थिक महत्व की ओर जाता ही न था। आधुनिक भौतिकवाद के कारण यह लड़ाई स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था है तब तक यह लड़ाई जारी रहेगी। ग़रीब वर्ग अपने हक के लिये लड़ता रहेगा और पूँजीपति अपने स्वार्थ की रक्षा करते रहेंगे। इस युद्ध को दूर करने का उपाय यही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था दूर कर दी जाय। सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो। इससे व्यक्तिगत लाभ न रहने से न कोई धनी रहेगा और न कोई ग़रीब।

सभ्यता के युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति एक कलंक है। कचहरियों में जितने झगड़े जाते हैं उनमें ६० प्रतिशत व्यक्तिगत स्वार्थ के मुकदमे होते हैं। सामाजिक सुधारों की आवश्यकता इसी विषमता के कारण पड़ती है। समाज में बहुत से दुर्गुण विषमता के परिणाम हैं। जब प्रकृति में एकता और समानता दिखलाई पड़ती है, और बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्तुयें सबको एक समान दी गई हैं, तो समाज में विषमता की कोई आवश्यकता नहीं है। हवा, पानी, प्राकृतिक सौन्दर्य, रोशनी, सर्दी और गर्मी इनका उपयोग हर व्यक्ति जितना चाहे कर सकता है। अतएव इन्हीं से उत्पन्न हुई सम्पत्ति पर केवल एक वर्ग का अधिकार समझना निरा भ्रम है। इसी विषमता का परिणाम है कि ग़रीबों के अन्दर तरह तरह की बीमारियाँ और शिक्षा की कमी नज़र आती है। पूँजीवादी अपने धन का जो दुरुपयोग करते हैं उसे कोई उचित नहीं कह सकता। धार्मिक अथवा नैतिक किसी भी दृष्टि से यह व्यवस्था पतन का सब से बड़ा कारण है।

अर्थ शास्त्र के विद्वानों का इस विषय में मतभेद है कि किसी वस्तु

शारीरिक परिश्रम का मूल्य
Labour theory

का मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाय। कुछ तो यह कहते हैं कि जितना धन किसी वस्तु के बनाने में ख़र्च हो उतना ही उस वस्तु का मूल्य रक्खा जाय। कुछ लोग वस्तु की उपयोगिता से इसका मूल्य निर्धारित करते हैं। जेम्स स्टुअर्ट मिल, अदम स्मिथ, और रिकार्डो, के कथनानुसार वस्तु का मूल्य परिश्रम के अनुसार रखना चाहिये। मार्क्स कहता है कि संसार का वस्तुओं का उत्पादक शारीरिक परिश्रम है। बिना परिश्रम के छोटी से छोटी वस्तु तैयार नहीं हो सकती। जितनी भी वस्तुयें मनुष्य के प्रयोग में आ रही हैं उन सब को उसने अपने परिश्रम से तैयार किया है। सुई से लेकर महल तक उसके परिश्रम से तैयार किये गये हैं। मशीनों के युग से पहले शारीरिक परिश्रम का मूल्य किसी क़दर उचित लगाया जाता था। लेकिन मशीनों के बाद इसका मूल्य इतना कम हो गया कि मज़दूर वर्ग भूखों मरने लगा। मस्तिष्क का मूल्य बढ़ने लगा। जो लोग दिमाग़ी काम करते हैं उन्हें अधिक पुरस्कार दिये जाते हैं, और जो मज़दूर कड़ी धूप और सर्दी में नंगे बदन काम करते हैं उन्हें खाने भर को भी नहीं दिया जाता। लोगों ने वस्तुओं का मूल्य परिश्रम से लगाना छोड़ दिया है। उनका विश्वास है कि दिमाग़ से ही वस्तुयें बन रही हैं, इस लिये उनका मूल्य भी इसी से लगाना चाहिये।

इस सिद्धान्त को मार्क्स 'अनुचित मूल्य सिद्धान्त' (The Theory of Surplus Value) भी कहता है। यहाँ पर एक उदाहरण देना अच्छा होगा। मान लीजिये आठ आने रोज़ पर हमने एक बढ़ई रक्खा। उसने ६ दिन में एक मेज़ तैयार किया। अर्थात् हमें बढ़ई को तीन रुपये देने पड़े। हमने उसे बाज़ार में पाँच रुपये को बेंचा। मार्क्स इस दो रुपये को, जो हमने अधिक लिया, अनुचित मूल्य कहता है। हमें उस मेज़ को तीन रुपये में ही बेंचना चाहिये था। हमने बढ़ई के परिश्रम से बेजा लाभ उठाया। इसी तरह पूँजीपति कम पैसे देकर मज़दूरों से चीज़ें तैयार कराते हैं और उन्हें अधिक से अधिक लाभ पर बेचते हैं। यही कारण है कि बिचारे मज़दूरों के पास झोंपड़ी तक नहीं है और पूँजीपतियों की आलीशान इमारतें खड़ी हैं। मार्क्स लिखता है कि यदि परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जाय तो हर आदमी अपनी कमाई से लाभ उठा सकता है। उसे दूसरे के परिश्रम पर जीवित रहने की आवश्यकता न होगी

वस्तुओं का मूल्य परिश्रम के अनुसार लगाया जाय तो धनियों को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वे ग़रीबों से बेजा लाभ उठायें। परिश्रम एक वस्तु है जिसे पूँजीपति सस्ते से सस्ते दाम में ख़रीद लेता है। बिचारे मज़दूरों को मजबूर होकर इसे बेच देना पड़ता है।

समाजवाद के ये तीनों सिद्धान्त इसके तीन पाये हैं। मार्क्स को समझने के लिये यह आवश्यक है कि ये तीनों सिद्धान्त समझ लिये जायँ, तभी वैज्ञानिक समाजवाद समझ में आ सकता है। वर्तमान युग में समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका क्षेत्र क्रमशः बढ़ रहा है। रूस में यह सिद्धान्त कार्य रूप में परिणत किया गया है। वहाँ इसे सफलता भी मिल रही है। दुनिया की नज़र रूस की ओर लगी हुई है। कुछ देश तो उसे हर प्रकार से बदनाम करने की कोशिश करते हैं लेकिन यह इनकी परवाह न कर अपने रास्ते पर लगा हुआ है। कुछ लोग रूसी सामाजवाद को कलकत्ते की काल कोठरी से भी बदतर कहते हैं, लेकिन कुछ इसे संसार का स्वर्ग समझते हैं।

समाजवाद के गुण और दोष

इसमें कोई शक नहीं कि धन मनुष्य के जीवन में एक बहुत बड़ा हाथ रखता है। समाजवाद इस पर काफ़ी प्रकाश डालता है। कोई व्यक्ति, चाहे वह विद्वान् हो या धार्मिक, इसकी उपयोगिता से मुँह नहीं मोड़ सकता। समाजवाद का यह सिद्धान्त सभी को प्रिय है कि समाज में पूर्ण समानता होनी चाहिये। धनी और ग़रीब का अंतर सचमुच एक पाप है। एक ओर तो लोग भूखों मरें, और दूसरी ओर हवाई जहाज़ पर चिड़ियों की उड़ान हो, इस अधःपतन की दूसरी मिसाल शायद ही कहीं मिल सके। समाजवादी धन की समानता पर सबसे अधिक ज़ोर देते हैं। वर्तमान भौतिकवाद के युग में धन की महत्ता को देखते हुये यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी समानता आवश्यक है। मनुष्य की सारी उन्नति का दारोमदार आज धन पर निर्भर है। ऐसी दशा में एक वर्ग को इससे वंचित रखना सर्वथा अन्याय है। समाजवादी धर्म को ढोंग समझते हैं। हम काफी अंश में उनसे सहमत हैं। बीसवीं सदी में धर्म के नाम पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उन्हें देखते हुये अच्छे से अच्छे लोगों को इसके प्रति घृणा होती है। मध्ययुग में योरप में धर्म के नाम पर सैकड़ों वर्ष तक लड़ाई चलती रही। इसी के कारण रानी मेरी ने ४०० जीवित आदमियों को आग में झोंक दिया। इसी के नाम पर

हमारे देश में छुआछूत का रवाज़ है। ईश्वर और अल्लाह के नाम पर हिन्दू और मुसलमान ख़ून की दरिया बहा देते हैं। अगर सचमुच धर्म इसी का नाम है तो मैं प्रत्येक हिन्दुस्तानी से यह प्रार्थना करूँगा कि वह मज़हब छोड़कर ला-मज़हब बन जाये। समाजवादी जिस धर्म को तिलाञ्जलि देना चाहते हैं, उसके अन्दर इसी बनावटी धर्म की बू है।

समाजवाद के अन्दर एक मार्के की बात और है। ग़रीबों के प्रति जितनी सहानुभूति इस वाद के अन्दर है उतनी शायद ही किसी वाद में हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति को हटा कर समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी प्रकार की समानता और एकता होगी; मनुष्य अपने परिश्रम का उपभोग करेगा; काहिली और बेकारी इस पृथ्वी से जाती रहेगी; सभी प्रकार के मुक़ाबिले सर्वदा के लिये दूर हो जायेंगे; स्वार्थ, परमार्थ में परिणत हो जायगा; नीच-ऊँच छोटे-बड़े, धनी-ग़रीब का अन्तर जाता रहेगा। यदि सचमुच समाजवाद सच्चे दिल से इनकी स्थापना करना चाहता है तो मैं हृदय से इसका स्वागत करता हूँ।

जहाँ समाजवाद में इतने गुण हैं वहाँ इसकी कुछ बुराइयाँ भी हैं। लोगों का कहना है कि विषमता प्रकृति का नियम है। पाँचो उँगलियाँ बराबर नहीं हैं। इसलिये आर्थिक समानता निरा स्वप्न है। जब मनुष्य में शारीरिक समानता नहीं है और उसकी बुद्धि में भी अन्तर है तो और क्षेत्रों में भी विषमता रहेगी। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर शत्रु हैं। एक विद्वान् का कहना है, "सब से ऊँची सभ्यता में व्यक्तिगत सम्पत्ति का ही नियम चालू किया जायगा।"*

व्यक्तिगत सम्पत्ति से मनुष्य को अधिक सुख और सन्तोष होता है। उसे यह पूरी स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने धन का अच्छा से अच्छा उपयोग करे। इसके विनाश से उद्योग की अभिलाषा जाती रहेगी। सभी काम मनुष्य को भार मालूम पड़ेंगे। जब निजी लाभ की भावना लोगों के दिलों से जाती रहेगी तो उनकी उदासीनता बढ़ जायगी। उनका कौटुम्बिक जीवन होटल का सा बन जायगा। समाजवाद की सब से बड़ी कमज़ोरी इसकी क्रान्ति की भावना है। यह वाद किसी भी प्रकार से,

---

* The highest civilization will adopt the system of separate or individual ownership.

चाहे उसमें कितनी ही खून खराबियाँ क्यों न हो, अपने मंज़िलेमकसूद पर पहुँचना चाहता है। अपने उद्देश्य के आगे वह रास्ते की कोई परवाह नहीं करता। घृणित से घृणित नीति का प्रयोग इसे मान्य है। अपने उद्देश्य पूर्ति के लिये पैशाचिक शक्ति का प्रयोग करना पड़े तब भी इसे कोई हिचक नहीं है। सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि विकास सिद्धान्त मनुष्य के लिये अधिक लाभप्रद होते हैं। सहसा परिवर्तन समाज को चकाचौंध कर देता है। क्रान्ति के द्वारा समाजवाद इस नियम का उलङ्घन करता है। धर्म को समूल नष्ट कर वह मनुष्य को एक काठ का पुतला बनाना चाहता है। धर्म की गन्दी बातें दूर करने के लिये सभी तैयार हैं, लेकिन इसके विनाश के लिये बहुत थोड़े से लोग राज़ी होंगे। सच्चे दिल से देखा जाय तो धर्म ने मनुष्य जाति का काफ़ी कल्याण किया है। हिन्दुस्तान के सिर को दुनिया के सामने ऊँचा रखने का श्रेय इसी को है।

हिन्दुस्तान और समाजवाद

समाजवाद की चर्चा हिन्दोस्तान में भी काफ़ी हो रही है। कांग्रेस के अन्दर एक समाजवादी दल अपना स्थान रखता है। इसका उद्देश्य हिन्दोस्तान में समाजवाद की स्थापना करना है। परन्तु न तो इस देश में इनका कोई बड़ा नेता है और न इनके सामने कोई निश्चित कार्य-क्रम है। इसलिये यह दल काफ़ी पीछे है। जो लोग इस देश में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं वे इसका मुक़ाबिला रूस से करते हैं। उनका कहना है कि रूस और हिन्दोस्तान दोनों ही कृषि प्रधान देश हैं, दोनों की जन-संख्या काफ़ी बड़ी है। लम्बाई चौड़ाई में दोनों ही विशाल हैं। इस लिये इस देश में समाजवाद का ख़ूब प्रचार हो सकता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह वाद उसी देश में प्रचलित हो सकता है जहाँ की अधिकतर जनता खेती पर जीवन निर्वाह करती हो और जिसकी रहन-सहन साधारण हो। इसे देखते हुये हिन्दोस्तान समाजवाद के लिये सर्वथा उपयुक्त है। जिस तरह रूस में पचास भाषायें हैं और लगभग आधे दर्जन धार्मिक सम्प्रदाय है उसी तरह भारत में भी अनेक मज़हब और भाषायें हैं। समाजवाद की स्थापना से पहले जो दशा रूस की थी वही आज हिन्दुस्तान की है। रूस में निरंकुश शासन था। यहाँ भी प्रजातन्त्रवाद का सच्चा स्वरूप नहीं है। ग्राम पंचायतों की प्रथा दोनों देशों में थी। जैसी विकट ग़रीबी रूस में थी उसी तरह

आज भारत में भी है। इतनी समानता होते हुये भी इस देश में समाजवाद का आन्दोलन अपनी शैशव अवस्था से आगे नहीं है।

हिन्दोस्तान समाजवाद के लिये अनुकूल नहीं है। पं० जवाहरलाल जी अपने एक व्याख्यान में कहते हैं, "हिन्दोस्तान की ग़रीबी और बेकारी की कठिन समस्या तभी सुलझ सकती है जब इस देश का संगठन समाजवाद के आधार पर किया जाय।"* लेकिन वे यह भी कहते हैं कि पहले इस देश को अपनी आज़ादी की चिन्ता होनी चाहिये, इसके बाद समाजवाद की। वास्तव में इस देश में समाजवाद की स्थापना करना एक स्वप्न देखना है। हिन्दोस्तान सब कुछ खो सकता है, लेकिन मरते दिन तक अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। जो लोग समाजवाद की ऊपरी बातों पर लट्टू हैं, उन्हें धर्म के गूढ़ रहस्य मालूम नहीं हैं। धर्म से विरुद्ध इस देश में बड़ा से बड़ा सिद्धान्त उठाकर फेंक दिया जायगा। यहाँ का दर्शन शास्त्र रूस के समाजवाद से कहीं ऊँचा और तर्कपूर्ण है। समाजवाद की स्थापना उन्हीं देशों में हो सकती है जो मशीनों के भक्त हैं। हिन्दोस्तान में यह आन्दोलन ज़ोरों से जारी है कि घरेलू कारोबार ज़िन्दे किये जायँ और मशीनों का वहिष्कार हो। यह आन्दोलन गान्धीवाद के नाम से पुकारा जाता है। कुछ लोग हिन्दुस्तानी समाजवाद को नेहरूवाद भी कहते हैं। यदि सचमुच यह बात ठीक है तो मेरा विश्वास है कि गाँधीवाद नेहरू वाद से कहीं ऊँचा है। इसे पण्डित जी भी स्वीकार करते हैं। इस देश का प्राचीन इतिहास प्रजातन्त्रवाद का पोषक है। ग्राम पंचायतें शासन की प्रधान कड़ियाँ थीं। स्थानीय जनता को टैक्स के अतिरिक्त यह महसूस नहीं होता था कि राजनैतिक सत्ता किसी और के हाथ में है। आज भी ग्रामीण जनता अपने दैनिक जीवन में रसम रवाजों का प्रयोग सरकारी क़ानूनों से अधिक करती है। यहाँ के निवासी सरकारी व्यवस्था से घबड़ाते हैं। इसलिये प्रजातन्त्र उन्हें अधिक प्रिय है।

---

* The tremendous problem of poverty and unemployment in India can only be solved by a vast system of planning on a socialistic basis.

अध्याय १७

क़ानून (Law)

क़ानून का तात्पर्य—क़ानून की उत्पत्ति और विकास—क़ानून के विभिन्न अर्थ—क़ानून के सिद्धान्त—हुक्म सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्त—ऐतिहासिक सिद्धान्त—संगठित सिद्धान्त—क़ानून के ज़रिये—रसम रवाज—वैज्ञानिक वाद विवाद—कचहरियों के फ़ैसले—धर्म—धारा सभाओं के क़ानून—न्यायानुकरण—न्याय संशोधन—क़ानून का पालन—भय—तर्क—काहिली—सहानुभूति—स्वभाव—क़ानून के अन्तिम उद्देश्य—दंड के सिद्धान्त—लाक—रूसो—बेन्थम—ग्रीन—ओपेनहैम—स्वाभाविक क़ानून—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून—क़ानून और स्वतन्त्रता।

क़ानून का तात्पर्य

क़ानून की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्रता की कुञ्जी और कुछ बन्धन कहकर पुकारते हैं। रोम का प्रसिद्ध विद्वान् सिसरो (Cicero) लिखता है, "हम लोग स्वतन्त्र होने के लिये क़ानून के बन्धन में पड़े हुए हैं।"* सिसरो के इस कथन में एक बड़े मार्के की बात यह है कि क़ानून बन्धन और स्वतन्त्रता की कुंजी दोनों है। यह सभी जानते हैं कि क़ानून सरकार द्वारा बनते हैं। धारा सभायें इन्हें बनाती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति दूसरे को किसी प्रकार से हानि न पहुँचाये और हर आदमी अपने अधिकार की सीमा को पहचाने। इसीलिये क़ानून को "अधिकार का दर्शन शास्त्र" कहते हैं। अधिकार की लड़ाई न हो तो क़ानून की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कार्य अधिकारों की व्याख्या करना है। अधिकारों की परिभाषा ही क़ानून हैं। लेकिन डूगिट (Duguit) के कथनानुसार अधिकार नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। इसीलिये वह लिखता है कि क़ानून अधिकारो की व्याख्या न करके कर्त्तव्यों की परिभाषा करते हैं। जो कुछ भी हो हमें मानना होगा कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों साथ साथ चलते

---

* We are the slaves of the law in order that we may be free.

हैं। एक के बिना दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव हम इस नतीजे पर पहुँचे कि क़ानून का सम्बन्ध अधिकार और कर्त्तव्य दोनों से है। जो किसी के अधिकार में दख़ल देता है वह क़ानून द्वारा दोषी ठहराया जाता है। अथवा जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता उसे क़ानून द्वारा दंड दिया जाता है। 'क़ानून' शब्द इतना आम फ़हम है कि हर आदमी इसके नाम से परिचित है। लोग अक्सर कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा क़ानून दाँ है। यहाँ पर क़ानून का तात्पर्य दाव पेच से है। जो आदमी अधिक से अधिक तिगड़म बाज़ होता है उसे लोग क़ानून दाँ कहते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि क़ानून दाव पेच की चीज़ ज़रूर है, लेकिन यह निरा दाव पेच नहीं है। इसी का प्रभाव है जो हम समाज में संगठित रूप से रह रहे हैं। जब कभी हम अपने कर्त्तव्यों को भूल कर ग़लत मार्ग ग्रहण कर लेते हैं, तो क़ानून हमें ठीक रास्ते पर लाते हैं। ये उसी के लिये बन्धन हैं जो अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना चाहता। जो सदाचारी हैं और अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते, उन्हें ये हर प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। इसीलिये एक विद्वान ने क़ानून को "मनुष्य के मस्तिष्क से निकली हुई सब से अमूल्य वस्तु" ठहराया है। मनुष्य का उच्च विचार क़ानूनों के अन्दर छिपा हुआ है। सभ्यता के इतिहास पर क़ानून का गहरा असर पड़ता है।

कुछ लोग क़ानून और स्वतन्त्रता को एक दूसरे का विरोधी कहते हैं। उनका कहना है कि क़ानून न होते तो मनुष्य अपने आपको पूर्ण स्वतन्त्र समझता। वह जो चाहता करता और जहाँ चाहता जाता। क़ानून से वह इस कदर बाँध दिया गया है कि पग पग पर उसे बन्धन मालूम पड़ते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क़ानून जंगली स्वतन्त्रता को रोकते हैं। यदि स्वतन्त्रता कोई ऐसी चीज़ है जिसमें हम औरों को हानि पहुँचा सकते हैं तो समाज में इसकी आवश्यकता नहीं है। क़ानून ऐसी स्वतन्त्रता की आज्ञा नहीं देते। यदि कोई चोरी करता है तो क़ानून उसे दोषी ठहराते हैं, परन्तु यदि कोई किसी से कुछ माँग कर लेवे तो वह अपराधी नहीं है। इसलिये तर्क की कसौटी पर जिन कामों को हम अच्छा समझते हैं क़ानून उनका समर्थन करते हैं, इसके विपरीत सभी काम बुरे और दोषपूर्ण हैं। इससे यह कह सकते हैं कि "तर्क का दूसरा नाम क़ानून है।" जो आदमी आवेश में आकर किसी काम को कर बैठता है वह तर्क और क़ानून दोनों का उलंघन करता है। मस्तिष्क नियमों की महत्ता को मानता है, लेकिन

परिस्थिति के वशीभूत होकर उसे उनकी अवहेलना करनी पड़ती है। इसीलिये क़ानून की रक्षा के लिये सरकार को एक संगठित विभाग बनाना पड़ता है। यदि हम ग़ौर से देखें तो राज्य में सभी संगठन क़ानून की रक्षा के लिये हैं। इसी की रक्षा से शान्ति और सुव्यवस्था रहती है। सरकार का एक विभाग (Legislature) क़ानून बनाता है; दूसरा (Executive) इसकी देखभाल करता है; और तीसरा (Judiciary) तोड़ने वालों को दंड देता है। अर्थात् सरकार के तीनों अंग क़ानून से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार का काम केवल क़ानून बनाना और उसकी रक्षा करना है। इसके अतिरिक्त भी उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं जिनका वर्णन अध्याय ८ में किया गया है।

क़ानून का सम्बन्ध सरकार से इतना घनिष्ठ है कि दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। कुछ लोग भूल से क़ानून को ही सरकार समझ लेते हैं। इन दोनों के दर्शन शास्त्र मिले जुले हैं। राज्य की उत्पत्ति के साथ क़ानून का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार समाज से अलग राज्य और सरकार का कोई तात्पर्य नहीं है, उसी तरह क़ानून और सरकार मिले जुले हैं। अधिकार और कर्त्तव्य एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहते, इनके लिये एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। किसी देश में एक ही व्यक्ति रहता हो तो हम उसे राज्य नहीं कह सकते। न तो वहाँ कोई सरकार है और न क़ानून। क़ानून एक ऐसी चीज़ है जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है। जिस समाज में इसका पालन नहीं होता वह निकम्मा समझा जाता है। वे इस बात के द्योतक हैं कि कोई समाज अपने आपको कितना संगठित कर सकता है। क़ानून की अच्छाई बुराई राज्य को बना और बिगाड़ सकती है। इससे जनता के विचार प्रकट होते हैं। इतिहास के आरम्भिक युग से अब तक मनुष्य का अध्ययन करने के लिये क़ानून आवश्यक हैं। सभ्य और असभ्य जाति की पहचान उनके क़ानूनों से भी की जाती है। यदि हम मनुष्य की सभ्यता का इतिहास उठाकर देखें तो पता चलेगा कि प्राचीन और नवीन क़ानूनों में ज़मीन आसमान का अन्तर है। क़ानून एक शक्ति है जिसके अन्दर इतना बल है कि वह बड़ी से बड़ी हस्ती को झुका सकता है। सरकार की सभी शक्तियाँ इसे प्राप्त हैं। फ़ौज और पुलीस क़ानून के हाथ और पैर हैं। बड़ा से बड़ा व्यक्ति इस बात का साहस नहीं कर सकता कि वह इन्हें तोड़ सके।

जब से मनुष्य समाज में आया तभी से उसे नियमों का पालन करना

क़ानून की उत्पत्ति और विकास

पड़ता है। जंगली अवस्था से निकल कर जब छोटे छोटे संगठित समाज बनने लगे तो उन्हें क़ायम रखने के लिये नियमों की आवश्यकता हुई। कुछ रस्म-रिवाज ऐसे प्रचलित हुये जिन्हें सभी लोग मानते थे। इनका पालन व्यक्तिगत विश्वास पर निर्भर था। लोग आसानी से इनका उलंघन कर सकते थे। जिस रस्म-रवाज़ में उनका विश्वास नहीं होता उन्हें वे छोड़ सकते थे। इस स्वतन्त्रता का परिणाम यह हुआ कि समाज का संगठन मज़बूत न हो सका। यह स्वाभाविक है कि सभी व्यक्ति अपनी भलाई और उन्नति को नहीं समझ सकते। नियमों को तोड़ने में उन्हें आनन्द आता है। उनकी यह ख़्वाहिश होती है कि चन्द लोग बुरे से बुरे कामों में उनका साथ दें। समाज का यह अनुभव है कि अच्छे से अच्छे नियमों का पालन तब तक नहीं हो सकता जब तक उनके पीछे कोई शक्ति न हो। राजनैतिक संगठन इसी का परिणाम है। इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादक इससे भली भाँति सहमत हैं। राजनैतिक व्यवस्था में सरकार की उत्पत्ति हुई और इसी से क़ानूनों का जन्म हुआ। शुरू से जितने भी रस्म-रवाज़ समाज में प्रचलित थे उन पर विचार किया गया और जो नियम सब पर लागू हो सकते थे उनका पालन करना सब के लिये अनिवार्य ठहराया गया। ये रस्म-रवाज़ विभिन्न देशों में भौगोलिक परिस्थिति के कारण अलग अलग थे और आज भी हैं। यही वजह है कि हर देश के क़ानून भिन्न भिन्न हैं। उनके विकास के रास्ते एक दूसरे से अलग हैं। क़ानून की उत्पत्ति के बाद समाज में दो प्रकार के नियमों की वृद्धि हुई। एक सामाजिक और दूसरा राजनैतिक। सामाजिक नियमों के अन्तर्गत घरेलू रस्म-रवाज और धार्मिक क्रियायें हैं। ये नियम भी अटल होते थे और लोग श्रद्धा और विश्वास के कारण जल्दी इनका उलंघन नहीं करते थे। कुछ समय बाद जब सामाजिक संगठन और मजबूत हो गये तो इन नियमों की रक्षा का प्रबन्ध किया गया। जो कोई इन्हें तोड़ता वह समाज से या तो बहिष्कृत कर दिया जाता, या किसी और दंड का पात्र समझा जाता था। अब भी वे नियम समाज में प्रचलित हैं, लेकिन उनके पीछे वह शक्ति नहीं है जो पहले थी। हमारे देश में ग्राम पंचायतों के अतिरिक्त जाती पंचायतें कहीं कहीं पर आज भी हैं। यदि अपनी बिरादरी का आदमी कोई दूषित काम करता है तो उसकी जाति उसके साथ खाना-पीना, उठना-बैठना बन्द कर देती है। गाँव का पानी तक

उसे पीने नहीं दिया जाता। नाई, धोबी, दर्जी, लुहार—इनसे वह काम नहीं ले सकता। इस सख़्ती का नतीजा यह होता है कि लोग सामाजिक नियमों का उलंघन करने में डरते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक युग में सामाजिक नियम ढीले पड़ गये हैं। कुछ ऐसे भी सामाजिक और धार्मिक नियम हैं जिन्हें लोग सरकारी क़ानूनों से बढ़ कर समझते हैं। इसकी वजह यह है कि ये मनुष्य-स्वभाव के इतने अनुकूल होते हैं कि वह इनका उलंघन नहीं कर सकता। यद्यपि उसे कोई बाहरी भय नहीं होता, लेकिन भीतर से उसकी आत्मा इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह इनका पालन करे।

सामाजिक नियमों के साथ सरकारी क़ानून बढ़ते गये। यदि समाज में सभी व्यक्ति समान बुद्धि वाले होते, और अपने सरीखे औरों की भलाई का ध्यान रखते, तो राजनैतिक व्यवस्था की कोई आवश्यकता न होती। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से स्वार्थी है। उसे अपने लाभ की चिन्ता पहले होती है। अपने इष्ट मित्रों के प्रति वह अधिक सहानुभूति रखता है। उसे जितनी चिन्ता अपने अधिकार की होती है उतनी औरों के अधिकार की नहीं। अवसर पड़ने पर वह घृणित से घृणित कार्य कर सकता है। सामाजिक नियम इन्हें रोकने में असमर्थ सिद्ध होने लगे। इसीलिये राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण किया गया। इसे ठीक बनाने और व्यक्तिगत अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये क़ानूनों की आवश्यकता हुई। मनुष्य का असली स्वभाव ज्यों ज्यों ज़ाहिर होता गया और उसकी अच्छी तथा बुरी हरकतें मालूम होती गईं, त्यों त्यों विभिन्न प्रकार के क़ानून बनते गये। बढ़ते बढ़ते इनकी संख्या अनगिनत हो गई। कुछ दूर चलकर इन्हें दो भागों में बाँट दिया गया—दीवानी और फ़ौजदारी क़ानून। माल से सम्बन्ध रखने वाले दीवानी क़ानून कहलाये और लड़ाई-झगड़े से सम्बन्ध रखने वाले फ़ौजदारी क़ानून। यह विभाजन आज भी माना जाता है। सामाजिक जीवन के विकास के साथ मानव जीवन की समस्यायें और भी जटिल होती गईं। उन्हें सुलझाने के लिये क़ानूनों का आश्रय लेना पड़ा। ऐसा भी देखा जाता है कि धारासभाओं में क़ानून बनने भी न पाये, किन्तु जजों को उनकी आवश्यकता पड़ जाती है। उनके सामने नये नये मुक़दमें आते रहते हैं। इसलिये उन्हें विवश होकर अपनी बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव कचहरियों में भी नये क़ानूनों का बीजारोपण होता है। धारा सभायें उन्हें ख़ुशी ख़ुशी मान लेती हैं। इन क़ानूनों को "न्यायाधीश के क़ानून"

(Judge-made Law) कहते हैं। फ्रान्स में कार्यकारिणी विभाग के अफ़सरों को यह अधिकार है कि आवश्यकता पड़ने पर वे क़ानून बना सकते हैं। इस प्रकार के क़ानून "राजकीय क़ानून" (Administrative Law) कहलाते हैं। हिन्दोस्तान में गवर्नर और वाइसराय को यह अधिकार है कि आवश्यकता पड़ने पर वे नये क़ानून जारी कर सकते हैं, लेकिन उनका असर ६ महीने से अधिक नहीं रह सकता।

क़ानून की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकता के कारण हुई है। यदि उसकी सभी आवश्यकतायें एकाकी जीवन में पूरी हो जायँ तो उसे समाज में रहने की आवश्यकता न होगी। लेकिन यह विचार ग़लत है। मानवता का विकास समाज से बाहर कदापि नहीं हो सकता। समाज में व्यक्ति इसी अभिलाषा से प्रवेश करता है कि उसकी अधिक से अधिक उन्नति होगी। उसे औरों के अधिकार और अपने कर्तव्य का ज्ञान होता है। इसके स्पष्टीकरण के बिना वह सभ्यता का स्वप्न नहीं देख सकता। कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उसने अमुक अपराध इसलिये किया है, कि उसे इसका ज्ञान नहीं था। क़ानून की अज्ञानता बचाव का कारण नहीं है।* राष्ट्रीय क़ानूनों के अतिरिक्त कुछ अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून भी बनाये गये हैं। देशों के सम्बन्ध में वृद्धि होने के कारण सरकार को अपने पड़ोसी राष्ट्रों का ध्यान रखना पड़ता है। युद्ध, सन्धि, व्यापार आदि कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन किया जाता है। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अभी अधूरा और कमज़ोर है इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून भी अपूर्ण हैं। उनके पीछे कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो दृढ़ता पूर्वक उनका पालन कराये। उनकी दशा इस समय वैसी ही हैं जैसी आरम्भ में सामाजिक नियमों की थी।

मस्तिष्क शक्ति की वृद्धि के साथ क़नूनों की संख्या और आवश्यकता बढ़ती गई है। मनुष्य का विश्वास है कि इससे उसके कर्तव्य का पालन और स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। यह बात ग़लत है कि संसार में "मात्स्य न्याय" (Might is Right) होना चाहिये। प्रकृति के अन्तर्गत होते हुये भी मनुष्य उसका गुलाम नहीं है। प्रकृति पर अपना अधिकार करने का प्रयत्न उसकी सभ्यता का विकास है। विज्ञान की उन्नति से स्पष्ट है कि निरा प्राकृतिक जीवन जंगली जीवन है। यद्यपि क़ानून बन्धन

---

* Ignorance of law has no excuse.

हैं, और वे पग पग पर हमें रोकते हैं, फिर भी यह रुकावट हमारी भलाई के लिये है। बलवानों की पाशविक शक्ति के रोकने का एक मात्र श्रेय क़ानूनों को है। इससे ग़रीबों तथा कमज़ोरों की रक्षा होती है।

क़ानून के विभिन्न अर्थ

पाउन्ड ने (R. Pound) अपनी एक पुस्तक में* क़ानून का बारह अर्थ किया है। मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि क़ानून के विस्तृत ज्ञान के लिये वे उसकी किताब को अवश्य देखें। यहाँ पर संक्षेप में हम उन अर्थों का वर्णन करेंगे।

(१) क़ानून दैवी नियम हैं। ईश्वर ने उन्हें मनुष्य के कल्याण के लिये बनाया है। ख़ुदा के फ़रिस्तों ने समय समय पर इस पृथ्वी पर आकर उन्हें बनाया। मसीह के बतलाये हुये दस नियम (Ten Commandments) तथा हिन्दुओं में धर्म के दस लक्षण इन्हीं क़ानूनों का इज़हार करते हैं।

(२) क़ानून पुराने रस्म-रवाज़ हैं। इन्हें न केवल मनुष्य बल्कि देवताओं ने भी स्वीकार किया है। इन्हीं की बदौलत संसार में उसकी रक्षा होती है। इन्हीं का सहारा लेकर वह आसानी से अपने कामों को अनजाम देता है।

(३) क़ानून महानुभावों के सच्चे विचार हैं। जो नियम उन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये निर्धारित किया, वे क़ानून कहलाये। कहा भी है कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" भारतवर्ष में ऋषि मुनियों के बनाये हुये नियमों को लोग श्रद्धापूर्वक मानते थे। आचारवान पुरुषों के सभी नियम क़ानून हैं। उन्हें मान कर हम अपना कल्याण कर सकते हैं।

(४) क़ानून वह सिद्धान्त है जो वस्तुओं के गुण के अनुसार बनाया गया है। वस्तुओं के अध्ययन में कुछ ऐसे वसूल पाये गये हैं जो सब पर लागू होते हैं। मनुष्य भी उन वस्तुओं में शामिल है। उन्हीं वसूलों के आधार पर क़ानून की रचना हुई है।

(५) क़ानून एक प्रकार के आध्यात्मिक नियम हैं। इन्हें प्राकृतिक नियम भी कहते हैं। जिस प्रकार प्रकृति सभी वस्तुओं को उत्पन्न करती है, उन्हें जीवित रखती है, और उनका विनाश करती है, उसी तरह

* An Introduction to the philosophy of Law.

मनुष्य के अन्तःकरण में यह शक्ति मौजूद है कि वह अपने अस्तित्व को कायम रक्खे। उसी की आज्ञानुसार वह चलता है। यही आज्ञा क़ानून है।

(६) क़ानून एक प्रकार की शर्तें हैं जिन्हें राजनैतिक संगठन के लिये बनाया गया है। इसमें वे सुलहनामें वर्णन किये गये हैं जो व्यक्ति ने एक दूसरे के साथ किया है। अर्थात् क़ानून राजनैतिक संगठन के वे मसौदे हैं जिनके द्वारा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण किया गया है। इनसे प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि औरों के साथ उसका क्या कर्तव्य है।

(७) क़ानून दैवी विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। इन्हीं से मनुष्य जड़ और चेतन पदार्थों से भिन्न किया गया है। अन्य जीवों तथा पदार्थों को ये विचार बिना किसी रू रियायत के मानने पड़ते हैं, लेकिन इंसान के लिये उसकी इच्छा पर छोड़ दिये गये हैं। थामस अकुना (St. Thomas Aquinas) ने मध्यकाल में क़ानून का यही अर्थ किया था।

(८) क़ानून राजसत्ता का एक विशेष गुण है। राजा का हुक्म क़ानून कहलाता है। आस्टिन का सिद्धान्त इस मत की पुष्टि करता है। प्राचीन काल में राजाओं के शब्द ही क़ानून होते थे।

(६) क़ानून वे नियम हैं जो मनुष्य के पिछले अनुभवों पर बनाये गये हैं। आरम्भ से अब तक मनुष्य को समाज में जो जो अनुभव हुये हैं उनका संकलन क़ानून कहलाता है।

(१०) क़ानून, मनुष्य के कार्यों पर वैज्ञानिक ढंग से चिन्तन किया हुआ एक सिद्धान्त है। इसकी वृद्धि नैयायिकों ने आपस के वादविवाद द्वारा की है। तर्क की कसौटी पर मनुष्य के सभी बाहरी उद्योगों को कसने के बाद कुछ ऐसे वसूल खोज निकाले गये जिनसे उसके कार्यों में सुविधा हो। उन्हीं के द्वारा व्यक्ति और समाज की राय में समता होती है। क़ानून की आवश्यकता तभी पड़ती है जब मनुष्य के विचार कार्य रूप में परिणत होते हैं।।

(११) क़ानून नियमों के उस समूह को कहते हैं जिसके द्वारा समाज में एक वर्ग दूसरे पर राज्य करता है। इसी के बल से धनी ग़रीबों को चूसता है। आर्थिक विषमता को जीवित रखने की ज़िम्मेवारी एक मात्र क़ानूनों पर है। समाजवादी इतिहास को जब आर्थिक संगठन की दृष्टि से देखते हैं तो उन्हें पता चलता है कि क़ानून चन्द लोगों के आराम को क़ायम रखने के ज़रिये हैं। इन्हीं का भय दिखला कर राज्य में शासक वर्ग शासितों पर अपनी धौंस जमाता है।

(१२) क़ानून आर्थिक और सामाजिक नियम हैं, जिनकी सहायता से मनुष्य समाज में अपना जीवन निर्वाह करता है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा न हो तो स्वार्थ की कमी के कारण इनकी आवश्यकता जाती रहेगी।

क़ानून के सिद्धान्त

ऊपर पाउन्ड ने क़ानून के जो बारह अर्थ किये हैं, उनके अन्दर वे सभी अर्थ आ जाते हैं जो आरम्भ से अब तक समय समय पर किये गये हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये इन्हें चार कोटि में रख सकते हैं। अर्थात् चार सिद्धान्तों के अन्तर्गत इन सबका वर्णन किया जा सकता है। वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

१—हुक्म सिद्धान्त (Command Theory of Law).

२—दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of Law).

३—ऐतिहासिक शिद्धान्त (Historical Theory of Law).

४—संगठित सिद्धान्त (Social Solidarity Theory of Law).

हुक्म सिद्धान्त

१—बोदाँ, हाब्स, वेन्थम और आस्टिन इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। यूनान में सूफ़ी दार्शनिक इस बात को मानते थे कि जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त ठीक है। उनका कहना था कि इंसाफ़ बलवानों का एक विशेष अधिकार है। इसीलिये लोग भय के कारण क़ानूनों का पालन करते हैं। राजा का हुक्म ही क़ानून है। इसी के आधार पर आस्टिन आदि दार्शनिकों ने अपना सिद्धान्त खड़ा किया है। आस्टिन का कहना है कि संसार में दो तरह के मनुष्य हैं। एक तो वे जो बुद्धिमान हैं और दूसरे वे जो साधारण बुद्धि रखते हैं। ऐसी दशा में कम बुद्धि वालों का कर्तव्य है कि वे बुद्धिमानों के हुक्म को मानें। इसी बुनियाद पर आस्टिन कहता है कि प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये। यदि राजा हुक्म देता है कि उसकी सारी प्रजा काला कपड़ा पहने तो यह हुक्म क़ानून कहलायेगा। लेकिन कानून को हुक्म मानना सच्चाई का उलंघन करना है। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद में इसे हुक्म कहना सरासर ग़लत है। तानाशाही के अन्तर्गत आस्टिन का सिद्धान्त ठीक हो सकता है, लेकिन वह आम रूल नहीं बनाया जा सकता। क़ानून को हुक्म कहना जनता की राय को ठेस मारना है। जिस राज्य में क़ानून के पीछे जनता की राय नहीं होती, वह चन्दरोज़ा होता है। किसी भी समय वहाँ क्रान्ति

हो सकती है। वर्तमान प्रजातन्त्र राज्यों में प्रजा के प्रतिनिधि क़ानून को बनाते हैं। हर मामले में जनता का बहुमत लिया जाता है। सख़्त से सख़्त बादशाह इस बात की हिम्मत नहीं कर सकता कि वह मनमाना हुक्म देकर अपनी प्रजा को अपना दुश्मन बनावे।

दार्शनिक सिद्धान्त

२—इस सिद्धान्त के मानने वालों में जर्मन विद्वान् कान्ट (Kant) का नाम उल्लेखनीय है। यूनान में क़ानून एक प्रकार का इक़रार माना जाता था। सुक़रात जब क़ैद करके जेल में डाल दिया गया तो उसके चन्द साथियों ने यह सलाह दी कि वह जेल से भाग निकले। लेकिन उसने यह कह कर इनकार कर दिया कि वह क़ानून को नहीं तोड़ सकता। वह एक ऐसी शर्त है जिसे उसने स्वयं राज्य के साथ की है। इक़रार के अतिरिक्त क़ानून व्यक्ति की इच्छा को प्रकट करते हैं। व्यक्ति के तर्क पूर्ण विचारों का सग्रह क़ानून कहलाता है। फ्रांसीसी विद्वान् रूसो (Rousseau) ने क़ानून को जनता की राय कहा है। वह लिखता है कि क़ानून हमारी इच्छा को प्रकट करने के अतिरिक्त हमें बुरे मार्गों से बचा कर अच्छाई की ओर अग्रसर करते हैं। कान्ट का कहना है कि क़ानून व्यक्ति के सच्चे विचार हैं। इसकी उत्पत्ति हुक्म और दबाव के कारण नहीं हुई। जो बात सर्व-सम्मति से उचित है वही क़ानून माना गया। कुछ विद्वानों का कहना है कि मनुष्य के स्वभाव और प्राकृतिक नियम में कोई अन्तर नहीं है। उसका स्वभाव प्राकृतिक नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जब हम तर्क से काम लेते हैं तो प्राकृतिक नियमों पर ही पहुँचते हैं। लेकिन कुछ विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि प्राकृतिक नियम (Natural Law) और तर्क द्वारा बनाया गया नियम (Law of Reason) इन दोनों में भेद है। रोमन दार्शनिक भी इस भेद को मानते हैं। उन्होंने दोनों के लिये दो शब्दों का प्रयोग किया है। जो लोग दोनों को एक ही चीज़ समझते हैं उनका कहना है कि मनुष्य का स्वभाव प्रकृति के अनुकूल है। इसलिये वह जो कुछ विचार करेगा सब प्राकृतिक नियम के अनुसार होगा। कान्ट ने क़ानून को आध्यात्मिक विचार कहा है। इसीलिये उसे आदर्शवाद का पिता कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा में दैवी अंश मौजूद है उसी तरह क़ानून में ईश्वरीय अंश है। जो उसे तोड़ता है वह बहुत बड़ा पाप करता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले सरकार के भक्त होते हैं। बुरे क़ानूनों को तोड़ना प्रजा का

धर्म है। बहुत से ऐसे क़ानून बन जाते हैं जो हमारी इच्छा को प्रकट नहीं करते, उल्टे हमें हानि पहुँचाते हैं। अतएव उस अमानुषिक नियम के अन्दर आध्यात्मिकता की बू कहना मनुष्य और प्रकृति दोनों की हँसी उड़ाना है।

३—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सेभिनी और हेनरी मेन (Savigny and Sir Henry Maine) के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक सिद्धान्त के मानने वाले क़ानून को एक विकसित वस्तु मानते हैं। उनका कहना है कि क़ानून न तो हुक्म है और न आध्यात्मिक चिन्तन।

ऐतिहासिक सिद्धान्त

मनुष्य अनादि काल से समाज में निवास करता है। तभी से छोटे मोटे सामाजिक नियम प्रचलित हैं। ज्यों ज्यों समाज की उन्नति होती गई, उसी प्रकार नियम उपनियम बढ़ते गये। मनुष्य को अपनी आवश्यकतानुसार अपनी रहन-सहन बनानी पड़ी। भौगोलिक परिस्थिति के कारण उसके आचार-विचार एक दूसरे से भिन्न होते गये। जंगली जीवन से लेकर वर्तमान वैज्ञानिक युग तक इन रसम-रवाज़ों में अनेक परिवर्तन किये गये। इनमें कुछ तो सरकारी क़ानून मान लिये गये और शेष समाज में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं। यद्यपि उनके पीछे सरकारी शक्ति नहीं है, फिर भी धर्म और लोक लज्जा का भय उन्हें मज़बूत बनाये हुये हैं। तात्पर्य यह है कि क़ानून कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसकी उत्पत्ति रसम-रवाज़ों से भिन्न है। इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि एक के पीछे सरकारी शक्ति होती है और दूसरा लोकमत पर स्थिर रहता है।

४—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक फ्रांस के विद्वान् डूगिट (Duguit) हैं। १९११ ई० में इन्होंने क़ानून पर अपना विचार प्रकट किया। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की (Laski) इस सिद्धान्त से भली भाँति सहमत है। डूगिट लिखता है कि राजसत्ता कोई व्यक्तित्व नहीं रखती। इसलिये वह हुक्म देने में असमर्थ है। क़ानून को हुक्म मानना सच्चाई से दूर रहना है। इनका कार्य समाज को संगठित करना है। ये समाज की आवश्यकताओं को प्रकट करते हैं। राज्य के अन्दर बहुत से संगठन होते हैं। सभी अपनी उन्नति के लिये अलग अलग नियम बनाते हैं। उन्हीं नियमों को क़ानून कहना चाहिये। क़ानून की उत्पत्ति दो कारणों से होती है। एक तो मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की

संगठित सिद्धान्त

पूर्ति के लिये और दूसरे उनके आदान-प्रदान के लिये। जितने प्रकार के संगठन हैं उतने ही प्रकार के क़ानून होंगे। शासक उन्हीं की आवश्यकतानुसार कार्य करेगा। इनका उपयोग यही है कि सब लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। अधिकार और क़ानून से कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिकार नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। कर्त्तव्य का दूसरा नाम अधिकार है। कानून से किसी के अधिकार का आभास न होकर कर्तव्य का ज्ञान होता है। राजसत्ता इससे ऊपर नहीं है। कानूनों में परिवर्त्तन इसीलिये होते हैं कि सामाजिक संगठन का रूप बदलता रहता है। जिस क़ानून से जनता को लाभ नहीं पहुँचता और उससे किसी आवश्यश्यकता की पूर्ति नहीं होती वह रद्द कर दिया जाता है। राज्य के अन्तर्गत छोटे बड़े सभी कार्यकर्ता जनता की सेवा के लिये भर्ती किये जाते हैं। इन्हीं क़ानूनों द्वारा वे सेवा कार्य कर सकते हैं। डूगिट का यह सिद्धान्त वर्त्तमान वैज्ञानिक युग के सर्वथा अनुकूल है।

क़ानून के ज़रिये जब हम यह प्रश्न करते हैं कि क़ानून के कौन कौन से ज़रिये हैं, तो इसके तीन अर्थ हो सकते हैं:—

१—कानून को कौन बनाता है।

२—क़ानून का उद्गम स्थान क्या है। अर्थात् कहाँ से क़ानून जारी किये जाते हैं।

३—क़ानून क्यों बनते हैं?

क़ानून के ज़रिये समय समय पर बदलते रहते हैं। जैसा क़ानून है उसी के अनुकुल उसका ज़रिया होता है। अध्ययन की सुविधा के लिये अच्छा होगा कि चन्द ज़रियों का ज़िक्र कर दिया जाय। कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि "क़ानून का मूल्य उसके ज़रिये से लगाया जाता है। यदि इसका उद्गम स्थान जनता की राय है तो इसका पालन अधिक से अधिक होगा।" इस कथन में जनता की राय का मूल्य स्वीकार किया गया है। यदि क़ानून जनता की भलाई के लिये हैं तो उनका बनाना उसी की मर्ज़ी पर छोड़ देना चाहिये। हालैंड (Holland) लिखता है, "रसम रवाज़, जजों के फ़ैसले, वैज्ञानिक वादविवाद, धारा सभायें, और क़ानून पर नये विचार, कानून के मुख्य ज़रिये हैं।" लेकिन इनके अलावे कुछ और भी ज़रिये हैं। मोटे तौर पर क़ानून के सात ज़रिये माने जाते हैं।

१—रसम रवाज़ क़ानून का सबसे पुराना और प्रसिद्ध ज़रिया है।

रसम रवाज़ जब सरकारी क़ानूनों का नाम भी न था उस समय ये समाज में प्रचलित थे और लोग उन्हें आदर पूर्वक मानते थे। हर देश के प्राचीन इतिहास में उनका ज़िक्र किया गया है। आज भी, जब कि सरकारी क़ानूनों की कमी नहीं है, रसम-रवाज़ प्रचलित हैं और क़ानून से कम महत्व नहीं रखते। जब सरकारी व्यवस्था बनने लगी तो इन्हीं के आधार पर क़ानूनों की रचना हुई। रोम, यूनान, इङ्गलैंड, हिन्दोस्तान आदि देशों में प्राचीन काल से रसम रवाज़ों का विशेष प्रचार है। इङ्गलैंड में कुछ ऐसे क़ानून हैं जिन्हें 'रसम रवाज़ी क़ानून' (Customary Law) कहा जाता है। यहाँ पर दो प्रश्न किये जा सकते हैं :—

अ—रीति रवाज़ क़ानून कैसे बनते हैं ?

ब—रीति रवाज़ क़ानून कब बनते हैं ?

कुछ जर्मन विद्वानों का मत है कि क़ानून और रसम रवाज़ में कोई भेद नहीं है। एक से राजा की इच्छा प्रकट होती है और दूसरे से प्रजा की। चूँकि दोनों की शक्ति बराबर है इसलिये क़ानून और रसम रवाज़ एक ही चीज़ है। धारा सभाओं ने रसम रवाज़ों को क़ानून का रूप दे दिया। आस्टिन का कहना है कि यदि रवाज़ और क़ानून एक ही चीज़ है तो एक को दूसरे का रूप देने की क्या आवश्यकता है। वर्तमान अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों का मत है कि जब कोई रवाज़ सरकार द्वारा मान लिया जाता है तो वह क़ानून कहलाता है। इसकी स्वीकृति या तो धारा सभायें देती हैं अथवा सरकारी कचहरियाँ। जो कुछ भी हो, रसम रवाज़ क़ानून के बनने में काफ़ी मदद देते हैं।

२—क़ानून का दूसरा ज़रिया वैज्ञानिक वादविवाद है। विद्वान् जब सामाजिक व्यवस्था पर अपना विचार प्रकट करते हैं तो पत्र-पत्रिकाओं में उन पर टीका-टिप्पणी होती है। बड़े बड़े वक़ील वैरिस्टर उनका विरोध या समर्थन करते हैं। इसमें कुछ ऐसी बातें निकल आती हैं जिन्हें बिना किसी विरोध के क़ानून मान लिया जाता है। सरकार और जनता दोनों एक स्वर से उनका समर्थन करती हैं। चाणक्य ने अपने "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" में जो विचार प्रकट किया है उसका प्रभाव भारतीय क़ानूनों पर कम नहीं है।

वैज्ञानिक वादविवाद

३—सरकारी कचहरियों को यह अधिकार है कि अवसर पड़ने पर क़ानून बना सकती हैं। कुछ ऐसे मुक़दमें कचहरियों में आ जाते हैं जिन्हें फ़ैसला करने के लिये जजों को अपनी बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उन्हें नये क़ानून बनाने पड़ते हैं।

कचहरियों के फ़ैसले

४—धर्म सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने धार्मिक नियमों का पालन करता है। सरकार इस बात का ध्यान रखती है धारा सभाओं के क़ानून इनके विरुद्ध न हों। जब कभी कोई आर्थिक क़ानून बनता है तो इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि वह धर्म के विरुद्ध न हो। मनुस्मृति, क़ुरान तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का उपयोग सरकारी क़ानूनों में कम नहीं किया जाता। ईसाई तथा हिन्दू क़ानून को 'ईश्वर की देन' समझते हैं। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था धर्म के आधार पर बनाई गई है, इसलिये सरकारी क़ानूनों में उनका विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है। कचहरियों में आज भी गवाहों से शपथ लेने की प्रथा है। यद्यपि यह एक धार्मिक विश्वास है, परन्तु इसका प्रभाव क़ानूनी फ़ैसलों पर कम नहीं पड़ता। हिन्दुओं में पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकारी धर्म और क़ानून दोनों से एक होता है। सरकारी योजना धार्मिक नियमों का ध्यान रखते हुये बनाई जाती है।

धर्म

५—क़ानून बनाने का अधिकार धारा सभाओं को दिया गया है। आरम्भ में राजा अपने मन्त्रियों की सलाह से क़ानून बनाता था। जब जनता के अधिकारों की वृद्धि हुई तो यह अधिकार प्रजा को दे दिया गया। उसी के प्रतिनिधि इस कार्य को करते हैं। अपने बनाये हुए क़ानूनों की सरकार रक्षा करती है और उन्हें तोड़ने वालों को कड़ा दंड देती है।

धारा सभाओं के क़ानून

६—ऊपर कहा गया है कि कचहरियों के फ़ैसले भी क़ानून के ज़रिये हैं। आवश्यकतानुसार न्यायाधीश क़ानूनों का निर्माण कर सकते हैं। बड़ी कचहरियों के फ़ैसले का अनुकरण छोटी कचहरियाँ करती हैं। यद्यपि वे इसके लिये बाध्य नहीं हैं, फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। इस अनुकरण से कितने ही क़ानून बनते रहते हैं।

न्यायानुकरण

अंग्रेज़ी में इस प्रकार के क़ानूनों को प्रीसीडेन्ट्स (Precedents) कहते हैं।

न्याय संशोधन

७ - क़ानून तब तक काम करते हैं जब तक सामाजिक व्यवस्था उनके अनुकूल रहती है। दो हज़ार वर्ष का पुराना क़ानून आज काम नहीं कर सकता। जिन क़ानूनों का हम पालन कर रहे हैं वे एक या दो शताब्दी बाद बेकार हो जाते हैं। मनुष्यों के विचारों में अन्तर पड़ने के कारण उनके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। चूँकि क़ानून व्यक्तियों के सम्बन्ध को निश्चित करने के लिये बनाये जाते हैं इसलिये यह स्वाभाविक है कि इसके साथ क़ानून बदलते रहें। इसीलिये क़ानूनों में संशोधन की आवश्यकता पड़ती है। पुराने क़ानूनों को नया रूप देना पड़ता है। कभी कभी तो इसके लिये एक अलग न्यायालय बनाना पड़ता है, जिसका काम पुराने क़ानूनों की उपयोगिता पर विचार करना है। रोम साम्राज्य में प्रीटर (Praetor) की स्थापना इसी के लिये हुई थी। यह किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, बल्कि एक पद है। इंगलैंड में चान्सलर (Chancellor) इसीलिये नियुक्त किये जाते थे कि पुराने क़ानूनों में संशोधन करें। इससे भी कितने ही नये क़ानून बनते रहते हैं। अंग्रेज़ी में इस प्रकार के क़ानून को इक्यूटी (Equity) कहते हैं।

क़ानून का पालन

"क़ानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के शत्रु हैं।"* यदि हम इस कथन को सत्य मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में हम क़ानून का पालन क्यों करते हैं ? जिन क़ानूनों से हमारी स्वतन्त्रता नष्ट होती है उन्हें हम क्यों मानते हैं ? इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कहना है कि क़ानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। क़ानून का पालन स्वतन्त्रता की सीढ़ी है। इस कथन के अनुसार एक दूसरे का पूरक है। स्वतन्त्रता के अर्थ को न जानते हुये भी आम-जनता क़ानूनों का पालन करती है। इसका भी हमें कारण जानना होगा। यह प्रश्न क़ानून तक ही सीमित नहीं है। आज्ञा पालन एक गुण है। यदि समाज में इसकी व्यवस्था न हो तो मनुष्य संगठित नहीं रह सकता। कुटुम्ब से राज्य तक आज्ञा पालन का भाव पाया जाता है। यह प्रश्न विचारणीय है कि क़ानूनों का पालन क्यों होता है।

---

* Law and Liberty are Poles asunder.

कुछ लोगों का मत है कि क़ानूनों का पालन भय के कारण होता है। लोग डरते हैं कि यदि वे क़ानून को तोड़ेंगे तो सरकार उन्हें दंड देगी। इसमें कोई शक नहीं, कि अधिकतर लोग क़ानूनों का पालन इसीलिये करते हैं। जो मूर्ख और अज्ञानी हैं, जिन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है, वे औरों को हानि पहुँचाते हैं। क़ानून के भय से उनकी बेजा हरकतें काफ़ी अंश तक रोक दी जाती हैं। यद्यपि वे क़ानूनों को पसन्द नहीं करते और इक्के दुक्के उन्हें तोड़ते रहते हैं, फिर भी ज़ाहिरा तौर पर उन्हें इनका पालन करना ही पड़ता है। इसका एक मात्र कारण भय है। लगभग ६० प्रतिशत लोग दंड के भय से क़ानूनों का पालन करते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है कि इनके तोड़ने से दूसरों के अधिकार में बाधा पड़ती है। क्षणिक लाभ के सामने वे नीति की परवाह नहीं करते। बहुसंख्यक प्राणी व्यक्तिगत लाभ को नीति, धर्म, न्याय और कर्तव्य से बढ़कर समझते हैं।

भय

क़ानून के पालन का तीसरा कारण तर्क है। कुछ व्यक्ति, जिनकी संख्या कम नहीं है, तर्क पूर्वक यह विचार करते हैं कि क़ानूनों से उन्हें हानि है अथवा लाभ। अपने समान वे औरों के हित पर भी विचार करते हैं। इस विषय में वे एक मत हैं कि क़ानूनों की अनुपस्थिति में व्यक्तिगत और सामाजिक सुखों का अन्त हो जायगा। देश में अराजकता फैलेगी। शान्ति पूर्वक कार्य करने का अवसर जाता रहेगा। मनुष्य को अपनी पुरानी जंगली अवस्था में रहना होगा। इसलिये बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि क़ानूनों का आदर करें।

तर्क

समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सोचने विचारने की तकलीफ़ नहीं उठाना चाहते। उन्हें सभी बातों में हामी भरना अच्छा लगता है। 'नहीं' कहने की तकलीफ़ उन्हें पसन्द नहीं है। दूसरों की बनी बनाई चीज़ को वे इसलिये पसन्द कर लेते हैं कि स्वयं बनाने में तकलीफ़ होगी। औरों की राय को बिना किसी तर्क वितर्क के वे चुपचाप मान लेते हैं। अधिकतर लोग तकलीफ़ उठाने से डरते हैं। क़ानून बनाना और उसे तोड़ना दोनों ही मुश्किल है। दोनों में बुद्धि और साहस की आवश्यकता है। काहिल आदमी इनमें से एक भी नहीं कर सकता।

काहिली

ब्राइस (James Bryce) तो यहाँ तक लिखता है कि हर ६ आदमी में ५ आदमी काहिली के कारण क़ानूनों का पालन करते हैं।

सहानुभूति

क़ानून पालन का दूसरा कारण सहानुभूति है। अधिकतर लोगों में यह गुण पाया जाता है कि वे औरों के प्रति दयालु होते हैं। दूसरों से प्रेम करना उनका स्वाभाविक गुण होता है। क़ानून के कारण उन्हें शान्त वातावरण मिलता है। लोग मर्यादा के अन्दर अपना काम करते हैं। ऐसे वातावरण में उन्हें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने का अवसर मिलता है। उनकी अभिलाषा होती है कि लोगों में अधिक से अधिक समभाव हो। क़ानूनों में समानता का भाव सबसे अधिक है। इन्हीं सब कारणों से वे क़ानून का पालन करते हैं। उनकी सहानुभूति जैसे मनुष्यों के प्रति होती है वैसे ही क़ानूनों के प्रति। सहानुभूति के अन्दर मर्यादा का भाव होता है। हम अपने बड़ों की बातें इसलिये मानते हैं कि हम उनकी इज़्ज़त करते हैं। उनकी आज्ञा हमें शिरोधार्य होती है। साधु सन्तों की बातें सब को भली लगती हैं। क़ानून बनाने वालों को हम अपने से बुद्धिमान और देशहितैषी समझते हैं। इसी सहानुभूति और मर्यादा के कारण हम क़ानूनों का पालन करते हैं।

स्वभाव

नियम पालन मनुष्य का स्वभाव है। अनियमित जीवन किसी को अच्छा नहीं लगता। समाज की रचना अनादि काल से होने के कारण मनुष्य नियमों को अपना स्वभाव समझता है। ईश्वर में अधिकतर लोगों के विश्वास का कारण सामाजिक परम्परा है। हम समाज की बहुत सी बातों को इसलिये मानते हैं कि हमें उनकी आदत पड़ गई है। इन्हें सिखलाने के लिये कोई स्कूल और पाठशालायें नहीं है, फिर भी सारा समाज इनका शिक्षक है। स्वभाव के अन्तर्गत कुछ और भी ऐसी बातें हैं जिन्हें हम क़ानून-पालन का कारण कह सकते हैं। आज्ञा पालन का भाव कुटुम्ब से आरम्भ होता है, इसीलिये लोग क़ानून पालन के आदी होते हैं। धार्मिक उपदेशों में आज्ञा पालन का भाव अधिक है।

क़ानून के अन्तिम उद्देश्य

क़ानून का अन्तिम उद्देश्य क्या है इस पर पाउन्ड के विचार सबसे सुलझे हुये हैं। उसने क़ानून के मुख्य चार उद्देश्य निर्धारित किये हैं।

१—क़ानून का प्रथम उद्देश्य राज्य में शान्ति रखना है। जब तक राज्य में शान्ति नहीं है तब तक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता।

२—क़ानून का दूसरा उद्देश्य राज्य में समता उत्पन्न करना है। धनी ग़रीब का अन्तर सरकार की दृष्टि में तभी तक है जब तक दोनों शान्तिपूर्वक एक दूसरे का ध्यान रखते हुए अपना कार्य करें। चूँकि यह बात स्वाभाविक नहीं है, इसलिये सरकार अपनी संस्थाओं में इनमें कोई भेद भाव नहीं करती। कचहरियों में दोनों समान समझे जाते हैं। टैक्स की यह नीति है कि धनियों से अधिक और ग़रीबों से कम लिया जाय, ताकि आर्थिक विषमता दूर हो। क़ानून दंड देने में किसी तरह का पक्षपात नहीं करते। इसी के भय से बलवान कमज़ोरों को और बुद्धिमान मूर्खों को दबा नहीं सकता। सरकार अपनी ओर से सबको समान अवसर देती है। यदि क़ानून न हों तो समता के अभाव के कारण मनुष्य का जीवन दुखी और चिन्तित हो जाय।

३—व्यक्तित्व की रक्षा और उसका विकास क़ानून का तीसरा उद्देश्य माना गया है। रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति को अपने कार्यों में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो। आन्तरिक शक्तियों की वृद्धि व्यक्तित्व का विकास कहलाता है। क़ानून मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये हैं। यह तभी सम्भव है जब उसकी बेजा हरकतें रोक दी जायँ और बुरे कामों के लिये उसे दंड दिया जाय। क़ानून के अन्दर व्यक्तियों के संगठन का भाव अधिक होना चाहिये जिससे सेवा आदि कार्यों को करते हुये वे अपने व्यक्तित्व को बढ़ा सकें।

४—भौतिकवाद के युग में सभी सिद्धान्त लाभ और हानि की कसौटी पर कसे जाते हैं। जिस नियम से व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है वही अच्छा समझा जाता है। व्यक्तित्व के विकास और अन्तःशक्तियों की उन्नति पर उतना ज़ोर नहीं दिया जाता जितना बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर। बहुतों का विश्वास है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उद्योग धन्धों की रक्षा क़ानून का उद्देश्य है।

दंड के सिद्धान्त

कुछ लोगों का विचार है कि क़ानून केवल दंड देने के लिये बनाये जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि क़ानून के तोड़ने वाले दंड के भागी होते हैं परन्तु यह कार्य साधन मात्र है। प्रश्न यह है कि दंड क्यों दिया जाता है?

इसकी आवश्यकता क्यों है ? लोगों को अपराध करने पर समझा बुझा कर छोड़ दिया जाय तो इसमें क्या हानि है ? सरकार क्यों जेलों में लोगों को भर कर व्यर्थ का ख़र्च बर्दाश्त करती है ? इन प्रश्नों पर लोगों के विभिन्न मत हैं। इन्हीं को दंड का विभिन्न सिद्धान्त कहा गया हैं। इनके अन्दर यह भी वर्णन किया गया है कि दंड का स्वरूप क्या हो और किस सीमा तक वह दिया जाय। अमानुषिक दंड का तात्पर्य क्या है ? शारीरिक दंड तथा मानसिक दंड में क्या अन्तर है ? इनका मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इत्यादि बातों का वर्णन दंड सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है। इन सब का विस्तृत वर्णन करना अपने विषय से दूर हट जाना होगा। इसलिये केवल लाक, रूसो, बेन्थम, ग्रीन तथा ओपेनहैम के विचारों का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। इन्हीं के अन्दर दंड के लगभग सभी सिद्धान्त आ जाते हैं।

लाक के कथनानुसार दंड के चार उद्देश्य माने गये हैं।

१—दंड उतना ही मिलना चाहिये जितना अपराधी सहन कर सके। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अपराध और दंड दोनों का अनुपात बराबर हो। जैसा छोटा बड़ा अपराध हो उतना ही कम बेश दंड दिया जाय। किसी की जेब से चार पैसे निकालने वाले को फाँसी की सज़ा नहीं मिलनी चाहिये। इसके अतिरिक्त दंड देने में किसी प्रकार का व्यक्तिगत पक्षपात नहीं होना चाहिये। दंड न्याय के लिये दिया जाता है। इसका उद्देश्य समाज की भलाई करना है।

२—जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोहों में झगड़ा होता है तो उस व्यक्ति वा गिरोह को दंड दिया जाता है जिसने हानि पहुँचाई है। इसके अन्दर एक मनो वैज्ञानिक भाव है। यद्यपि अपराधी को दंड देने से उसके विपक्षी को कुछ मिलता नहीं, फिर भी उसे सन्तोष होता है।

३—दंड से अपराध करने वाले को इस बात की चेतावनी दी जाती है कि आइन्दा ऐसा नहीं करना चाहिये। दंड देते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि अपराधी इससे यह सबक सीखे कि भविष्य में वह ऐसा नहीं करेगा।

४—दंड के पीछे समाजहित का भाव रहता है। जब किसी को कुछ दंड दिया जाता है तो उसकी चेतावनी के साथ औरों को इस बात की नसीहत मिलती है कि उन्हें भी ऐसा नहीं करना चाहिये। अपराधी के

कष्ट से औरों को भी लाभ पहुँचता है। वे अपराध करने से डरते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपराध कम होने से दंड की आवश्यकता कम पड़ती है। फाँसी की सज़ा से अपराधी को अपने सुधार का अवसर नहीं दिया जाता, परन्तु इससे दूसरों को एक बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है।

रूसो का कहना है कि दंड का उद्देश्य मनुष्य को स्वतन्त्र करना है। जब वह बन्धन में पड़ जाता है और उससे निकल नहीं सकता, तब सरकार उसे दंड द्वारा मुक्त करती है। वह लिखता है कि व्यक्ति के अन्दर अच्छे और बुरे दो प्रकार के विचार होते हैं। राज्य की स्थापना व्यक्तियों के अच्छे विचारों के सम्मिलन से हुई है। राजसत्ता अच्छे विचारों की एक गठरी है और इसका उद्देश्य बुरे विचारों को दबाना है। सरकार सब कुछ व्यक्ति की भलाई के लिये करती है। दंड भी इसीलिये दिया जाता है कि बुरे विचार दब जायँ। तभी व्यक्ति सुकर्म करने में स्वतन्त्रता का अनुभव करेगा। इसीलिये क़ानूनों का हृदय से पालन करना चाहिये।

रूसो

वेन्थम के कथनानुसार दंड के निम्नलिखित विधान होने चाहिये :—

१ - दंड सब के लिये समान नहीं होना चाहिये। आयु तथा वर्ग के अनुसार इसका विधान अलग अलग बनना चाहिये। स्त्री, पुरुष तथा वालक को समान दंड देना अन्याय है।

२—दंड, अपराध के अनुपात से मिलना चाहिये। अपराध बड़ा है तो दंड सख़्त हो, और यदि मामूली है तो दंड भी साधारण होना चाहिये।

३—जितने प्रकार के अपराध हों उतने ही प्रकार के दंड होने चाहिये।

४—दंड से अपराधी को आत्मग्लानि होनी चाहिये कि यह उसके कुकर्मों का फल है। इसी से वह आगे के लिये चैतन्य होगा।

५—अमानुषिक दंड कभी नहीं मिलना चाहिये। इसकी मात्रा वहीं तक ठीक है जहाँ तक अपराधी अपने क़सूर को महसूस करले, और दूसरे भी इससे सचेत हो जायँ।

६—दंड का विधान सूत्रवत होना चाहिये। अर्थात् इसका प्रभाव अपराधी पर ऐसा हो जिससे वह कम से कम दंड को अधिक समझे।

७—दंड के पीछे सुधार की भावना आवश्यक है। इसका एक मात्र उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है।

८—अपराधी ने अपने विपक्षी को जितनी हानि पहुँचाई है उसी मात्रा में वह दंड का भागी है।

९—जंगली सभ्यता जाती रही। अब दंड ऐसा नहीं दिया जा सकता जिससे अपराधी सर्वदा के लिये असमर्थ हो जाय। इसका विधान समय और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। पुराने ज़माने में अपराधी के हाथ पैर काट लिये जाते और वे ज़िन्दे ही दीवारों में चुन दिये जाते थे। उन्हें ज़िन्दा जला दिया जाता था। मौर्यकाल का दंड विधान भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। बीसवीं सदी में उस प्रकार के दंड नहीं दिये जा सकते।

१०—दंड विधान को पत्थर की लकीर नहीं बनानी चाहिये। मनुष्य की सभ्यता और उसके विचारों के साथ इसका स्वरूप भिन्न भिन्न होना चाहिये। दंड देते समय न्यायाधीश अपराधी की रहन सहन का ध्यान रखता है। क़ानून में इस बात की गुंजाइश हो कि जब अपराधी अपनी ग़लती महसूस कर ले तो वह दंड से मुक्त कर दिया जाय।

११—दंड का स्वरूप साधारण होना चाहिये, ताकि लोग इसे आसानी से समझ सकें। टेढ़े और उलझे हुए दंड विधान अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते।

आदर्शवाद के मानने वालों ने दंड का उद्देश्य इन सब से भिन्न ठहराया है। उनका कहना है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाना है। हमारे बाहरी उद्योग धंधों का महत्व वहीं तक है जहाँ तक हम अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। ऐसी दशा में राज्य की ओर से अमानुषिक दंड सर्वथा वर्जित हैं। राजनैतिक संगठन में व्यक्ति ने अपने आप को इसीलिये बाँधा है कि उसे निवृत्त और मुक्त होने में आसानी हो। दंड देने का तात्पर्य यह नहीं है कि अपराधी की अन्तरात्मा कुचल दी जाय अथवा अंग भंग करके उसका जीवन भार बना दिया जाय। इस प्रकार के दंड तभी तक दिये जाते थे जब तक मनुष्य की प्रवृत्तियों का ठीक ठीक अध्ययन नहीं हुआ था। आदर्शवादी होने के नाते ग्रीन ने दंड का दो उद्देश्य ठहराया है :—

ग्रीन
T. H. Green

१—दंड एक साधन है जो अपराधी को सही रास्ते का ज्ञान कराता है। इसका उद्देश्य यह है कि वह बुरे रास्ते से हटाकर अच्छे मार्ग पर

कर दिया जाय। इसकी मात्रा वहीं तक उचित है जहाँ तक अपराधी अपनी भूल को क़बूल करले और आइन्दा ऐसा न करे।

२—दंड का दूसरा उद्देश्य सुधार है। सरकार किसी व्यक्ति को परीशान करने के लिये दंड नहीं देती। यह एक प्रकार की शिक्षा है जिससे अपराधी को अपनी ग़लतियों का ज्ञान होता है। इसलिये दंड का विधान सुधार की दृष्टि से बनना चाहिये।

ओपेनहैम

प्राचीन और नवीन दंड विधान में ज़मीन आसमान का अन्तर है। पुराने समय में अंग भंग का दंड देना साधारण समझा जाता था। छोटे छोटे अपराधों के लिये लोगों के हाथ पैर काट लिये जाते थे। सभ्यता की वृद्धि के साथ दंड का स्वरूप बदलता गया। आज कल अमानुषिक दंड मनुष्यत्व के विरुद्ध समझे जाते हैं। कालापानी, फांसी, कालकोठरी आदि सज़ायें एक स्वर से निन्दनीय ठहराई जाती हैं। कुछ सभ्य देशों में ऐसे दंडों का विधान नहीं है। ओपेनहैम लिखता है कि दंड देना राज्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके बिना नागरिक की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। दंड एक प्रकार का धार्मिक कर्त्तव्य है जो व्यक्तित्व के विकास के लिये अनिवार्य है। सुकरात के कथनानुसार दंड एक प्रकार का इक़रार है, जिसे तोड़ना सर्वथा अनुचित है। यह अपराधी का एक अधिकार है, जिसे राज्य वंचित नहीं कर सकता। दंड की दूसरी आवश्यकता अपराधी के सुधार की है। जब किसी को दंड दिया जाता है तो वह भय तथा लज्जावश फिर अपराध करने से डरता है। दूसरे लोग भी उस से सबक़ सीखते हैं। इससे अपराधों की संख्या कम होती है। कुछ लोग दंड को अपराध का अन्त कहते हैं। लेकिन अधिकतर लोग इसे साधन मात्र समझते हैं। दंड से अपराधी का सुधार होता है, राज्य में शान्ति रहती है, और अपराधों की संख्या कम होती है।

स्वाभाविक क़ानून Natural Law

स्वाभाविक क़ानून के विषय में विद्वानों का मतभेद है। कुछ लोगों का विचार है कि प्राकृतिक नियमों को क़ानून समझना मूर्खता है। प्रकृति प्राणीमात्र की चिन्ता स्वयं करती है, हमें उससे सतर्क होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक जगत की गति जिन नियमों के अनुसार होती है वे अटल और दुरूह हैं। भौतिक जगत उनका अनुकरण नहीं कर सकता।

सूर्योदय, सूर्यास्त, दिन, रात, सर्दी, गर्मी, भूचाल, विपत्तियाँ—इन सब के पीछे एक प्राकृतिक नियम है, जिसे समझना कोई खेल नहीं है। यद्यपि इनके लिये कोई न्यायालय अथवा सरकारी विधान नहीं है, फिर भी इन्हें तोड़ने वालों को प्रकृति स्वयं दंड देती है। आवश्यकता से अधिक भोजन करने वाला बीमार पड़ जाता है। समय के अनुसार जो काम नहीं करता वह रोगी और दुर्बल होता है। भूख और प्यास की अवहेलना करने वाला मृत्यु का भागी समझा जाता है। अर्थात् प्राकृतिक नियम सरकारी क़ानूनों से बड़े होते हैं।

स्वाभाविक नियम के इस अर्थ से कुछ लोग सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि ये नियम दो प्रकार के हैं। एक मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है और दूसरा वाह्य जगत में। जो वाह्य जगत में काम करता है उसे प्राकृतिक नियम और जो मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है उसे स्वाभाविक क़ानून कहते हैं। प्रश्न यह है कि ये स्वाभाविक क़ानून क्या हैं ? तर्क का दूसरा नाम स्वाभाविक क़ानून है। मनुष्य किसी बुरे मार्ग पर चलता है तो उसकी शुद्ध बुद्धि उसे रोकती है। चोरी, व्यभिचार, बेईमानी—इन्हें करने में लोग आरम्भ में हिचकते हैं। जो शक्ति मनुष्य को इन बुराइयों से रोकती है वह स्वाभाविक क़ानून कहलाती है। उसी को कोई बुद्धि, कोई तर्क, और कोई अन्तरात्मा कहता है। यह आम कहावत है कि जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ पर चलता है वह अपना और समाज दोनों का भला करता है। अर्थात् स्वाभाविक क़ानून इतने अच्छे हैं कि प्रत्येक मनुष्य को इनका पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के मानने में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। मनुष्य अपने तर्क और बुद्धि से सब कुछ करता है। फिर एक ही स्वाभाविक क़ानून किसी को अच्छे और किसी को बुरे मार्ग पर क्यों ले जाते हैं ? जब प्राकृतिक नियम दृढ़ हैं तो इन्हें कोई कैसे तोड़ता है ? रोम के विद्वानों ने प्राचीन काल में स्वाभाविक क़ानूनों के पालन पर ज़ोर दिया है और इस पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं।

सरकारी क़ानूनों के अन्तर्गत स्वाभाविक क़ानूनों का वर्णन असंगत है। प्राकृतिक नियमों को क़ानून कहना ही ग़लत है। स्वभाव और क़ानून में सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु स्वभाव अच्छे और बुरे दोनों होते हैं, लेकिन क़ानून बुरे नहीं होते। यदि वे बुरे हैं तो उन्हें क़ानून कहना ही ग़लत है। प्राचीन तथा मध्य काल में लोग प्रकृति के उपासक थे। सामाजिक

संगठनों में प्राकृतिक अथवा दैवी नियमों को अधिक महत्व दिया जाता था। जो व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करता, और ईश्वर के सहारे रहता, वह समाज में आदर का पात्र गिना जाता था। अब भी यह भावना कम नहीं है। चूँकि आधुनिक युग भौतिकवाद का युग है इसलिये प्रकृति अथवा स्वाभाविक नियम 'क़ानून' के अन्तर्गत नहीं गिने जाते। 'क़ानून' शब्द कोई गोल माल की चीज़ नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज को चलाने के लिये सरकार की ओर से जो नियम चालू किये गये हैं वे क़ानून कहलाते हैं। इसके पीछे सरकार और समाज दोनों की संगठित शक्ति होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून
International Law

जब दो या दो से अधिक देश एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हें कुछ ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जिनसे आपस में कोई मतभेद न हो। व्यापार, युद्ध, सन्धि, आवागमन आदि विषयों में नियमों की आवश्यकता पड़ती है। कुछ देशों की सरकारें आपस के सहयोग से यह निश्चित करती हैं कि यदि कभी उनमें वैर विरोध हो तो उसका निपटारा अमुक प्रकार से किया जाय। इससे भी काम न चले और युद्ध अवश्यम्भावी हो तो उस दशा में भी चन्द नियमों का पालन किया जाय। जैसे लड़ाई के समय बेगुनाह और निष्पक्ष व्यक्तियों पर प्रहार न किया जाय। स्त्री, बालक, वृद्ध, तपस्वी—इनको किसी तरह की हानि न पहुँचाई जाय। ज़हरीली गैस, आग, तथा अन्य विध्वंसक साधनों का प्रयोग न किया जाय। अस्पताल, स्कूल, मन्दिर, पंचायत घर, तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं पर शत्रु का कोई वर्ग आक्रमण न करे। इसी तरह के कुछ नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी बनाये गये हैं।

कुछ राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को क़ानून की श्रेणी में नहीं गिनते। सरकारी क़ानूनों के पीछे फ़ौज, पुलीस, कचहरी, आदि शक्तियाँ व्यक्ति को उनके पालन के लिये वाध्य करती हैं। राज्य के अन्तर्गत बड़े से बड़े व्यक्ति वा गिरोह को बिना किसी परिवर्तन के उनका पालन करना पड़ता है। धारा सभाओं में प्रजा के प्रतिनिधि क़ानूनों पर हर पहलू से विचार करते हैं और जब लोकमत उनके विरुद्ध नहीं होता, तब उन्हें कार्यान्वित किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों पर विचार करने के लिये न तो कोई धारा सभा है और न उनके पीछे कोई शक्ति है। बड़े बड़े राष्ट्र जब उनका उलंघन करते हैं तो कमज़ोर राष्ट्रों को उसे सहन करना

पड़ता है। इन्हें तोड़ने वालों को दंड देने के लिये किसी न्यायालय की व्यवस्था नहीं है। जिस प्रकार धार्मिक वा सामाजिक नियमों का उलंघन करने पर किसी को दंड देने की व्यवस्था नहीं है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों का पालन राष्ट्रों की सद्भावना (Good will) पर छोड़ दिया गया है। जब तक वे नियम उनके हित में बाधक नहीं हैं तब तक वे उन्हें मानते हैं, परन्तु प्रत्येक दशा में उनका पालन करने के लिये वे वाध्य नहीं हैं। किसी देश पर विजय प्राप्ति की अभिलाषा से आक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विरुद्ध है। लेकिन पिछले ५० वर्षों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि बहुत थोड़े राष्ट्र इसका पालन करते हैं। यदि इन्हें पालन करने के लिये किसी शक्ति की व्यवस्था होती तो इतना अधिक इनका दुरुपयोग न होता।

१६१४ की बड़ी लड़ाई के बाद राष्ट्र संघ को यह भार सौंपा गया कि वह अन्तर्राष्ट्री क़ानूनों का संकलन करे और उनके पालन की कोई तरकीब सोचे। राष्ट्र संघ ने किसी हद तक इस कार्य को किया परन्तु स्वयं असफल होने के कारण इसकी पूर्ति न कर सका। अभी तक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जो इन नियमों को क़ानून का रूप देकर राष्ट्रों को इनके पालन के लिये वाध्य करे। वर्तमान युद्ध की व्यापकता और भयंकरता को देखते हुये विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था जब तक दृढ़ न होगी तब तक संसार में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। संसार की राजनैतिक व्यवस्था एक हो, अथवा सबका एक संघ हो—इस प्रकार की आवाज़ योरप और अमेरिका से आने लगी है। बड़े बड़े नेता और राष्ट्रों के कर्णधार यह एलान कर रहे हैं कि संसार की नवीन व्यवस्था (New World Order) अमुक प्रकार की होगी। भविष्य में न केवल क़ानून बल्कि अन्तर्राष्ट्रीयता के सभी पहलुओं पर विशेषरूप से अमल करना होगा।

क़ानून और स्वतन्त्रता
Law and Liberty

क़ानून का पालन सबके लिये अनिवार्य है। और कामों को हम मनमाना कर सकते हैं, परन्तु क़ानूनों में उलटफेर करने की स्वतन्त्रता किसी को नहीं है। बीमार से बीमार अपराधी को जेल यातनायें भोगनी पड़ती हैं; ग़रीब, दुखी, मज़दूर, इन सबको सरकारी टैक्स देना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि क़ानून एक ऐसा बन्धन है जिससे कोई मुक्त नहीं है। अपराधी को यह कहने का

अधिकार नहीं है कि उसे अमुक क़ानून की जानकारी न थी। क़ानून किसी को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं देते कि वह दूसरों की सम्पत्ति का मालिक बन बैठे अथवा उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुँचाये। वे सबको इस बात के लिये वाध्य करते हैं कि अपने स्वार्थ के साथ लोग दूसरों के अधिकारों का ध्यान रक्खें। अपने कर्तव्य से आँख चुराने वाला दंड का भागी समझा जाता है। मनुष्य का स्वभाव अपनी ग़लतियों को छिपाने में कुशल होता है। वह नहीं चाहता कि उसके घृणित काम दूसरों की नज़र में आवें। लज्जा और दंड के भय से वह एक ग़लती को छिपाने के लिये सैकड़ों ग़लतियाँ करता है। लेकिन जब कभी वह क़ानून के चंगुल में फँस जाता है तो उसके कार्य का भंडाफोर समाज में बुरी तरह होता है। इन्हीं सब कारणों से क़ानून को स्वतन्त्रता का शत्रु कहा जाता है।

'स्वतन्त्रता' नामक अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता हानिकर है। जिन कार्यों से एक दूसरे को बाधा पड़ती है उन्हें रोकना समाज का धर्म है। पैशाचिक स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिये घातक है। चोरी, व्यभिचार, लूट, मार आदि कार्यों के लिये व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो उसकी दशा पशु से भी बुरी होगी। न केवल औरों को बल्कि अपने आप को भी वह ऊँचा नहीं उठा सकता। क़ानून की व्यवस्था इसीलिये की गई है कि मनुष्य अपनी कमज़ोरियों का समाज में अमल न करे। वह धार्मिक वा वैज्ञानिक उपायों से अपने आप को इस योग्य बनाये कि उसके जीवन से किसी की हानि न हो। जब तक मनुष्य इस सतह पर नहीं आ जाता तब तक उसे सभ्य होने का अवसर नहीं मिल सकता। क़ानून उसे इस बात की शिक्षा देते हैं कि वह अपने को दूसरों से अलग न समझे। जिस प्रकार एकान्त में ईश्वर और आत्मा के भय से एक तपस्वी कोई बुरा विचार मन में नहीं लाता, उसी तरह क़ानून और दंड के भय से मनुष्य समाज में कुत्सित कर्म करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है।

क़ानून और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। जिस स्वतन्त्रता का क़ानून विरोध करते हैं वह जंगली और पैशाचिक है। कोई सभ्य और सुशिक्षित मनुष्य उसका समर्थन नहीं कर सकता। समाज में शान्ति, सुख और सौजन्य का भाव पैदा करने का श्रेय क़ानूनों को है। जो लोग इनका विरोध करते हैं वे या तो अपना विचार चन्द सरकारी कर्मचारियों की बेजा हरकतों पर अथवा अपनी स्वार्थ पिपासा पर बनाते हैं। साधु-

सन्यासियों को फ़ौज, पुलीस, जेल तथा अन्य व्यक्तियों वा संस्थाओं का भय नहीं होता। वे अपनी इच्छानुसार सर्वत्र विचरण करने के लिये स्वतन्त्र हैं। समाज में सब लोग उनका आदर करते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वे अपने क्रिया कर्म द्वारा इन्द्रियों का इतना दमन करते हैं कि लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ आदि कमज़ोरियाँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं। तभी समाज में उन्हें स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। चूँकि साधारण व्यक्तियों में आत्मबल की कमी है, इसलिये क़ानून के ऊपरी दबाव की उन्हें आवश्यकता पड़ती है।

1929

CIVICS—First Paper.

[*N.B.* – Attempt any *five* questions.]

1. What is the justification for teaching Civics at Colleges ?

2. What are the chief functions which, in your opinion; every government should perform ?

3. " Life, liberty and the pursuit of happiness are the inalienable right of man." Comment.

4. It has been said that the doctrine of Equality is a monstrosity. What do you think ?

5. What principles should regulate the resolutions of the Executive and the Legislature ?

6. Explain the proposition of Professor McTaggart that " not society, but the individual is the end of social life."

7. Treitschke said that nothing can be above the State and there is no standard of justice to which it is obliged to conform. Criticise.

8. What do you know of the International Labour Office at Geneva.

9. What methods will you employ to awaken and maintain popular interest in municipal affairs ?

10. What should be the relations of the Judiciary with the Executive and the Legislature ?

1930

CIVICS—First Paper.

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions.]

1. Define Civics and briefly discuss its scope and methods.

2. Distinguish between " Society " and " State " and briefly discuss their mutual relations.

3. What are the chief forms of government and why is democratic government generally preferred ?

4. What are the various purposes of punishment ?

5. What are the duties that a citizen owes to the State ? To what extent can the State compel him to perform them ?

6. "Local Self-Government is a necessary step to National Self-Government." Discuss.

7. How far is the State justified in removing social evils like drink and early marriage by legislation ?

8. What part do political parties play in the work of the State and the education of the citizen ?

9. What is "Nationalism" and "Internationalism" ? Are the two necessarily incompatible ?

10. State the reasons for and against Woman franchise.

1931

CIVICS—First Paper.

Time—Three hours.

[N.*B.*—Attempt *any five* questions.]

1. Is social life possible without government ? What is the necessity and origin of government ?

2. Distinguish the province of Civics from that of Politics and Religion.

3. "Give the State as little as you can and get as much out of the State as you can." Explain and show how far you agree with this attitude of a citizen.

4. "Family is the eternal school of social life." Explain and discuss how social virtues are first developed in family life.

5. What part do villages and towns play in national life ? How are they organised for civic purposes ?

6. "Man's higher progress is a series of subordinations of a smaller self to a higher and wider

self." Explain and state the relation of one's duties to his family, to his locality, and to his nation.

7. What do you understand by Democracy? Discuss the merits and defects of a democratic government.

8. What are the various organs and divisions of government? Enumerate the main functions which each of them performs.

9. What do you understand by the term rights of man? How are they recognised and made secure to a citizen?

10. "Men are born for the sake of one another. Either teach them or bear with them." Explain and discuss the place of society and education in human life.

1932

CIVICS—First Paper.

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions. All questions carry equal marks.]

1. 'State is the first essential condition of civilised life.' Explain.

2. What do you understand by the terms 'equality' and 'liberty'?

3. How do you define citizenship? What are the obligations of the citizen towards the State?

4. Describe the different theories of the origin of society, and criticize them.

5. What is the end of the State? By what means does the State realise the end.

6. Give a brief description of the different types of constitutions, explaining the grounds on which they are classified.

7. Give a definition of 'rights', and state what rights should, in your opinion, be guaranteed by the State.

8. On what grounds is the right of the State to punish based ?

9. What is the difference between the relation of a citizen with his religious community and with his State ?

10. Can you distinguish between good and bad laws ? If so, what is the basis of distinction ?

11. What is the meaning of 'adult franchise'? State the grounds for and against its adoption in any country.

1933

CIVICS—FIRST PAPER.

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions. All questions carry equal marks.]

1. Distinguish between Society, State and Government.

2. Why do men obey the State ? Are there any circumstances in which men have a right to disobey ?

3. What is the origin of Property ? On what grounds should individuals be allowed to hold property ?

4. What do you understand by the term 'Responsible Self-government'? What are the necessary conditions for the establishment of such a government in any country ?

5. Clearly distinguish between a Federal and a Unitary Constitution.

6. Do you consider it the necessary duty of a State to make primary education free and compulsory and to make provision for health and sanitation ? If so, what are your reasons ?

7. What do you understand by the term 'Nationalism'? What are its salient features ?

8. What functions and powers should be assigned to Municipal and District Boards, and why ?

9. Describe the different systems of electing representatives for a legislature, and discuss their merits and defects.

10. What are Natural Laws? How are they related to Civil Laws?

1934

CIVICS--FIRST PAPER.

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions. All questions carry equal marks.]

1. What is the subject-matter of the science of Civics? How is Civics related to History, Ethics, Economics, and Psychology?

2. What are the principal functions of the State? Is it the duty of the State to make men moral?

3. Describe the conditions which are necessary for the establishment of a democratic form of government. What are the defects of democracy? Illustrate your answer with reference to modern constitutions which you know.

4. Has a citizen the right to refuse to fight when called upon by his State? Under what circumstances is it his duty to resist the commands of the State?

5. Describe the different types of the executive in federal and unitary forms of government.

6. On what grounds do you justify the existence of second chambers?. Do these considerations apply in the case of Indian provinces?

7. What do you understand by the terms 'liberty' and 'equality'? Discuss the different meanings which have been given to them.

8. Describe the constitution, powers, and functions of the District Boards in the United Provinces.

9. On what principles are the powers and func tions of government distributed between the Central government, the Provincial governments, and local bodies?

10. How far, and in what way, can the State promote industry, commerce, and the material welfare of the people ?

1935

CIVICS—First Paper.

Time—Three hours.

[*N. B.*—Attempt *any five* questions.]

1. Describe the different theories of the origin of 'Society' and 'State', and explain which of these is the most satisfactory.

2. What are the types of social organization ? How does the State differ from them ?

3. Describe the important forms of government found at the present time, and discuss their merits and defects.

4. Explain the terms 'right' and 'duty'. What are natural rights ?

5. How far is it the duty of the State to remove poverty, disease, and ignorance, and to promote religion and morals ? On what principles are the duties of the State fixed ?

6. On what lines are Political Parties organized in countries of the West ? Are Indian Parties divided on similar principles ? What are the advantages of the Party system ?

7. What do you understand by the term Sovereignty ? What are the characteristics of sovereignty ?

8. Describe the functions of the Judiciary, the methods of its appointment, and its organization.

9. How do you differentiate between the functions of the Central Government and the Local Government ? On what grounds do you justify the existence of local self-government ?

10. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) The League of Nations, (*b*) Socialism, (*c*) Dominion Status, (*d*) Public Opinion, (*e*) Democracy.

1936

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions.]

1. Distinguish between society, State, and government.

2. Explain the proposition that man is a social animal.

3. ' It is the right of the individual to be free.'
' It is the duty of the individual to obey.'
Is there any conflict between these propositions ?

4. Define the term ' Political rights '. On what grounds are these rights justified ? What do you think are the principal political rights ?

5. Explain the principles underlying Party organization, and describe the character and functions of parties.

6. What do you understand by the term ' constitution ' ? On what principles is the classification of modern constitutions based ?

7. What part does Public Opinion play in a modern State ? How is Public Opinion formed and expressed ? Explain the conditions which obstruct the formation and expression of genuine public opinion.

8. Define ' Law '. What are the sources of law and its kinds ?

9. Write notes on *any four* of the following :—
(*a*) Dictatorship, (*b*) Bureaucracy, (*c*) Confederation, (*d*) Co-operative Societies, (*e*) Adult Franchise, (*f*) Oligarchy, (*g*) Functional Associations, (*h*) Equality of Opportunities.

10. Discuss the proposition that the family is the greatest of educational institutions.

1937

CIVICS—FIRST PAPER.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions.]

1. Explain the relationship between Civics and History. What is the scope of Civics ?

2. Why is it necessary for man to move in associations ? How do you distinguish between the functions of a social club, an athletic association, and a State ?

3. Discuss briefly the more important theories regarding the origin of the State.

4. 'It is only in a world of duties that rights have significance.' Discuss and illustrate.

5. Distinguish between good and bad laws. What means should a citizen adopt to get bad laws modified ?

6. What are the main functions of a modern State ? What kind of a State can perform them most efficiently ?

7. What is meant by division or separation of Powers ? Is it necessary to have an independent judiciary in a civilized State ?

8. Discuss the importance of Local Self-government in the modern State, with special reference to India.

9. What are the aims and objects of the League of Nations ? Give some account of its social and humanitarian activities.

10. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) Democracy, (*b*) Federation, (*c*) Public Opinion, (*d*) Second Chambers, (*e*) Representative Government, and (*f*) Two party system.

11. Write a short essay on the merits and drawbacks of Democracy.

1938

CIVICS—FIRST PAPER.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

Attempt *any five* questions; All questions are of equal value.

1. Explain the following terms, making clear the distinctions between them:—
Association; institution; community; family; society; nation.

2. What are the essential elements of a Sovereign State? Do you consider the following to be Sovereign States? Give reasons for your answer:—
Jews; India; Kashmir; New Zealand; Municipal Board; League of Nations; Spain.

3. Describe the hindrances to good citizenship, and show how they may be removed.

4. What do you understand by the term 'equality'? Is it desirable to establish equality of all men in society? In what sense is it possible to secure equality?

5. What ought to be the aim of education? How far does the present system of education fail to attain that sum?

6. Explain the principles according to which you will determine the functions of the State. Can the State enforce temperance, truth telling, sanitation, and literacy?

7. What are the conditions necessary for the success of democracy? Are these conditions present in India to-day?

8. Give an account of the different forms of government which are to be found in the world to-day.

9. Write brief notes on *any four* of the following:—
(*a*) Municipal trading; (*b*) The economic minimum; (*c*) The bicameral system; (*d*) Vocational

associations ; (*e*) Individualism ; (*f*) Plebiscite ; (*g*) Sovereignty.

1939

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

Answer *any five* questions ; All questions are of equal value.

1. What is the importance of the study of Civics in modern social life ? Explain the relationship and difference between Civics, Politics, and Economics.

2. What are the main types of associations in which a modern community organizes itself ? Explain the terms Nation, State, Church, and Trade Union.

3. Discuss the origin and importance of Government.

4. Discuss the merits and demerits of democracy.

5. State the views of the individualist and socialist schools relating to the functions of Government.

6. How are the conflicting demands of law and liberty reconciled in a modern community ?

7. 'Citizenship means the right ordering of loyalties.' Explain, and show as to how you would adjust your loyalties to family, town, community, and country.

8. On what grounds is the separation of the judiciary from the executive advocated ? State its importance from the point of view of civic liberty.

9. Write short notes on *any four* of the following :—

(*a*) Rights of man.
(*b*) Universal suffrage.
(*c*) Proportional representation.
(*d*) Constitutional government.
(*e*) Dictatorship.
(*f*) Federal and Unitary governments.
(*g*) Bureaucracy and autocracy.

10. Critically discuss the aims and objects of the League of Nations.

1940

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory,)

Time--Three hours.

Answer *Any five* questions ; All questions are of equal value.

1. 'Man is, by nature and necessity, a social animal.' Explain clearly, giving illustrations.
2. Distinguish clearly between Society, State and Government.
3. 'Rights and duties are co-related to each others.' Discuss.
4. What are the most important theories of the origin of State ?
5. Describe the channels through which Public opinion expresses itself in a democratic State.
6. Discuss the chief features of a parliamentary form of the executive. Why are political parties necessary for its success ?
7. Write short notes on *any three* of the following :—

   (*a*) Sovereignty, (*b*) Citizenship, (*c*) Budget, (*d*) Franchise, (*e*) Second Chambers, (*f*) Nationalism.
8. Describe the social and humanitarian activities of the League of Nations.
9. 'The family is the most important of all associations.' Discuss.
10. Explain the proposition that law is the real basis of liberty.

1941

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[Answer *any five* questions ; All questions are of equal value.]

1. Define *Civics.* Explain clearly how Civics is related to Sociology, Ethics, and History.

2. ‘ Citizenship is a condition of life which guarantees to the citizen the enjoyment of all rights, civil as well as political, in the State ’. Discuss.

3. Define *liberty.* Comment on the statement ; ‘ Restraints are necessary for the enjoyment of liberty.’

4. What do you understand by the term ‘ Constitution ’ ? Explain clearly the distinction between rigid and flexible constitutions.

5. What is meant by ‘ *Separation of Powers* ’ ? What are its advantages ?

6. Describe the various functions which modern States have to perform. Which of these functions do you consider most important, and why ?

7. Write brief notes on *any three* of the following : (*a*) Dictatorship, (*b*) Adult Franchise, (*c*) Proportional Representation, (*d*) Referendum, and (*e*) Initiative.

8. Discuss the advantages and disadvantages of bicameral legislatures.

9. ‘A government to be a good one must voice the opinion of its subjects and the best means to achieve this goal is to encourage local self-government as much as possible’. Discuss.

10. ‘ Education on the widest scale is essential to the working of democratic government.’ Comment.

1942

CIVICS—FIRST PAPER.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[Answer *any five* questions. All questions are of equal value.]

1. 'The family is the cradle of social virtues.' Explain and discuss.

2. What are the various types of 'association'? How does the State differ from other associations?

3. Describe some of the more important rights and duties of a citizen in a modern State.

4. What do you understand by the term 'sovereignty'? Explain its chief characteristics.

5. What are the important organs through which modern Governments carry on their activities? What is the importance of an independent Judiciary?

6. Define 'Democracy' Discuss the part played by freedom of speech and freedom of the press in a democracy.

7. Define *Law*. What are the chief sources from which Law is derived?

8. Give an account of the social contract theory, and add a short criticism.

9. Write short notes on *any three* of the following :—

    (*a*) Socialism; (*b*) Federalism; (*c*) Public Opinion; (*d*) Female Suffrage; (*e*) Organic theory of State; and (*f*) Equality.

10. What is meant by Party Government? Explain its advantages and defects.

11. Discuss the Individualistic theory of State.

1943

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[Answer *any five* questions.]

1. Define *citizenship* Distinguish a citizen from a resident alien.

2. Mention the important rights which every citizen of a modern State should possess.

3. Discuss the important functions of the State.

4. Why is it the duty of the citizen to obey the State ? Under what circumstances, if any, has the citizen the right to resist the State ?

5. Can liberty exist without law ? What do you understand by the phrases—Liberty of Speech and Liberty of the Press.

6. 'The basic principle of a democratic form of government is that similar opportunities of self-development, in all spheres of life, are to be made available to every citizen.' Discuss.

7. What do you understand by the term 'Franchise' ? Discuss the question of Universal Suffrage, with special reference to India.

8. 'An alert and intelligent Public Opinion is the first essential of democracy.' Discuss.

9. Estimate the value of local self-governing bodies in the administration of a democratic State. What are the functions which, in your opinion, should be assigned to them ?

10. Describe the main features of a federal government. Point out its advantages and disadvantages.

11. Write short notes of *any three* of the following :—

(*a*) Family ; (*b*) Government ; (*c*) Communism ; (*d*) Party system ; (*e*) Nationalism ; (*f*) Flexible constitutions.

THE END

सहायक ग्रंथ

पुस्तक लिखने में निम्नलिखित ग्रंथों से सहायता ली गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों का भी आश्रय लेना पड़ा है, जिनका ज़िक्र पुस्तक में स्थान स्थान पर किया गया है।

1—Dr. Beni Prasad—A. B. C. of Civics.

2—S. V. Puntambeker—An Introduction to Civics and Politics.

3—Dr. Ram and Sharma—Elements of Civics.

4—M. K. Sen —Elements of Civics.

5—Raleigh—Elementary Politics.

6—V. S. Shastri—Kamala Lectures.

7—E. M. Whyte—The foundations of Civics.

8—Leacock—Elements of Political Science.

9—R. N. Gilchrist—Principles of Political Science.

10—Garner—Introduction to Political Science.

11—Gettel—Introduction to Political Science.

12—Ilyas Ahmad—The First Principles of Politics.

13—R. N. Tagore—Nationalism.

14—J. S. Mill—Liberty.

15—J. Spargo—Elements of Socialism.

16—भगवान दास केला—नागरिक शास्त्र

17—श्री सम्पूर्णानन्द जी—समाजवाद

18—भगवान दास केला—राजस्व

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad.